७/२।

८/२९

35



ॐ

साधन-समर
वा
देवी माहात्म्य

द्वितीय खण्ड

विष्णुग्रन्थि-भेद

श्री श्री ब्रह्मर्षि सत्यदेवजी महाराजकृत

मूल्य ४) चार रुपया

ब्रह्मर्षि श्री श्री सत्यदेवजी प्रणीत

साधन समर व देवी माहात्म्य

द्वितीय खण्ड

महिषासुर वध-विष्णु ग्रन्थि भेद



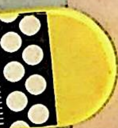
भूल संशोधन।

पुस्तक में पृष्ठ १४ के स्थान पर १५ और १५ के स्थान पर १४ तथा पृष्ठ ६२ के स्थान पर ६३ और पृष्ठ ६३ के स्थान पर ६२ छप गया है। पाठक पृष्ठ संख्या के क्रम से ही पढ़ें कारण पृष्ठ संख्या ठीक हैं केवल स्थान परिवर्तन होगया है।



प्रकाशक
साधन समर आश्रम
लिलुआ, जिला हवड़ा।

प्रथम बार ११००] [मूल्य ४) रुपया



ब्रह्मर्षि श्री श्री सत्यदेवजी प्रणीत

साधन समर व देवी माहात्म्य

द्वितीय खण्ड

महिषासुर वध- विष्णु ग्रन्थि भेद



अनुवादक

श्री शिवनारायण शर्म्मा

हैडमास्टर श्री विद्याधर्म्म-वर्द्धिनी पाठशाला,

गुड़की मण्डी, आगरा।



प्रकाशक

साधन समर आश्रम

लिलुआ, जिला हवड़ा।

प्रथम वार ११००]　　　　[मूल्य ४) रुपया

ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिम्,
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादि लक्ष्यम्।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्व्वधी-साक्षिभूतम्,
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि ॥

गुरो! बहुरूपधारी नारायण मूर्ति अपनी सेवा के लिये यह आयोजन आप ही का है अपनी सेवा से आप परितृप्त हों! एक बार यह जड़त्व का स्वांग परित्याग कर चैतन्य-प्राणमय स्वरूप में प्रकाशित हूजिये। जगत से जड़ता का भ्रम दूर हो जाय। सेवक की आशा पूर्ण हो।

यस्यस्मरणमात्रेण ज्ञानमुत्पद्यते स्वयं,
स एव सर्वसम्पत्तिः तस्मै श्री गुरवे नमः ॥१॥

सबके घट में हरि बसैं, पहिचाने कोई कोइ।
नाभिगन्ध जाने बिना, (मृग) ढूंढ़त व्याकुल होय ॥२॥

न मोक्षो नभसःपृष्ठे न पाताले न भूतले।
सर्वाशा संशयोचेतः क्षयो मोक्षः इति श्रुतेः ॥३॥

मातृ-स्नेह-उत्थान।

जानन्तु विश्वे अमृतस्य सत्त्वाः।

स्नेह की सन्तान! क्या सत्य को माङ्गलिक बुलाहट तुमने सुनी है? उनीदे (निद्रालस) नयन कुछ कुछ खुलने से दूर से आई हुई प्रकाश-रेखा देखने लगे हो? क्या अनेक जन्मजन्मान्तर की मोह निद्रा मा के स्नेह-शीतल कर स्पर्श से दूर होने लगी है! जाग तो गये हो परन्तु उठ नहीं सके हो? क्या निद्रा की जड़ता अभी दूर नहीं हुई? अच्छा—वत्स! उस निद्रा और जागरण के सन्धि-स्थान में बैठ कर कान लगा कर निरन्तर मा की बुलाहट सुनते रहो। (इसको अनाहत श्रवण कहा जाता है) आकर्षणमय वह बुलाहट अवश्य ही तुमको उठावेगी—बुलाहट के लक्ष्य तक ले पहुंचेगी। तुम्हारी अनादि काल की जड़ता दूर हो जायगी। केवल कुछ व्याकुलता से कानों के द्वार खुले रक्खो। जिनने तुमको जगाया है वही तुम्हें उठने की शक्ति देंगी, वे ही तुम्हारे प्राण में आकुलता पैदा करेंगी। उस आकुलता के प्रबल आकर्षण से तुम्हें विषय रूप तट त्याग कर अपनी मा की ओर जाना ही पड़ेगा।

अरे! अपनी इच्छा से कल्पित मोह-मदिरा से मतवाले पुत्रो! तुम जड़त्व के संस्पर्श से जिस सुख का आभास मात्र भोग कर मुग्ध हो रहे हो, मा की गोद में बैठ कर मातृलीला दर्शन से इसकी अपेक्षा करोड़ों गुने अधिक भूमा सुख की अनुभूति पाओगे, अमृतमय मातृ-स्नेहधारा अभिषिक्त होगे। मा के आदर में विभोर होगे।

इसी से बार बार बुलाती हूँ,—आओ सन्तान ! आओ अमृत के पुत्रगण ! यदि जाग गये हो, यदि जगत् को सत्य की मूर्ति समझ लिया है, यदि जगत् को चिन्मय रूप में आदर करना सीखा है, यदि सब भूतों में भगवत् सत्ता दर्शन करने का अभ्यास हुआ है, तो आओ, उठ खड़े हो ! मेरी ओर टकटकी लगा कर देखो—अगणित ज्योतिष्क-मण्डल (सूरज, चाँद, तारे आदि) सदा मेरी ही आरती करते हैं। अगणित विश्व मेरे ही अङ्क में युग-युगान्तर से शोभा पा रहे हैं। अगणित जीव किसी अनादि काल से मेरी पूजा की अर्घ्य सामग्री शिर पर धारण किये चल रहे हैं। देखो—इस ब्रह्माण्ड-यज्ञागार में हरएक परमाणु मेरे ही उद्देश्य से प्राणाहुति अर्पण करता है। उद्देश्य है—आत्म-निवेदन। उद्देश्य है सिर्फ एक बार मुझे देखकर मुझमय "आत्ममय" हो जाना।

अरे बिन्दु बिन्दु मेरे प्राण ! अब कब तक विच्छिन्न भाव से रह कर सुख दुःख जन्म मृत्यु के घात-प्रति-घात से क्षत-विक्षत होते रहोगे। आओ, दौड़ कर महाप्राण सागर की ओर आओ। डरो मत, अपने को खोओगे नहीं; बल्कि अपने को ही पाओगे। इस समय जितना कुछ पाकर मुग्ध हो रहे हो वह दुःख मिला हुआ अति तुच्छ सुख है। उसमें इच्छायें मारी जाती हैं। अनिच्छित अभिलाषायें आ खड़ी होती हैं। जन्म-मृत्यु की ताड़ना, रोग शोक का अत्याचार है और यहाँ—कुछ न होने पर भी सब कुछ है। पूर्ण आनन्द, केवल अमृत, केवल स्नेह—अखण्ड मातृ-करुणा की धारा, और है अव्यय अचल जीवन महासत्य।

पुत्रो ! तुम सत्य पर प्रतिष्ठित हुए हो; अब चैतन्य (प्राण) पर प्रतिष्ठित होओ। तुम्हारे शिर पर श्रीगुरु के मङ्गलमय आशीर्वाद की वर्षा हो।

इस चरित्र में प्राणप्रतिष्ठा का विस्तार है।

प्राणप्रतिष्ठा का अर्थ है प्राण स्थिति प्राप्त करना, सर्वत्र प्राणमय की लीला दर्शन करते करते प्राणशक्ति अनुभूति में स्थित रहना। प्राण परब्रह्म है। यह परमात्मा की ऐसी शक्ति है जिससे संसार की उत्पत्ति, स्थिति और लय होता है। जीव जगत् उसी महाप्राण की घनीभूत मूर्ति है। हमारा व्यष्टि-प्राण उसी समष्टिरूप-महाप्राण का अंश व उस प्राणसागर की एक लहर है। वही प्राण हमारे एक बूंद रक्त में रह कर हमारे शरीर को ऐसा दृढ़ और सब काम के योग्य बना कर इसके भीतर बैठ कर सारे काम कर रहे हैं। हमारे इस शरीर की परिस्थिति और मन की सारी वृत्तियां उस प्राण का ही खेल हैं। संसार के सब कामों में हम उस प्राण की शक्ति की लीला देख कर अहंकार से मुक्त हो कर सर्वत्र परमात्मा की लीला का दर्शन करने की सामर्थ्य पावेंगे। तब हमारे मुख से हम करते हैं, हम खाते हैं, इत्यादि शब्द नहीं निकलेंगे, हमें कहना पड़ेगा कि हमारा परमात्मा हमारे भीतर बैठ कर यह सब काम कर रहा है, यह दृढ़ हो जाता है।

मध्यम चरित।

ऋषिच्छन्दः-उपोद्घात।

मध्यम चरितस्य विष्णुर्ऋषिर्महालक्ष्मीदेवता उष्णिक्छन्दः शाकम्भरीशक्तिः दुर्गाबीजं वायुस्तत्त्वं यजुर्वेदस्वरूपं महालक्ष्मी प्रीत्यर्थं जपे विनियोगः।

मध्यम चरित—महिषासुर बध है। इसके ऋषि विष्णु हैं। जो समष्टि प्राण इस विराट् ब्रह्माण्ड को धारण किये हैं, वही विष्णु हैं। रजोगुण का बहिर्मुख विक्षेप रूप महिषासुर, इस महाप्राण के अङ्ग में ही विलय होता है। इसलिये विष्णु ही इस मध्यम चरित का द्रष्टा व ऋषि है। महालक्ष्मी देवता हैं। लक्ष्मी प्राणशक्ति का ही दूसरा नाम है। जब तक देह में प्राणशक्ति विराजती है। तब तक ही हमारे नाम के पूर्व लक्ष्मी का पर्याय श्री शब्द प्रयुक्त होता है। व्यष्टि प्राण शक्ति का नाम लक्ष्मी है और समष्टि प्राणशक्ति को महालक्ष्मी कहते हैं। यही पराप्रकृति की रजोगुणात्मिक महतीशक्ति है। यही रजोगुण की आत्मभिमुखी क्रियाशीलता है। विषयासक्ति रूप विक्षेप इसके द्वारा निहत होता है। इस कारण महालक्ष्मी ही इस मध्यम चरित का देवता है।

उष्णिक् इसका छन्द है। इस चरित में प्रविष्ट साधक का प्राणप्रवाह व प्राणायाम उष्णिक् नामक वैदिक छन्द के अनुरूप स्पन्दनयुक्त होता है। शाकम्भरी शक्ति है। शाकम्भरी शक्ति का रहस्य तृतीय खण्ड में विशेष भाव से व्याख्यात होगा। दुर्गा

बीज है। दुर्ग शब्द के उत्तर हननार्थक आ धातु से दुर्गा शब्द बना है, जो सब दुर्गति हरण करें वे ही दुर्गा हैं. महिषासुर निहत होने से ही मानव की दुर्गति का अन्त हो जाता है। दुर्गति हरण ही इस मध्यम चरित का बीज व मूल कारण है।

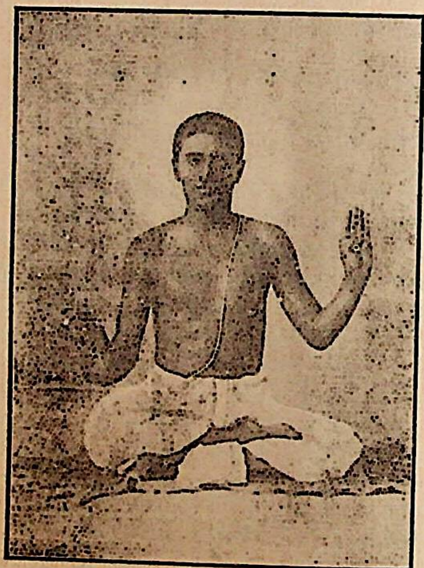
वायु तत्त्व। प्राण शक्ति जब स्थूल तत्त्व रूप से प्रकट होती है तब वायु रूप में ही इसका प्रकाश होता है। श्वास प्रश्वास ही प्राण का बाहिरी लक्षण है। इसीसे वायु इसका तत्त्व है।

यजुर्वेद स्वरूप वायु के वेदन वा अनुभूति से ही यजुर्वेद रूप आजानिक शब्द समूह प्रादुर्भूत होते है। इसी से वायु-देवता के मन्त्र से ही यजुर्वेद का प्रथम आरम्भ है। महालक्ष्मी की प्रीति अर्थात् महा प्राणमयी मा के प्रति महती प्रीति पाने के विचार से ही इसका विनियोग होता है।

पहले निश्चय करो कि मैं क्या चाहता हूँ। फिर सिद्ध गुरू के उपदेश, कृपा और सहायता से उसका रास्ता मालूम करो। फिर उस मार्ग से साधन करो। इससे तुम्हारा उद्देश्य सिद्ध होगा या देवता का दर्शन। ऋषि हैं तत्त्वदर्शी गुरू, छन्द है, साधन प्रणाली, देवता है अपूर्व सुप्त आराध्य शक्ति। विनियोग है उसी शक्ति के साधन के प्रताप से जाग्रत कर के निर्दिष्ट काम में लगा कर पूर्ण सिद्धि—उद्देश्य की सफलता प्राप्त करना।

(पूजा)

आनंदमानंद कर प्रसन्नं ज्ञान स्वरूपं निजबोधयुक्तं ।
योगीन्द्रमीड्यं भवरोग वैद्यं श्रीमद्गुरुं नित्यमहं भजामि ॥



ब्रह्मर्षि श्री सत्यदेवजी

शब्दे स्पर्शं न च रूपगन्धे रसे न भातोऽह विचित्र मूर्त्तेः ।
अहं त्वमेको ममसाध्य रूपः परात्मरूपाय नमोनमस्ते ॥



ব্রহ্মর্ষি ঠাকুর শ্রীশ্রীসত্যদেব

॥ श्रीः ॥

साधन–समर

व

देवी–माहात्म्य ।

द्वितीय खण्ड

विष्णु ग्रन्थि भेद–महिषासुर बध ।

ऋषिरुवाच ।

देवासुरमभूद्युद्धं पूर्णमब्दशतं पुरा ।
महिषेऽसुराणामधिपे देवानाञ्च पुरन्दरे ॥१॥

अनुवाद—ऋषि बोले—"प्राचीन काल में जब महिषासुर असुरों के और पुरन्दर देवों के अधिपति थे, तब पूर्ण सौ १०० वर्ष तक देवासुर-संग्राम संघटित हुआ था ।

व्याख्या—मधुकैटभ निहत हुआ—आगामि कर्म के बीज ध्वंस हो गये । साधक अब फिर नित नई आशा आकाँक्षा मन में रख कर कर्म्म में प्रवृत्त न हों । कर्मक्षेत्र(देह) में अवस्थान करने से बाध्य होकर कर्म किया तो जाता है, परन्तु जहाँ तक हो सके आसक्ति रहित होकर उपस्थित कर्म्म पूरे करने की चेष्टा करते हैं । कर्म्म की सफलता में विशेष उल्लास नहीं, निष्फलता में भी किसी तरह का हा हताश नहीं । साधक को ऐसी अवस्था की इच्छा करना भी बड़े सौभाग्य की बात अवश्य है, किन्तु जो मा की गोद में नित्य अवस्थान (जीव भाव की सम्पूर्ण विलय करने) की आशा में, समाधि के सहाय सुरथरूपी जीवात्मा

विज्ञानमय गुरु मेधस के कृपा प्रपासी हुए थे, उनकी वह आशा अभी पूर्ण नहीं हुई, क्योंकि प्रज्ञा-चक्षु जितना ही खुलता जाता है, अज्ञान अन्धकार धीरे-धीरे जितना ही दूर होता जाता है, उतना ही साधक अपने अलक्षित दोषों को विशेषभाव से लक्ष्य करने में समर्थ होता है। जैसे अत्यन्त मैले कपड़े पर लगा हुआ कोई चिह्न (दाग़) लगा हो तो वह नहीं दिखाई देता; किन्तु वह वस्त्र जितना साफ़ होता जाता है, पहले के न दीखने वाले चिह्न उतने ही बिलकुल साफ़ नज़र आने लगते हैं। उसी तरह जब तक जीव अज्ञानान्ध रहता है, तब तक वह अपने दोषों को नहीं देख सकता। परन्तु जब श्रीगुरु कृपा से ज्ञान-चक्षु खुलता जाता है, तब वह अपने गुप्त दोषों को भी प्रकटरूप से देखने में समर्थ हो जाता है।

परमात्माभिमुखी—मातृ-अङ्क-प्रयासी जीव पहले समझता था कि—"स्त्री-पुत्रादि संसार-बन्धन ही परमात्मा को पाने में विघ्न मात्र हैं। गृहस्थाश्रम त्याग किये बिना और किसी तरह इस बन्धन से नहीं छूटा जा सकता।" किन्तु श्रीगुरु जब चक्षु से अङ्गुली लगा कर दिखा देते हैं कि स्त्री पुत्रादि गृहस्थ ही बन्धन नहीं है, असली बन्धन हैं अन्तर के संस्कार। संसार अन्तर में ही अवस्थित है। कितने ही एकान्त स्थान में पहाड़ की गुफा में जाकर क्यों न रहो, संसार किसी तरह नहीं छूटता। साधक जब मर्म, मर्म से अनुभव करके संसार की जड़ उखाड़ डालने की चेष्टा करता है, तब जगतमय सत्य-प्रतिष्ठा के फल से गुरु कृपा से सोती हुई प्राणशक्ति जाग्रत् होकर, आगामि कर्मों के बीजरूपी मधुकैटभ का वध करती है। संसार महा-महीरुह की एक जड़ उखड़ जाती है। किन्तु अभी और दो जड़ें बड़ी गहरी गढ़ी रहने से वह सहसा नहीं उखड़तीं।

साधक! तुम मा-मा कहते हुए जितना ही आकुल

प्राण से मा की गोद में बैठने के लिये आगे चढ़ना चाहते हो चतुरा, छलनामयी मा उतनी ही धीरे-धीरे दूर हटती जाती है। किसी तरह उसमें विभोर नहीं हुआ जाता, किसी तरह उसमें सब प्राण महाप्राणमयी मा के चरणों में अर्पण कर बहुत्त्व के (चञ्चलता) के हाथ से चिर-विश्राम नहीं प्राप्त किया जाता और मा भी अपने स्नेहमय आलिङ्गन से सन्तान को सदा गोद में नहीं लिये रहती। कभी गोद में उठा लेती है और फिर छोड़ देती है। मा अपने पूर्ण आकर्पणमय प्रज्ञा-चक्षु से जीव के चक्षु सदा नहीं मिलाये रहती। क्यों ऐसा होता है ? दुर्जय असुर मधुकैटभ मारा गया है, नयी-नयी आशाओं की जड़ उखड़ गई है तथापि क्यों हम मातृ-वक्ष पर सदा विश्राम नहीं कर सकते ? ऐसे भाव के द्वारा साधक जब पीड़ित होता है और इसका कारण उसकी समझ में आता नहीं, तब वह श्रीगुरु के चरणों की शरण लेता है, "शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'!, तब विज्ञानमय-गुरु साधक के सामने जो चित्र उद्घाटित करते हैं वही महिपासुर वध वा विष्णु-ग्रन्थिभेद नाम से व्याख्यात होगा।

· मधुकैटभ वध के अन्त में महर्षि मेधस ने कहा था, "भूयः शृणु वदामि ते" वे जानते थे कि यहां तक जो कहा गया, मधु कैटभ–वध में देवी का जो महत्व दिखाया है उससे सुरथ की आशा पूरी तरह न मिटेगी, जीवत्व का बिन्दुमात्र शेप रहने पर भी आशा पूरी तरह नहीं मिटती, जीव जब तक पूर्ण भाव से ब्रह्मत्व पर नहीं पहुंच सकता, जब तक जीव और ब्रह्म की अभिन्नता पूर्णरूप से अनुभव नहीं कर सकता, तब तक इस आशा की निवृत्ति नहीं होती। यह विचार कर ही शिष्य को जिज्ञासा का अवसर न देकर अन्तर्यामी विज्ञानमय गुरु आगे कहते जाते हैं। इसी से अध्याय के प्रथम ही "ऋपिरुवाच" उल्लिखित हुआ

है। ऋषि बोले—हे वत्स सुरथ ! तुम्हारे भविष्यत कर्म बीज नष्ट होने पर भी सञ्चित कर्म्म अभी मौजूद हैं। वे जो बहुत्व विषयक फल उत्पन्न करेंगे, उसका कोई प्रतीकार अब तक नहीं किया गया है। तुम चाहे नवीन कुछ न चाहो, नित-नित नयी विषयाकांक्षायें न करो, चाहे अभिनव आशा की मोहिनी मूर्ति तुम्हें अभिभूत न करे; किन्तु तुम जो बहुत्त्व पहले चाहना कर चुके हो, बहुत दिन अनेक जन्म-जन्मान्तर से जो अगणित आशा आकाङ्क्षा पोषण कर आये हो, वे जो पुञ्जीभूत बहुत्त्व के संस्कार रूप से अचल प्रतिष्ठ होकर, तुम्हारे चित्त-क्षेत्र में बैठी हुई हैं। विचार देखो—तुम्हारी सञ्चित संस्कार-राशि अब भी अखण्ड भाव से अपना अधिकार बढ़ा रही हैं। उन्हें विध्वंस किये बिना तुम्हारे निरवच्छिन्न भूमा सुख की आशा नहीं है। किन्तु भय नहीं, वत्स ! मुझ तुम्हारी मा ने, गुरु रूप से अपना प्रकाश किया है; अब स्वयं खड्ग-हस्त से समराङ्गण में अवतीर्ण होकर तुम्हारे सब संस्कार विलय कर दूंगी। तुम केवल मेरी गोद में बैठे-बैठे एकाग्र-हृदय से मेरी कर्म्म-शृङ्खला—मेरी अपूर्व लीला देखते जाओ। मुग्ध सन्तान ! भीत सन्त्रस्त पुत्र ! जब तुमने मा कह कर पुकारा है, जब मुझको ही एकान्त-आश्रय रूप समझा है, मेरे महाप्राण में अपने प्राण मिला लेने के लिये व्याकुल भाव से चाह रहे हो, तब फिर भय नहीं। मैं तुम्हारे सब बन्धन काट कर, सदा के लिये अपने अङ्ग में मिला लूंगी। तुम धन्य होगे।

जीव ! इसे तुम केवल भाव का ही उच्छ्वास—भाषा की झङ्कार मात्रही न समझना। सचमुच तुम केवल एक बार सरल प्राण से पुकारो, सचमुच तुम मुझे अपना एकान्त आश्रय रूप मर्म मर्म से अनुभव करो, तो फिर तुम को कुछ भी नहीं करना होगा। मैं तुम्हारी सब साधना सब विशुद्धि ठीक-ठीक कर

लूंगी। तुम सुख-दुःख में निर्विकार आनन्दमय नग्न शिशु की तरह मेरी स्नेहमय गोद में बैठे-ही-बैठे, द्रष्टा वा साक्षी मात्र-स्वरूप में अवस्थान करोगे। तुम्हारे आधार की कल्पित अपवित्रता में ही पवित्र कर दूंगी। तुम्हारा जन्म-जीवन पुण्यमय होगा।

इस मध्यम चरित्र में पूर्व कहे हुए सञ्चित कर्म्म-संस्कार समूह ही असुर रूप से वर्णित होंगे। जीव अनेक जन्मों में अनेक प्रकार वैध कर्म्मादि के अनुष्ठान से, अथवा योग तपस्यादि की सहायता से, अथवा ज्ञान भक्ति के अनुशीलन से परमात्म-विपयक संस्कार-समूह सञ्चय करते हैं। वे ही देवता, अर्थात्—मन, बुद्धि, इन्द्रियों की जो परमात्माभिमुखी गति व मिलन का प्रयास है, उन्हीं को देव-शक्ति कहते हैं। और उक्त मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि की जो विपयाभिमुखी लालसा है, वे ही सुर विरोधी अर्थात् असुर नाम से कहीं हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता के सोलहवें अध्याय में भगवान् ने जो देवासुर सम्पद् विभाग किया है, यहाँ संक्षेप से उनका आभास देना आवश्यक है। अभय, सत्त्व संशुद्धि, आत्मज्ञान के उपाय में एकान्त निष्ठा, दान, इन्द्रियसंयम, यज्ञ, वेदाध्ययन, तपस्या, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, निर्लोभ, मृदुता, लज्जा, धीरता, तेज, क्षमा, धृति, अद्रोह, निरभिमान ये सब देवताओं की सम्पद् अर्थात् देवशक्ति के कार्य्य व्याख्यात हुए हैं। और इनके विपरीत अर्थात् भय, अशुद्धि आदि एवं दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, निष्ठुरता और अज्ञान ये आसुर सम्पद् व असुर-शक्ति के कार्य्य रूप में वर्णित हुए हैं।

छान्दोग्य उपनिपद् में भी प्रथम प्रपाठक के द्वितीय खण्ड में कहा है, "देवासुरा हवै यत्र संयेतिरे"। भगवान शङ्कराचार्य्य

एषः रजोगुण समुद्भवः" काम और क्रोध रजोगुण से उद्भूत हैं। फिर अन्यत्र मानस पूजा विधान में भी कहा है—"क्रोधञ्च महिषं दद्यात्" अर्थात क्रोध को महिष रूप से कल्पना कर के देवी के उद्देश्य से बलिदान करे। यद्यपि यहां केवल क्रोध को ही महिष रूप से उल्लेख किया गया है, तथापि हम महिष शब्द से केवल क्रोध को न समझ कर, जिससे क्रोध की उत्पत्ति है उस रजोगुण को ही महिषासुर समझ लें। वास्तविक चण्डी के तीन रहस्य तीन गुणों का विश्लेषण मात्र हैं। प्रथम चरित्र में सत्वगुण के बाहिरी विकास रूपी दो संस्कार मधुकैटभ नाम से वर्णित हुए हैं। इस द्वितीय चरित्र में रजोगुण के बहिर्मुखी विकाश-जन्य जो सञ्चित बहुत्व-संस्कार हैं, वे ही असुर वृन्द रूप से वर्णित होंगे। "एक मैं अनेक भाव से प्रकाश होऊं" यह भाव दूर हुआ है; किन्तु जो बहुत्व हमने स्वीकार कर लिया है अर्थात् अनादि काल से जो बहुत्व विषयक संस्कार चित्त क्षेत्र में पोषण करते आये हैं, वे तो दूर नहीं हुए, वे ही इस मध्यम चरित्र में वर्णित असुर समूह हैं। रजोगुण से इनका विकास होता है, सब कामना, वासना और भगवद्गीता में कहे हुए दम्भ, दर्प, अभिमान आदि सब आसुरी सम्पद् इस रजोगुण के ही स्थूल विकासमात्र हैं। इसी से रजोगुणरूपी महिषासुर इनका अधिपति है।

फिर दूसरी ओर इस रजोगुण का अन्तर्मुखी विकाससमूह ही देवता है। पुरन्दर इनका अधिपति है। पुर का जो विदारण या ध्वंस करे उसको पुरन्दर कहते हैं। इस नव (९) द्वार वाले देहरूप पुर को विदीर्ण करके अर्थात देहात्म बोध विलय करके देह-त्रयातीत, अवस्था त्रयातीत, गुणत्रयातीत परमात्म सत्ता (मातृ अङ्क) में, बिलकुल मिल जाने का जो प्रयास है, उसी का नाम पुरन्दर है। यह देवगण का अधिपति है। समस्त देवशक्ति,

ने इसकी भाष्य व्याख्या में कहा है, "देवा दीव्यतेर्द्योतनार्थस्य शास्त्रोद्भासिता इन्द्रिय वृत्तयः, असुरास्तद्विपरीताः, संग्रामं कृत-वन्तः । शास्त्रीयप्रकाशवृत्त्यभिभवनाय प्रवृत्ताः स्वाभाविक्य-स्तमोरूपा इन्द्रियवृत्तयो ऽसुराः। तथा तद्विपरीताः शास्त्रार्थ विषय-विवेक ज्योतिरात्मानो देवाः स्वाभाविक तमो रूपासुराभिभवनाय प्रवृत्ताः इत्यन्योन्याभिभवोद्भवरूपः संग्राम इव सर्वप्राणिषु प्रति-देहं देवासुर संग्रामोऽनादिकाल प्रवृत्त इत्यभिप्रायः।"

इसका तात्पर्य्य—"जीवमात्र की ही देह में चिरकाल से देवासुर संग्राम चलता है। शास्त्रोद्भासित इन्द्रिय वृत्ति ही देवता हैं और उनके विपरीत अर्थात् विषयासक्त वृत्तियां असुर हैं। दोनों पक्ष ही एक दूसरे की विषय सम्पत्ति हरण के लिये तय्यार रह कर सदा संग्राम करते रहते हैं। प्राणियों के शरीर में दोनों तरह की वृत्तियां हैं। शास्त्रज्ञान से उत्पन्न परमात्म-विषयक इन्द्रियवृत्तियां और विषय भोग वासना रूप इन्द्रिय वृत्तियां। इन दोनों वृत्तियों का द्वेष्य द्वेषक भाव अनादि सिद्ध है।" इस तरह हम गीता उपनिषद् और जगद्गुरु शङ्कराचार्य्य के भाष्य से देवासुर और उनके परस्पर संग्राम-रहस्य जान कर देवी माहात्म्य में अवगाहन करेंगे। पक्षान्तर में यह भी विवेचना करनी चाहिये कि वेदादि सब शास्त्रों में यद्यपि देवासुर आदि का ऐसा आध्यात्मिक रहस्य ही व्याख्यात हुआ है, तथापि इस तरह दो श्रेणी के प्राणी एकत्र नहीं रह सकते, यह विचार करने का कोई कारण नहीं है, स्थूल सूक्ष्म कारण तीनों ही समान सत्य हैं। ये कथायें प्रथम खण्ड में विस्तारपूर्वक कही गई हैं।

जब महिष नाम का असुर असुरों का राजा, और पुरन्दर देवताओं का राजा अर्थात् इन्द्र था, तब ही यह देवासुर संग्राम संघटित हुआ था।

महिषासुर—रजोगुण, गीता में कहा है, "काम एषः क्रोध

अर्थात् अभय, सत्व, शुद्धि, दान, दम, तितिक्षा आदि इसी का अनुवर्तन करते हैं। सब देवभाव इस पुरन्दर के आज्ञापालक हैं।

यहां त्रिगुणतत्व सम्बन्ध में कुछ आलोचना करना आवश्यक है। मान लो कि विशुद्ध चैतन्य अर्थात् निर्विकल्प निरञ्जन परमात्म सत्ता में कुछ अनादि सिद्ध अज्ञान रहता है। उस अज्ञान का स्वरूप—"मैं अपने आपको नहीं जानता"। यह अज्ञान भी किन्तु ज्ञान के ऊपर ही विद्यमान है; क्योंकि "जानता नहीं" यह जो अज्ञान है, वह भी वस्तुतः कुछ ज्ञानमात्र है। इस ज्ञान और अज्ञान के अनादि-सिद्ध अपूर्व-मिलन को ही माया वा लीला वा पुरुष प्रकृति का संयोग कहा जाता है। ज्ञान ही जिनका स्वरूप है, वह यदि मन में कहें कि "मैं जानता नहीं" तो मन के उस विचार को लीला ही कहना होगा। नवयुवक पिता जैसे अपना ज्ञान-गौरव विस्मृत न होने पर भी शिशु पुत्र के साथ बालक की तरह खेल करके निर्म्मल आनन्द भोग करता है; यह भी ठीक वैसा ही है; अस्तु, परमात्मा-चिन्मयी मा "मुझ को जानते नहीं" ऐसा कह कर जानने के लिये एक बार स्पन्दित होती है, अर्थात् आत्म-स्वरूप जानने के लिये स्वेच्छा कल्पित कुछ फुरना होती है—कुछ चञ्चल भाव लक्षित होता है, इसी का नाम रजोगुण है। इस प्रथम स्फुरण के साथ-ही-साथ, उसके दोनों तरफ और भी दो स्पन्दन प्रकट होते हैं। एक प्रकाश और दूसरा स्थिति। प्रथम स्पन्दन से परमात्मा में जो विशिष्ट भाव प्रकाश पावे, उस विशिष्ट भाव से अपने को जानने का नाम प्रकाश वा सत्त्वगुण है और उस प्रकाशात्मक रजोगुण को जो स्पन्दन ठहरा सके उसका नाम स्थिति वा तमोगुण है। ये परस्पर संसर्गी हैं—एक के बिना दूसरा रह नहीं सकता, फिर एक दूसरे को पूर्ण रूप से दबा लेने का भी प्रयास करते रहते हैं। ये तीन गुण जैसे बहिर्मुखी स्पन्दन-धर्म वाले हैं, वैसे ही

अन्तर्मुखी हैं। पूर्व कह आये हैं कि ज्ञान अज्ञान सम्मिलित सत्ता के ऊपर ही ये तीनों प्रकार के स्पन्दन होते हैं अतएव इनका जैसा अज्ञान की ओर विकास है वैसा ही ज्ञान की ओर भी है। जो स्पन्दन अज्ञान अर्थात् "अपने को" न जानना विशेष भाव से समझा दें, उनका नाम असुर है; और जो स्पन्दन ज्ञान अर्थात् आत्म-सत्ता जाग्रत करने में सहायक हों, वे ही देवता हैं।

यह विषय नितान्त सहज नहीं है। जो दार्शनिक तत्त्व विचार में अभ्यस्त नहीं हैं, उनके लिये यह दुष्पाच्य (समझने में कठिन) हो सकता है। इसलिये संक्षेप में और सरल भाव से फिर पूर्व कहे विषय की आलोचना करते हैं। "अपने आपको मैं नहीं जानता" यह समझ कर जानने का जो उद्यम वा चेष्टा है, उसी का नाम रजोगुण है। उस चेष्टा के फल से जो कुछ कुछ जानना वा बोध करना है वही सत्त्वगुण है और उसमें बोध को पकड़ रखने का नाम तमोगुण है। यही योग-शास्त्रमें प्रख्या, प्रवृत्ति और स्थिति, अथवा शान्त, घोर और मूढ़ अवस्था है। गीतामें इसी को प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह नाम से कहा है। (१४।२२) अच्छी तरह धीर भाव से यह त्रिगुण का स्वरूप हृदयङ्गम किये विना देवासुर संग्राम समझने का और कोई उपाय नहीं है। फिर कहते हैं सत्त्वगुण—प्रकाश शीलभाव, रजोगुण—क्रियाशील भाव और तमोगुण—इन दोनों की धृति वा धारण शील भाव, ये सदा परिणामी—परिवर्तनशील हैं। जड़ जगत् इन तीन गुणों का परिणाम है। ब्रह्मा से जड़ परमाणु पर्यन्त सब ही इन तीन गुणों के परस्पर संयोग वियोग और सम्मिश्रण के सिवाय और कुछ नहीं हैं।

सुख दुःखादि भी त्रिगुणात्मक ही हैं। जहाँ अति अधिक चेष्टा—क्रियाशीलता से अति अल्प आत्म-बोध की फुरना हो

उसे लोक में दुःख कहते हैं। क्योंकि उस स्थान में क्रिया भाव अधिक है प्रकाशभाव कम है। जहाँ सत्त्वगुण की क्रिया अर्थात् प्रकाशभाव अधिक है, रजोगुण की क्रिया (चञ्चलता) कम है, वही सुख है। और जब तमोगुण की क्रिया प्रबल होती है, प्रकाशभाव बिलकुल नहीं रहता, सुख दुःख कुछ भी बोध नहीं रहता, उसका नाम मोह है।

सत्त्व गुण की चरम परिणति—अखण्ड प्रकाश. अर्थात् केवल आत्म-बोध का फुरना जिसे विशुद्ध आत्म-बोध कहते हैं। उस अवस्था में पहुंचने पर ही रजोगुण का भी चरम परिणाम होता है। इसी का नाम पर-वैराग्य अर्थात् "मैं कौन हूं" उसे जानने के लिये उद्यम करने का अभाव ऐसे तमोगुण की चरम परिणति निरोध अर्थात् फिर रजोगुण के जाग्रत होने का निरोध कर रखना है।

इस तरह तीन गुणों की दोनों दिशा पाई गईं। एक दिशा में सृष्टि, स्थिति, प्रलय—जीव जगत्, जन्म मृत्यु, सुख दुःख इत्यादि। और दूसरी ओर अखण्ड प्रकाश पर वैराग्य और निरोध। बात और भी सरल रूप में कहते हैं—एक तरफ भोग, दूसरी तरफ अपवर्ग या मुक्ति। तीन गुणों की भोगाभिमुखी गति का नाम असुर भाव और अपवर्गाभिमुखी गति का नाम देवभाव है। यह देवासुर संग्राम अनादि काल से प्रति जीव में संघटित होता है। जिस दिन इस संग्राम की समाप्ति होगी उसी दिन जीव तीन गुणों के पार चला जायगा; (गुणातीत हो जायगा) भोग या अपवर्ग, बन्धन अथवा मुक्ति यह दोनों भ्रम सदा के लिये दूर हो जायंगे।

इस मध्यम चरित्र में हमें जिन असुरों के नाम मिलेंगे, यहां उनका संक्षिप्त आभास दिये देते हैं। महिषासुर—असुरों का राजा, एवं चिक्षुर, चामर, उदग्र, कराल, उद्धत, बास्कल, ताम्र,

अन्धक, उग्रास्य, उग्रवीर्य्य, महाहनु, विडाल, दुर्द्धर, दुर्मुख, और असिलोमा इन सोलह असुरों के नाम पाये जायंगे। वे यथाक्रम से रजोगुण, विक्षेप, आवरण, दर्प, भय, दम्भ, भोगाभिलाष, लोभ, मोह, क्रोध, शारीरिक बल, अभिमान, दोषदृष्टि, अक्षमा, निष्ठुरता और द्वेष नाम से व्याख्यात होंगे। यथास्थान पर इन विषयों की विस्तृत आलोचना की जायगी।

अब हम असल प्रस्ताव की ओर चलते हैं। महिष और पुरन्दर की व्याख्या पहिले कर चुके हैं। जब एक तरफ महिष और दूसरी तरफ पुरन्दर, क्रम से असुर और देवों के अधिपति होकर एक दूसरे की शक्ति क्षय करने को तय्यार हुए हों; तब ही यह देवासुर संग्राम संघटित होता है। यद्यपि प्रत्येक जीव-देह में सदा यह समर-अभिनय चलता रहता है; एक ओर भोग की वासना दूसरी ओर अपवर्ग का आकर्षण, इन दोनों का आपसमें संघर्ष प्रति परिमाणु में प्रतिक्षण होता है; तथापि जीव जब तक मनुष्यत्व पर न पहुंचे, जब तक विज्ञानमय कोष में आत्मबोध संग्रह न कर सके, तब तक इसे प्रत्यक्ष (अनुभव) नहीं कर सकता। अनेक जन्म सञ्चित सुकर्मों के फल से, मा की असीम करुणा के बल से, श्रीगुरु की अहैतुक प्रेरणा से, जब साधक हृदय में यह संग्राम अनुभूत होने लगे, तब ही समझना चाहिये कि उसका जन्म धन्य हुआ, अब शीघ्र ही यह संग्राम समाप्त होगा। साधक! देखो, एक तरफ तुम्हारे सञ्चित-संस्कार आसुरी-शक्ति चला कर तुम्हें हराना चाहते हैं, तुम्हारी मा की गोद मिलने की प्राणाकुल पिपासा को दमित कर रखते हैं। समझ सकते हो—अभय, सत्त्वसंशुद्धि, ज्ञानयोग आदि देवशक्तियां जो तुम्हारे मातृ-अङ्क पाने में पूर्ण सहाय हैं, जो तुमको शान्ति के—अमृत के हिरण्मय मन्दिर पर पहुंचाने में अद्वितीय सहचर हैं, वे देवशक्तियां इस समय दम्भ, दर्प,

अभिमान आदि असुरों द्वारा निरन्तर लाञ्छित–पीड़ित हैं। देव करव्यथित हो, आर्त हो—शरणागत हो, और भूमि-तल पर लोटते हुए कातर स्वर से 'मा' को याद करो। महाशक्ति के समीप सजल-नयन से शक्ति भिक्षा मांगो। सरल प्राण से अपने को यथार्थ पीड़ित होना अनुभव करो। देखोगे— 'मा' स्वयं समराङ्गण में अवतीर्ण होकर, असुरकुल का विलय, देवकुल को आनन्द और तुमको मधुमय अव्यय मातृ-अङ्क में स्थान देकर धन्य करेंगी। आओ हम 'मा' कहते हुए सरल प्राण शिशु की तरह मा के चरणों में आत्मनिवेदन कर निश्चिन्त और निष्कर्मा हों।

अस्तु, यह देवासुर संग्राम पूरे सौ (१००) वर्ष हुआ था— "पूर्णमब्द शतम्"। मनुष्य की आयु का परिमाण सौ वर्ष— "शतं वे पुरुषाणामायुः" सत्ययुग में लाख वर्ष आयु होने की जो कहावत प्रचलित है, इसका तात्पर्य्य दूसरी तरह है। सब युगों में मनुष्य की साधारण आयु का परिमाण सौ वर्ष ही है। परन्तु योगादि शक्ति के प्रभाव से कोई उसकी मात्रा कुछ बढ़ा सकते हैं। हमारे ज्योतिष शास्त्र में जो अष्टोत्तरी और विंशोत्तरी मत से ग्रहों की दशा गिनने की रीति प्रचलित है, यह भी कुछ अधिक सौ वर्ष आयु के प्रमाणरूप से ग्रहण की गई है। इन दोनों मतों से मनुष्य की आयु का परिमाण १०८ और १२० वर्षमात्र पाया गया। अस्तु, देखते हैं कि सौ वर्ष बाद भी कई मनुष्य जीवित रहे हैं। इससे श्रुति की मर्यादा नष्ट नहीं होती। तात्कालिक मास वर्ष आदि गणना के साथ विवाद करने की कुछ आवश्यकता नहीं।

पूर्ण सौ वर्ष शब्द का तात्पर्य्य—एक पूर्ण मनुष्य जीवन अर्थात् पूर्ण एक जीवन तक यह देवासुर संग्राम अनुभूत होता है। 'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान मां प्रपद्यते।' (गीता ७। १६) अनेक जन्मों के बाद मनुष्य ज्ञानवान होता है। इसके बाद मुझको

अपने को 'मा को' जान सकता है। थोड़ा थोड़ा कर 'मा को' जानना आरम्भ करने पर तब इस समर का पता मिलता है। पूर्ण एक मनुष्य जन्मव्यापी देवासुर संग्राम अनुभव करने के लिये अनेक जन्म मृत्यु व्यतीत करने पड़ते हैं; क्योंकि साधारणतः हमारी वर्तमान आयु का परिमाण साठ वर्ष मात्र है। उसमें प्रायः तीस वर्ष आहार, निद्रा आदि प्रतिदिन के कार्यों में व्यतीत होते हैं। शेष तीस वर्ष बालकपन बुढ़ापा और रोग शोकादि अवस्था का समय बाद देने से जो शेष रहती है वह अति सामान्य मात्र है। वह समय भी द्रव्योपार्जन, विषय-चिन्तन आदि कार्यों में बीतता है अतएव एक जीवन में कितनी घड़ी हम देवासुर संग्राम अनुभव कर सकते हैं?

हमारा वर्तमान जीवन यथार्थ जीवन कहने योग्य नहीं है; क्योंकि जीवन कहने से गति शक्ति वाला जीवन ही समझा जाता है। मानलो कि एक रेलगाड़ी के इञ्जन में प्रतिदिन कोयला, जल और अग्नि के संयोग से भाप पैदा होती है; किन्तु रेलगाड़ी वहां से आगे नहीं चल सकी। इञ्जन जहां बनाया था वहां का वहीं खड़ा हुआ साठ वर्ष तक केवल कोयला जल और भाप खर्च करता रहा। क्या ठीक उसी तरह हमारा एक एक जीवन वृथा व्यय नहीं होता? प्रतिदिन हम खाते पीते देह को ठीक रखते हैं; उद्देश्य है आगे बढ़ना—देवासुर संग्राम अनुभव करना, उद्देश्य है असुर निधन कारिणी मा की चण्डमूर्ति दर्शन किन्तु क्या वह होता है? "यत्रैव जायते तत्रैव, म्रियते" इस तरह एक ही जीवन क्यों, सौ जीवन व्यतीत होने पर भी शायद पूर्ण एक मनुष्य जीवन व्यापी देवासुर संग्राम दर्शन न हो।

यदि कहो कि अपने हृदय-क्षेत्र में ऐसा युद्ध देखने की हमें आवश्यकता ही क्या है? अपनी इच्छा से नहर खोद कर नदी में से अपने घर में मगर बुलाने की कुछ जरूरत नहीं;

साध करके क्यों अशान्ति भोगते जायें ? यह साधन समर उन लोगों के लिये नहीं है, बल्कि जो सुरथ हुए हैं, जिन्होंने अङ्ग राज्य से अपने को विच्युत होना समझा है, केवल वे ही यह संग्राम देख कर परम आनन्द पाते हैं।

अस्तु, देवासुर संग्राम अनेक वर्ष तक होने से इस मन्त्र में बहु-काल के अर्थ में "शत शत वर्ष" शब्द का प्रयोग हुआ है, ऐसा अर्थ भी हो सकता है, और पूर्व-पूर्व जन्म से ही जो इस युद्ध का आरम्भ है, यह समझाने ही के लिये पुरा शब्द का प्रयोग हुआ है। साधक याद रक्खें कि आज जो चण्डी की आध्यात्मिक व्याख्या समझने व आलोचना करने योग्य धी-वृत्ति प्रकाशित हुई है वह दो एक जन्म की सुकृति का फल नहीं है। अनेक जन्म की सुकृति संग्रह करने पर, तब "मा की कृपा" नामक वस्तु अनुभव की जा सकती है; और उसी के फल से क्रम से ये तत्त्व हृदयङ्गम करने की योग्यता आती है। परन्तु एक बात है—यदि कोई अपने भीतर अहर्निश ऐसा देवासुर संग्राम अनुभव करता रहे तो अवश्य ही वह धन्य हुआ है, उसका जीवन पुण्यमय है, उसके दर्शन से सुकृति मिलती है। उसका आशीर्वाद अमोघ है, वह पृथ्वी का अलङ्कार है, उसकी देह के स्पर्श से वायुमण्डल शुद्ध होता है, उसके चरण-स्पर्श से वसुन्धरा पवित्र होती है। जीव ! क्या तुम अपने हृदय क्षेत्र में ऐसा युद्ध कभी देख पाते हो ? यदि नहीं देख सकते तो गुरु रूपी 'मा' के चरण जकड़ कर पकड़ो, मा ही तुम्हारा ज्ञान-चक्षु खोल देंगी; तब देख पाओगे कि तुम्हारा हृदय-क्षेत्र भीषण समर-क्षेत्र बन गया है ॥ १ ॥

तत्रासुरैर्महावीर्यैर्देवसैन्यं पराजितम् ।
जित्वा च सकलान्देवानिन्द्रोऽभून्महिषासुरः ॥२॥

अनुवाद—उस युद्ध में महावीर्य्य असुरों द्वारा देवों की सेना पराजित हुई और देवताओं को पराभूत कर महिषासुर इन्द्र हुआ था।

व्याख्या—असुरबल–अमितवीर्य है। अनेक जन्म से बहिर्मुख कर्म करने के अभ्यास से ऐसी एक अवस्था होगई है कि हमारा चित्त सदा रूप–रसादि विषयों का वृत्ति-प्रवाह लेकर रहने में ही अपना भला समझता है। किसी तरह अन्तर्मुखी–मातृमुखी नहीं होना चाहता। उस स्थिर चिन्मय उदार क्षेत्र में क्षणभर भी नहीं ठहरना चाहता। यही असुर के अपार बलवीर्य्य का लक्षण है। दूसरी ओर देवों की सेना की भगवन्मुखी वृत्तियां, ये अति दुर्बल हैं; क्योंकि बहुत अल्प दिन से उनका आविर्भाव हुआ है। सद्भाव-समूह अब भी पुष्ट नहीं हो सके हैं। इस दशा में प्रथमतः असुरों द्वारा देवशक्ति को निर्जित होना ही होगा।

मान लो कि एक ईस्पात का स्प्रिंग घुमा कर सङ्कोच भाव में कर दिया, तो भी स्वाभाविक स्थिति स्थापकता-शक्ति के प्रभाव से, वह हर घड़ी प्रसार की ओर ही वेग देता है। किन्तु एक बड़े पत्थर के नीचे यदि उसे दबा कर रक्खा जाय तो उस ईस्पात की जो स्वाभाविक प्रसारिणी शक्ति है, वह हर घड़ी गतियुक्त होकर भी निरुद्धवत् अवस्था में ही रहती है। असुरों द्वारा देवताओं का निग्रह भी कुछ ऐसा ही है।

साधक! अपनी चक्षु को तुमने 'रूपं देहि' कह कर जगन्मय जो मा की ही रूप राशि प्रकट हो रही है ऐसा देखने में लगाया प्राणपण से अपनी देखने की शक्ति को मा के रूप में निरुद्ध करने का प्रयास किया, किन्तु चक्षु जगत् का रूप लेकर तुम्हारे सम्मुख हुए। इसी तरह कानों को शब्दों के अन्तर्निहित नित्यनाद प्रणवध्वनि अथवा अपने उच्चारण किये किसी विशेष मन्त्रादि

के सुनने में लगाओ तो वे क्षणभर में जगत् के व्यर्थ शब्द लेकर तुम्हारे पास आते हैं। मन को एकाग्र कर सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा में मिला लेने को अग्रसर हुए, किन्तु क्षण भर में वह पूर्व स्वभाव को प्राप्त होकर अनेक प्रकार के वैषयिक संकल्प विकल्प करने लगा। इस तरह देवासुर संग्राम होने लगा। जो यथार्थ बड़भागी हैं जो अमृत के निकट पहुंच चुके हैं, केवल वे ही इस युद्ध को अनुभव कर सकते हैं।

अस्तु–इस युद्ध में पहले देवता पराजित हुए (अन्तर्मुखी आकर्षण शक्ति की हार हुई)। यद्यपि अन्तर ही अन्तर कुछ मातृमुखी आकर्षण सदा ही रहता है; तथापि विकर्षण अर्थात् अनुलोम गति का प्रभाव जब तक अधिक रहता है, तब तक यह युद्ध अनुभव होता ही नहीं। फिर जब मा की कृपा से धीरे धीरे आकर्षण शक्ति कुछ प्रबल होती जाती है, तब ही विरोधी दल के साथ संघर्ष होने लगता है। इस संघर्ष का प्रथम फल पराजय होता है। पराजित होने का कारण पूर्व ही कह चुके हैं।

जब देवगण हार गये तब महिष (रजोगुण के बाहिरी विकाश) ने इन्द्रपद पाया। महिष अब तक केवल असुरशक्ति का ही चलाने वाला था, परन्तु अब देव शक्ति भी उसी के अधीन हो गई।

धीर भाव से समझने की चेष्टा कीजिये, रजोगुण की अन्तर्मुखी चरम परिणति का फल पर-वैराग्य है। वशीकार नामक वैराग्य के बाद प्रत्यगात्मा का प्रकाश होने पर गुणों में अनासक्ति होने पर (श्रेष्ठ) वैराग्य होता है (यो० द १। १६ गीता २। ५६) सब शक्तियों के प्रवाह को पूर्ण रूप से संग्रह करना ही रजोगुण की अन्तर्मुखी क्रिया है। इसी का

नाम पुरन्दर (पुर को विदारण करने वाला) है यह जब देव-शक्ति का अधिपति रहता है, तब बहिर्मुखी वृत्ति प्रवाह का पूरी तरह से संहरण कार्य चलता रहता है और इसी के फल से पर-वैराग्य समागत होता है। किन्तु अब महिष ने देवलोक का आधिपत्य प्राप्त किया है। बाहिरी विषयों की ओर क्रियाशीलता ही उसका स्वभाव है, अतएव देव-शक्तियों को भी वह बहिर्मुख कर डालेगा। दया, क्षमा, उदारता, निस्पृहता आदि देव-भाव असुरों द्वारा दबे रहने पर, पर-वैराग्य की आशा नहीं है। फलतः सब कर्मों के बीज नष्ट हुए बिना और किसी तरह पर-वैराग्य उपस्थित हो ही नहीं सकता।

खुलासा यह है कि रजोगुण के एक तरफ पर-वैराग्य और दूसरी तरफ भोगासक्ति है, वे ही क्रम से पुरन्दर और महिषासुर हैं। पर-वैराग्य का स्वरूप सर्वस्व त्याग, देह, मन, इन्द्रिय तक परित्याग है और भोगासक्ति का स्वरूप सर्वस्व ग्रहण है। पुरन्दर चाहता है मोक्ष, महिष चाहता है भोग, जब तक मोक्ष वासना प्रबल न होगी, तब तक महिष द्वारा पुरन्दर की हार ही होती रहेगी और महिष इन्द्रत्व प्राप्त करेगा ही।

ततः पराजिता देवाः पद्मयोनिं प्रजापतिम्।
पुरस्कृत्य गतास्तत्र यत्रेश गरुड़ध्वजौ ॥३॥

अनुवाद—अनन्तर हारे हुए देवगण पद्मयोनि प्रजापति को आगे कर जहां शिव और विष्णु थे वहां गये।

व्याख्या। पद्मयोनिब्रह्मा— ये सब भावों के अधिपति हैं, इसी से ये प्रजापति कहे जाते हैं। भाव और प्रजापति एक ही बात है, यह प्रथमखण्ड में कहा है और उपनिषद् में कहा है— "उभये प्राजापत्याः" अर्थात् सुर और असुर दोनों ही प्रजापति से उत्पन्न हैं। देव-शक्ति और असुर-शक्ति दोनों ही मन के भाव

हैं, मन के जिस अंश पर असुरों का अधिकार बढ़ जाता है, वह अंश प्रजापति होने पर भी पद्मयोनि नहीं होता। नाभि वा मणिपुर कमल से नीचे की ओर असुरों का क्षेत्र है और इसके ऊपर देव-क्षेत्र है। नाभि-कमल से ही ब्रह्मा की उत्पत्ति है, मन का जो अंश परमात्माभिमुखी हुआ है, जिस अंश में यथार्थ मातृ लाभ की वासना उदित होने लगी है, वही पद्मयोनि है। उसको अग्रवर्ती करके देवता अर्थात् इन्द्रियाधिष्ठित चैतन्य-वृन्द विष्णु और शिव के निकट पहुंचे। विष्णु-प्राणशक्ति, शिव-ज्ञानशक्ति। विष्णु का स्थान हृदय कमल वा अनाहत, और शिव का स्थान ललाट वा आज्ञाचक्र है। अतएव हारे हुए देवता पद्मयोनि को लेकर शिव और विष्णु के समीप पहुंचे। इसके कहने का तात्पर्य्य यह है कि परमात्माभिमुखी इन्द्रियशक्ति वाला मन, आसुरी भावों द्वारा पीड़ित होकर प्राण और ज्ञान के समीप पहुंचा।

साधक अनुभव कर सकते हैं कि पूर्ण मन से न तो मा को चाहा जा सकता है और न पूर्ण मन से जगद्-भोग ही हो सकते हैं। मन के एक सिरे पर जैसे मातृ-दर्शन लालसा, मातृ-महत्त्व सुनने की आकुलता होती है, ठीक उसी तरह दूसरे सिरे पर स्त्री-पुत्रादि विषय-वासना का विलास चलता रहता है। मन के एक ओर देवराज पुरन्दर का कर्तृत्व देखते हैं और दूसरी ओर असुर राज महिष का आधिपत्य (पीड़ा देना) देखते हैं। इस पीड़ा देने के फल से प्रथम देव-शक्तियां हार जाती हैं। प्राण और ज्ञान-शक्ति पूर्ण भाव से मातृमुखी हुए विना मन को पूर्ण बल प्राप्त हो नहीं सकता, इस कारण मन को विवश होकर उन की शरण लेनी पड़ती है। इससे पहले जिस प्राण ने जाग्रत-होकर मधुकैटभ का बध किया है, जो विज्ञानमय-गुरु मेधस रूप से अपना प्रकाश करके धीरे-धीरे अज्ञान दूर कर देते हैं,

उनकी शरण लेलेने से—उनके चरणों में पूर्ण भाव से आत्म-निवेदन कर सकने से यह असुर का अत्याचार निश्चय दूर हो जायगा, यही प्रजापति की आशा है।

मन किस तरह प्राण और ज्ञान के शरणापन्न होगा ? प्राण और ज्ञान-शक्ति की सत्ता बिना मन की कोई पृथक् सत्ता नहीं है, मन पूर्णभाव से उन्हीं की सत्ता से सत्तावान है ऐसा अनुभव होने का नाम ही मन का शरणागत होना है। जीव जब तक अस्मिता को ज़ोर से पकड़े रहता है, जब तक उसका अभिमान से उठा हुआ शिर किसी के आगे झुकना नहीं चाहता, तब तक यह शरणागत भाव किसी तरह आता ही नहीं। यह शरणागत भाव ही आत्म-निवेदन है। "मैं कुछ नहीं जानता, मैं असमर्थ हूं, दुर्बल हूँ, अज्ञान शिशु हूँ"; ऐसा समझ कर तृण-गुच्छ की तरह विज्ञानमय गुरु के चरणों में अर्पण करने को आत्मनिवेदन कहते हैं। जो दीर्घकाल तक कठोर साधना करके भी अमृत का पता न पासकें, उन्हें समझ लेना चाहिये कि उनकी साधना अभी आत्मनिवेदन रूप भित्ति पर प्रतिष्ठित नहीं है। आत्म-निवेदन बिना साधना का आरम्भ ही नहीं होता। आत्मदान बिना आत्म-प्राप्ति कभी हो नहीं सकती। हे मातृ-सन्तानवृन्द ! तुम चाहे किसी जगह अपने को छोड़दो—प्रणिपात करो, तो देखोगे कि आत्मलाभ हुआ है। प्राण दिये बिना प्राण नहीं पाया जाता, यह बात सदा याद रक्खो। क्या जड़, क्या चेतन, क्या ज्ञानी, क्या अज्ञानी इसका विचार किये बिना चाहे किसी भी जगह में प्राण को ढाल दो, और देखो कि—महाप्राणमयी स्नेह-मयी मा के वक्ष पर तुम नित्य अवस्थित हो।

अस्तु, शरणागत भाव ही सब साधनाओं का एकमात्र उद्देश्य वा आधार है, यही सब शास्त्रों का अन्तिम सिद्धान्त

है। इसी से देखते हैं कि स्वयं प्रजापति भी ईश और गरुड़-ध्वज के शरणागत हुए। स्वयं भगवान् ने भी एक दिन आदर्श-भक्त अर्जुन से कहा था—"मामेकं शरणं व्रज।" (गी० १८।६६)

यथा वृत्तं तयोस्तद्वन्महिषासुरचेष्टितम्।
त्रिदशाः कथयामासुर्देवाभिभवविस्तरम् ॥४॥

अनुवाद। देवताओं ने शिव और विष्णु के समीप जाकर महिषासुर का कार्य-कलाप और देवताओं की पराजय का सारा हाल वर्णन किया।

व्याख्या। असुरों के अत्याचार से पीड़ित मन ने प्राण और ज्ञान-शक्ति के शरण में जाकर वहिर्मुखी प्रवृत्ति की अत्याचार कहानी और निवृत्ति मुखी वृत्तियों की दुर्दशा का पूरा-पूरा समाचार कह सुनाया; अर्थात् मन की सहायता से ही प्राण और ज्ञान को विक्षेप-शक्ति का सब कार्य विवरण मालूम हुआ। प्राण भोक्ता है और ज्ञान प्रकाशक है। मन इन्द्रियों की सहायता से विषय संग्रह करके प्राण को उपहार देता है। प्राण उसे ज्ञान के प्रकाश से देख भाल कर भोग करता है। मन के द्वारा लाये हुए विषयों का प्रकाश करना ही ज्ञान का कार्य है। और उस प्रकाशित विषय के संस्पर्श से सुख दुःख भोग करना प्राण का कार्य्य है; यानी मन आहर्ता वा स्रष्टा है और प्राण-कर्ता वा भोक्ता है एवं ज्ञान-प्रकाशक वा लयकारक है।

हम यहाँ जिस ज्ञान की बात कह रहे हैं वह बौद्ध ज्ञान है, (बुद्धि) है। इन्द्रियों की सहायता से जो विषय का प्रकाश हो वह बुद्धितत्त्व में ही लय होता है। बुद्धि के पार विषयों का प्रकाश नहीं है। इसी से बुद्धि या बौद्ध ज्ञान को प्रलय का देवता कहा है।

मन ने आज असुर की अत्याचार कहानी प्राण और ज्ञान से वर्णन की। अब तक उसे अत्याचार रूप से वर्णन नहीं किया था; जो कुछ आया; चाहे जैसी वृत्ति उदय हुई वही बुद्धि के प्रकाश से प्रकाशित कर प्राणों के भेट कर दी। प्रजापति अब तक अपना चिर-अभ्यस्त कार्य ही करते रहे थे, इसी से प्राण और ज्ञान ने भी अब तक इसे असुर के अत्याचार रूप से ग्रहण नहीं किया था; किन्तु आज स्वयं मन ही विषयों के प्रकाश को आसुरिक अत्याचार रूप से वर्णन करता है; अतएव वह भी उसी भाव से ग्रहण करते हैं। इसके सिवाय प्राण-शक्ति की भी (मधु कैटभ वध के समय से) योगनिद्रा भङ्ग हुई है, ज्ञान शक्ति ने भी विज्ञानमय गुरु रूप से अपना प्रकाश किया है; अतएव अब तक उन वैषयिक स्पन्दनों को अत्याचार रूपसे ग्रहण न करने पर भी अब अच्छी तरह समझ सके हैं कि यह असुर के अत्याचार के सिवाय और कुछ भी नहीं है।

खुलासा यह है कि जब तक रूप रसादि विषयों वा कामिनी काञ्चन को ही परम पुरुषार्थ रूप बोध किया जाये, तब तक मन प्राण और ज्ञान सर्वतोभाव से उन्हीं में मुग्ध रहते हैं, फिर जब धीरे-धीरे प्रज्ञाचक्षु खुलते जाते हैं, तब वही मन, प्राण और ज्ञान उन्हें आसुरी स्पन्दन रूप समझ सकते हैं।

साधक! तुम भी जब प्रवृत्ति की ताड़ना से अत्यन्त पीड़ित हो, तब इधर-उधर मत भागो। प्रवृत्ति के दमन करने को अति परिश्रम से सिद्ध होने वाले कठोर हठयोगादि को दमन करने का उपाय समझ कर ग्रहण न करो। बल्कि तुम भी प्रजापति की तरह हृदयानुगत चैतन्य प्राण के शरणागत हो, अपने अन्तरस्थित ज्ञानमय गुरु के चरणों की शरण लो; और रो कर कहो—प्राणमय गुरोः! इस असुर की पीड़ा से बचाओ। हमने अनेक चेष्टायें कीं परन्तु सब व्यर्थ हुईं, किसी से भी असुर के

अत्याचार से छूट कर तुम्हें पूर्ण रूप से जकड़ कर पकड़ न सके। किसी तरह तुमको अपना एकान्त आत्मीय समझ ग्रहण नहीं कर सके। जब कभी कुछ कुछ तुम्हें समझने के लि आगे चले; तब ही असुर तुम्हारी ओर से खींच कर दूस ओर ले गये और फिर उसी शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध आकर्षित हो गये। अब कब तक यह असुरों की पीड़ा सह रहेंगे? कब तक दैत्य की आज्ञा शिरोधार्य्य कर जीवन दुःखमय दिन गिनते रहेंगे? हे गुरो! दया करके इस सञ्चि कर्मों के आकर्षण से रक्षा करो; प्रभो! अब किसके चरणों आश्रय लें, तुम ही हमारे गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शर सुहृत्। प्रभवः प्रलयः स्थानम् निधानं बीजमव्ययम् हो। कहकर रोओ, रो सकने से असुर का अत्याचार शान्त हो किन्तु सावधान! रोने के लिये ही न रोना केवल रोदन कर तो स्त्रियों की दुर्बलता मात्र है। वह सत्य प्रतिष्ठा विरोधी है"

सूर्य्येन्द्राग्न्यनिलेन्दूनां यमस्य वरुणस्य च।
अन्येषां चाधिकारान् स स्वयमेवाधितिष्ठति ॥५॥

अनुवाद। सूर्य अग्नि इन्द्र वायु चन्द्र यम वरुण औ अन्यान्य देवताओं का अधिकार महिषासुर ने अपने हाथ ले लिया है।

व्याख्या। इस मन्त्र में देवताओं के पराजय की बात क गई है। सूर्य चक्षु का अधिपति देवता; इन्द्र-पाणीन्द्रिय अधिपति; अग्नि वागिन्द्रियाधिपति; वायु-अनिल-त्वगिन्द्रि का अधिपति; इन्दु-मन का अधिपति; यम-गुदेन्द्रिय का अधि पति है। इनके सिवाय अन्यान्य देवता अर्थात् सब इन्द्रियों स्वामी देवताओं के जो अधिकार थे, उन पर महिषासुर स्वयं अधिकार कर लिया है।

देवता तत्त्व

यहां देवताओं के सम्बन्ध में कुछ आलोचना करना आवश्यक है। ऐसा करने से यह अधिकार लेने का रहस्य सुगमता से समझ में आ जायगा। चैतन्य की जो विशेष विशेष अवस्था है, उसी को देवता कहते हैं; अर्थात् विशिष्ट चैतन्य ही देवता है। चैतन्य जब सब विशेषणों से रहित हो तब वह शुद्ध निरंजन निर्गुण आदि कहा जाता है और जब कोई विशेष भाव सहित प्रकाशित हो तब वह देवता कहा जाता है। मान लो कि एक वृक्ष है, विशुद्ध चैतन्य के जिस अंश में "मैं वृक्ष हूं" ऐसा सम्वेदन फूटा है, उस अंश का नाम वृक्षाधिष्ठित चैतन्य व देवता है। जो चैतन्य "मैं सूर्य" रूप से प्रकाशित हैं वही सूर्य्यदेव है। जो चैतन्य "मैं बुद्धि" रूप से प्रतिभात है, वह बुद्धि का अधिपति देवता है (अच्युत) है। जो चैतन्य सृष्टि कार्य में 'अस्मिता' समझाता है वह ब्रह्मा है। ऐसा ही सर्वत्र समझिये। साधारणतः इन देवताओं की संख्या तीस व तेतीस कोटि है; ऐसा पुराणादि शास्त्र में वर्णित है। हमारी दश व ग्यारह इन्द्रियां (मन और इन्द्रियां १०) सत्व रज और तमोगुण से त्रिगुणित होकर १० × ३ = ३० और ११ × ३ = ३३ संख्या वाली होती हैं। अवान्तर विषय भेद से उनके असंख्य भेद हैं। कोटि शब्द यहां असंख्य का ही बोधक है। इस हिसाब से ३० व तेतीस कोटि कहना अयौक्तिक नहीं है। हमारी चक्षु आदि इन्द्रियों में जो अलग अलग चिति-शक्ति का प्रकाश अनुभव होता है अर्थात् जो चिति-प्रवाह चक्षुः आदि इन्द्रियरूप से प्रकाश पाता है वही चक्षुरादि का अधिपति देवता है। ऐसा ही सब इन्द्रियों के सम्बन्ध में समझिये। सूर्य, इन्द्र, अग्नि आदि देवताओं की जिन विशिष्ट मूर्तियों का ध्यान वर्णित है, उक्त

ध्यान की प्रतिपाद्य मूर्ति में समाधिस्थ होने से उनका जो स्व
और शक्ति अनुभव होती है उससे समझा जाता है कि वे देव
हमारे अन्तर में ही मौजूद हैं। अन्तर कहने से जो छाती
भीतर कोई स्थान समझते हैं उन्हें ऐसा अनुभव होना क
अवश्य सम्भव नहीं है। वास्तविक बाहिर कुछ भी नहीं है
अन्तर में ही है, किन्तु वह दूसरी बात है—

फिर दूसरी तरह से भी इस सत्य पर पहुँचा जाता है। च
आदि इन्द्रियरूप से जो चित् प्रभाव प्रकाशित है, उसमें सम
हित होने पर भी उक्त सूर्यादि का स्वरूप और शक्ति प्रत्यक्ष
जाती है। अतएव साधक समझ लें कि सूर्यादि देवताओं
साक्षात्कार प्राप्त करने के लिये अथवा असाक्षात् अवस्था
भी उनकी कृपा प्राप्त करने के लिये इन्द्रिय शक्ति को प्रती
(मूर्ति) रूप से आधार मान कर ब्रह्मभाव से उपासना की जा
है। केवल एक व्यष्टि इन्द्रिय को लक्ष्य करके उसमें समाहि
होने से उक्तरूप देवता का साक्षात्कार व कृपा प्राप्त कर
असम्भव है। उपासना का आलम्बन कितना ही छोटा क्
न हो परन्तु उसकी ब्रह्मभाव से उपासना करनी चाहिये, न
तो उपासना आशानुसार फल नहीं देगी। यही साधना
रहस्य है। छान्दोग्यादि श्रुति वाक्य में भी इसका विशेष रू
से उपदेश है। अग्नि, वायु, जल, सूर्य, अन्न, मन, प्राण आ
एक-एक को अवलम्बन करके ब्रह्म रूप से दर्शन करते हैं। ब्र
कहने से कोई न जानने योग्य किम्भूत किमाकार वस्तु
समझिये। "जन्माद्यस्य यतः" जिससे इस जगत्, का जन्म
स्थिति और लय होता है, जो सबसे अति बड़ा है, वही ब्रह्म है
वही हमारे सम्मुख स्थित इस प्रतीक रूप में अवस्थित है। इस
प्रतीक रूप केन्द्र से ही सारे जगत् की सृष्टि, स्थिति और प्रलय

होती है। यही सब विश्व में व्याप्त हो रहा है। यही हमारे और सब भूतों के अन्तर रूप से अवस्थित है। इस बोध-प्रवाह को पकड़ रखने का नाम ही प्रतीक की ब्रह्मभाव से उपासना है।

मान लीजिये कि आप इन्द्र देवता का साक्षात्कार या कृपा प्राप्त करना चाहते हैं, तो इन्द्र का जो बीज मन्त्र है (किसी शक्तिमान साधक से मन्त्र शिक्षा लेना चाहिये) उस मन्त्र की सहायता से अपनी पाणि इन्द्रिय को प्रतीक मान कर उपासना करनी होगी।

उपास्य—विषयक यथार्थ बोध को पकड़ रखने का नाम उपासना है। ऐसा करते करते जब पाणि इन्द्रिय तुम्हें अच्छी तरह अनुभूति योग्य हो तब उस अनुभूति की ब्रह्म रूप में अर्थात् ब्रह्माण्ड व्यापी जो विराट पाणि या आदान (ग्रहण) शक्ति है उस शक्ति रूप से धारणा करते रहो। क्रम से यह धारणा घनीभूत होने से ध्यान और समाधि आकर उपस्थित होगी। इस दशा में इन्द्र देवता सम्बन्ध में आपके जैसे संस्कार होंगे, वैसी ही मूर्ति प्रत्यक्ष होगी। अथवा किसी विशिष्ट मूर्ति के संस्कार न रहने पर भी आप को यथार्थ इन्द्र देवता का दर्शन होगा। तुम समाधि से जागते ही देखोगे कि इन्द्र देवता के द्वारा अपना अभिलषित वर पाकर धन्य हुए हो। देवता साधन के सम्बन्ध में यही संक्षिप्त रहस्य है।

परन्तु बात यह है कि साधारण भाव से इन विशिष्ट देवताओं की उपासना न करके, जो महती शक्ति इस स्थूल जीव जगत् की सृष्टि, स्थिति, प्रलय रूप से प्रत्यक्ष होती है उस "जन्माद्यस्ययतः" की उपासना करने से सब ही देवताओं की तृप्ति या कृपा प्राप्त होती है। जिस तरह उत्तमाङ्ग (शिर) स्निग्ध (चिकना-शीतल) रहने से सब अङ्ग स्निग्ध रहते हैं, यह भी

ठीक उसी प्रकार है। इसी से मन्त्र वाक्य में कहा है—"त
स्तुष्टे जगत् तुष्टं, प्रीणिते प्रीणितं जगत्।" उस परमात्मा
की तुष्टि होने से सारा ब्रह्माण्ड ही परितुष्ट होता है। मा
तृप्ति होने से सब लोक परितृप्त होते हैं। क्योंकि सब ही 'मा'
मा को छोड़ कहीं भी कुछ नहीं है। विशेष भाव से इस उस
तृप्ति करने की चेष्टा न कर मा को तृप्त करने को तैय्यार
तो सब की तृप्ति अपने आप हो जायगी।

कोई यह आपत्ति न करें—नित्य तृप्ता की फिर तृप्ति क्या
क्या वह खुशामद पसन्द है? क्या वह हमारे स्तुति वाक्यों
सन्तुष्ट होकर, तोपामोद प्रिय धनी की तरह हमको अ
वस्तु प्रदान करेंगी? साधन समर प्रथम खण्ड पढ़ कर भी
के प्राण में ऐसा तर्क पैदा हो उन्हें प्रथम खण्ड फिर प
चाहिये। जब तक आप अच्छी तरह अनुभव न कर सको
वह नित्य तृप्ता—नित्य सन्तुष्टा है। तब तक आप केवल
से ही कहेंगे कि—उनकी तृप्ति अतृप्ति क्या? जब देखो
विपद में पड़ने पर भी उनकी तृप्ति की आकाँक्षा मन में हो
है, जब तक तुम दिन रात प्रत्येक कर्म द्वारा उनकी तृप्ति क
में ही लगे रहो, यही तुम्हारा मनुष्यत्व है और इस तरह स
उनकी तृप्ति करना ही तुम्हारे जीवन का व्रत हो। ऐसा क
पर समझ सकोगे कि—कार्य्यतः तुम ही परितृप्ति पाते हो;
कि वह तुम्हारी आत्मा है।

हम बहुत दूर चले आये, चलो फिर असल विषय की
चलें। महिषासुर ने सूर्य्यादि देवताओं का अधिकार छीन लिया
यही मन्त्र का स्थूल मर्म है। इन्द्रियाधिपति देवता अपना चित्भा
परमात्म-संयोगभाव भूल कर स्थूलाभिमानी जड़त्व प्रिय हो
हैं—जड़ शक्ति रूप में बिम्बित होते हैं। ऐन्द्रियिक प्रकाश स

परमात्मा की ओर की गति त्याग कर विषयों की ओर आकृष्ट हुए हैं। यह किस का प्रभाव है? उसी महिषासुर-रजोगुण का है।

मानलो कि—एक अखण्ड-चित्-समुद्र में कुछ लाल रंग डाल दिया। उससे समुद्र का जितना अंश रंगित होगया, वह अंश जब तक अपने को चित् समुद्र से पृथक् नहीं समझता, तब तक उसका देव भाव अखण्ड रहता है; किन्तु जब अपने को लाल रंग से रंगा हुआ देख कर अपने असल स्वरूप की बात भूल जाता है त्योंही वह अपने अधिकार से गिर जाता है। उस स्वाधिकार से पतित होने का कारण—वैसे संस्कार असुर हैं और इन संस्कारों को चलाने वाला रजोगुण ही राजा है। इसी से यहाँ देखते हैं कि महिष ने देवताओं को अपने-अपने अधिकार से हटा कर स्वयं अधिकार कर लिया है, अर्थात् इन्द्रियों ने अपना-अपना चिद्-भाव त्याग कर जड़-भाव धारण किया है।

साधक! तुम भी देखो कि तुम्हारी चक्षुः आदि इन्द्रियां साधारणतः जड़त्व प्रियजड़वस्तु में आकृष्ट—जड़भाव से ही परिचालित होती हैं। यही महिषासुर का अत्याचार है। देखो, अपनी आंखों को हजार बार समझा दिया कि—सब रूप केवल मा के ही रूप हैं, किन्तु चक्षु सर्वदा भौतिक रूप ही ग्रहण करते हैं। कानों से कह दिया कि सब शब्द मातृ-कण्ठस्वर, मातृ-आह्वान वा प्रणव की तरङ्ग मात्र हैं; किन्तु कान दिन रात मानव की भाषा ही आहरण करते हैं। त्वचा से कह दिया—कि जगत् में जितने प्रकार के स्पर्श हैं वे मातृ-आलिङ्गन के सिवाय और कुछ भी नहीं हैं; किन्तु वह सदा जगत् के स्पर्श ला कर उपस्थित करती है। ऐसा ही सब विषयों में समझिये। क्या आप समझ सके हैं, क्यों ऐसा होता है? वह महिषासुर

का अधिकार है; वह जड़त्व का, कर्म्म की चञ्चलता का अधि
है, इसी से वह इस तरह तुम्हें धोखा देते हैं। हाय! यदि इ
यह आसुरिक अत्याचार न होता, यदि जड़त्व का अधिकार
रहता तो ये इन्द्रियाधिष्ठित चैतन्य वर्ग ही अखण्ड चैतन्य
पता लाकर देते, सर्वत्र मातृ-स्नेह का सम्वेदन ही प्रगट क
जड़त्व का भ्रम सदा के लिये दूर होजाता।

मनुष्य जब मा की कृपा से धीरे-धीरे आत्मबोध के म
पहुंचता जाता है तब ही कुछ कुछ यह अत्याचार अनुभव
लगता है। क्षण-क्षण में चैतन्यमय भाव उदित होता है
फिर क्षण-क्षण में आसुरिक वा जड़ भाव से आच्छन्न हो जा
है। इस दशा में इन्द्रियों का उभय-मुखी भाव लक्षित होता
एक तरफ चैतन्य-प्रिय और दूसरी ओर जड़त्व पर मोह;
जड़ चेतन का युद्ध ही देवासुर संग्राम है। साधारणत: मनु
कुल में आने के पूर्व तक जीव को यह संग्राम अनुभव होता
नहीं। तब इन्द्रियाधिपति देवता भी बिलकुल जड़भाव व
रहते हैं। फिर जीव जब मनुष्य-क्षेत्र पर उपस्थित होता है
धीरे-धीरे उसका यह जड़भाव दूर होता रहता है। साधक य
रक्खें, जड़ के द्वारा चैतन्य का पीड़ित होना ही देवासुर संग्रा
का असल रहस्य है। किन्तु वास्तव में जड़ कहने को कुछ भी न
है। केवल जड़त्व प्रतीतिमात्र है। इस जड़त्व बोध का नाम
बन्धन है, यही असुरभाव है और चैतन्य मात्र अनुभव का ना
मुक्ति है। वही देव भाव है। शास्त्रकारों ने जड़ और चेतन
यह अर्थ किया है कि जो अपने आप को जाने और दूसरे
भी जान सके उसका नाम चेतन है, और जो अपने आपको
जाने और दूसरे को भी न जान सके उसका नाम जड़ है। इ
हिसाब से तीन गुण वा बुद्धि मन इन्द्रिय पर्यन्त सब दृश्य व
का नाम जड़ है और जो इस सब दृश्य का द्रष्टा वा प्रकाश

है वही चेतन है। ये सब तत्त्व क्रम से और भी स्पष्ट होंगे।

अस्तु, साधक ! तुम में जब तक बिन्दुमात्र भी जड़त्व की प्रतीति रहे तबतक समझो कि तुम्हारे ऊपर असुर का अत्याचार चलता है। अतएव किसी न किसी उपाय से उसे दूर करना ही होगा। जड़त्व ज्ञान ही अज्ञान है जड़ और दृश्य कहने को न कभी कुछ था, न है, न कभी रह सकेगा, ऐसा अनुभव होने से ही यथार्थ ज्ञानमय स्वरूप का सन्धान मिलता है और अज्ञान की निवृत्ति होती है।

स्वर्गान्निराकृताः सर्वे तेन देवगणा भुवि।
विचरन्ति यथा मर्त्या महिषेण दुरात्मना ॥६॥

अनुवाद। उस दुष्ट स्वभाव महिषासुर द्वारा स्वर्ग से निकाल देने पर देवता मरण धर्मशील जीवों की तरह भूतल पर विचरने लगे।

व्याख्या। महिषासुर दुरात्मा—असत् प्रकृति है। प्रथम खण्ड में कहा है—सत् स्वरूप परमात्मा जब लीलावश अल्प-भाव वाला होकर प्रकाशित होता है, तब ही वह असत् कहा जाता है। जब प्रकृति इस असत् अर्थात् अल्प की ओर चलती है, तब ही इसे दुरात्मा कहते हैं। साधारण बोलचाल में ऐसा समझिये कि—परिच्छिन्न रूप रसादि भोग करना ही जब आत्मा का स्वरूप समझ पड़े तब ही आत्मा की दुर्दशा है, पहले किये हुए कर्मों के बीज आत्मा को ऐसे परिच्छिन्न भाव में वा असत् भाव में प्रगट करने के लिये निरन्तर उन्मुख हो रहे हैं। रजोगुण उनका मूल केन्द्र है, अतएव दुरात्मा है। इस के अत्याचार से देवता (इन्द्रियों पर बैठे देवता चैतन्य वर्ग) स्वर्ग से चैतन्य क्षेत्र से हटा दिये गये हैं। वे जड़त्व के अधिकार में आकर अधिष्ठान चैतन्य रूप मा की गोद में नित्य अवस्थान

रूप स्वर्ग सुख से भगा दिये हैं, अमर होकर भी मर्त्य की भाँति (मरणधर्मीजीव की तरह) भूतल पर अर्थात् पार्थिव-भाव में विचरने को विवश हुए हैं।

देखो जीव ! चैतन्य ही तुम्हारा स्वरूप है। तुम्हारी इन्द्रियां चैतन्य का ही प्रवाह मात्र हैं, जहां चैतन्य है वहीं अमृत है, वहीं आनन्द नित्य विराजमान् है। किन्तु तुम असुर द्वारा ऐसे सर्वस्व खो बैठे हो कि प्राणों की बाजी लगा कर ढूढ़ने पर भी आनन्द का एक कण मात्र भोग नहीं कर सकते। अमृत समुद्र में–मातृ वक्ष पर नित्य अवस्थान करते हो, तो भी प्रति श्वास प्रश्वास में मृत्यु से मृत्यु की ओर चलते जाते हो, तुम्हारी यह दुर्दशा एक दो दिन से नहीं बल्कि अनेक युग-युगान्तर से चली आती है। यही है "विचरन्ति यथामर्त्या महिषेण दुरात्मना।" जीव ! धीरे सावधानी से यह असुर का अत्याचार प्रत्यक्ष करो—देखो।

इस जगत में जो पार्थिव सुख से अपने को सुखी समझते हैं वे भी असल सुख से बिलकुल वञ्चित हैं, यह कुछ धीर भाव से विचारने पर समझ में आ सकेगा। काम काञ्चन के सम्भोग में जो सुख है वह इतना चञ्चल और इतना दुःख से मिला हुआ है कि उसे सुख न कहना ही अच्छा है। तो भी जो उस में परम सुख जान कर मोहित रहते हैं वह उनके पक्ष में ऊंट के कांटे चबाने के समान है। ऊंट कटीले पेड़ों (कीकर-छेंकुर आदि) को खाना पसन्द करता है। कांटे खाता है, कुछ तृप्ति भी होती है किन्तु मुख और जीभ कांटों से घायल हो जाती है। रक्त गिरता है, पीड़ा भी होती है। पार्थिव सुख भी ठीक इसी प्रकार है। बार बार याद कीजिये कि जड़ वस्तु में सुख नहीं है। सुख वह चित् का ही स्वरूप है। जब तक जड़त्व बोध सम्पूर्ण दूर न हो तब तक सुख का पता मिलता ही नहीं। उपनिषद् कहता है

"यो वै भूमा तत्सुखम्, नाल्पे सुखमस्ति।" जो भूमा है, जो महत् है, वही सुख है, अल्प अर्थात् असद् भाव में सुख नहीं है। सुख का ही दूसरा नाम स्वर्ग है। (सु—अर्ज्ज—घञ्) सुकृति द्वारा जो अर्जन किया जाय वही स्वर्ग है। देवता इस भूमा सुख से संयुक्त हैं। इसी से देवलोक को स्वर्ग कहते हैं। जड़त्व के प्रबल आकर्षण से देवता अब अपना अपना चैतन्यभाव जागृत नहीं कर सकते। इसी से मन्त्र में देवताओं को स्वर्ग से निकाल देना कहा गया है।

खुलासा यह है कि देवता अर्थात् इन्द्रियाधिष्ठित चैतन्य, अस्मिता के विशेष विशेष व्यूह (मोर्चे) मात्र हैं। विज्ञानमय कोष में अहंभाव को ले जाने पर इस अस्मिता का स्वरूप अनुभव होता है। वही स्वर्ग है। इन्द्रियों का वैषयिक स्पन्दन उपस्थित होने पर ही स्वर्ग से पतन होता है।

एतद्वः कथितं सर्वं। अमरारिविचेष्टितम्।
शरणञ्च प्रपन्नाःस्मो वधस्तस्य विचिन्त्यताम् ॥७॥

अनुवाद। आप की सेवा में असुरों का सब कार्य्य विवरण वर्णन किया। हम आपकी शरण में आये हैं, आप उसके वध का उपाय विचारिये॥

व्याख्या। महिष=अमरारि। अमरत्व (अमृत पाने) का विरोधी है। उसकी अत्याचार कहानी—देवताओं को पीड़ा देने का विवरण सब कहा गया। देवता अब जड़त्व—असत्-प्रियता के हाथ से छूटना चाहते हैं, इसी से विष्णु और शिव के शरणागत हुए हैं। यह शरणागत भाव ही साधना का एकमात्र आधार है। जिसमें ये लक्षण प्रकाशित हुए हैं उसकी साधना अवश्य सफल होगी। शरणागत भाव बिना योग तपस्या आदि किसी अनुष्ठान का पूर्ण फल नहीं होता। शरणागत भाव रूप-भित्ति के

ऊपर ही साधना का मन्दिर दृढ़ प्रतिष्ठित है। यदि कोई बहुत दिन तक अनेक प्रकार साधना करने पर भी आशानुसार फल न पावें तो समझलें कि वे शरणागत भाव छोड़ कर अथवा अपूर्ण अनुष्ठान करके साधना में प्रवृत्त हुए थे। यह शरणागत भाव यदि कृत्रिमता (बनावटी) रहित हो, सरल प्राण से निष्कपट हृदय से यदि अपने को छोड़ दे सकें तब ही साधक तुम निःसन्देह शान्ति भोग के अधिकारी और सब विपद् से छूटने के अधिकारी होगे। याद रक्खो—तुम्हारी सब साधनायें शरणागत भाव लाने ही के लिये हैं। जिस दिन देखो कि हृदय का सब कपट छोड़ कर पूर्ण भाव से मातृ-चरण के शरणागत हो गये हो, उसी दिन तुम्हारी सब साधना पूर्ण हो जायगी। जीवन मधुमय होगा।

जीव जब अपनी दुर्दशा अर्थात् अमरता के विघातक क्षुद्रता और जड़ता से मुक्ति चाहता है, तब उसको भी इसी तरह प्राण और ज्ञान शक्ति के शरणापन्न होना होता है। बाहिर जो विष्णु है अन्तर में वह प्राण है, बाहिर जो शिव है अन्तर में वह ज्ञान है। जब तक इस प्राण और ज्ञान का पता न मिले, जब तक ज्ञान को शिव और प्राण को विष्णु रूप न समझा जा सके अर्थात् शिव और विष्णु शब्द उच्चारण होते ही जिसका लक्ष्य अन्तर स्थित ज्ञान और प्राण के केन्द्र का स्पर्श न करे, तब तक वह किस तरह शिव और विष्णु के शरणापन्न होगा? और शरण लिये बिना महिषासुर वध का उपाय है ही नहीं। इसी से फिर कहते हैं—साधक! किसी भी स्थान में अपने को छोड़ दो परन्तु भगवान् समझ कर छोड़ो। तुम्हारा आश्रय जड़ पदार्थ होने पर भी साधना में कुछ हानि न होगी। जड़ प्रतिमा अथवा जड़ देह तुम्हारे भगवत् ज्ञान में बाधा उत्पन्न नहीं करेगी। निषाद पुत्र एकलव्य ने मिट्टी की द्रोणमूर्ति से अभूतपूर्व अ...

चलाने की विद्या सीखी थी। अनन्त ज्ञान का भण्डार तुम्हारे भीतर ही मौजूद है। बाह्य वस्तु—बाह्य आश्रय उस ज्ञान को खोलने का आधार मात्र है।

इत्थं निशम्य देवानां वचांसि मधुसूदनः।
चकार कोपं शम्भुश्च भ्रुकुटीकुटिलाननौ ॥८॥

अनुवाद। देवताओं के साथ ऐसा शोचनीय अत्याचार सुन कर मधुसूदन और शम्भु क्रोधित हुए। इससे उनका मुख-मण्डल और भ्रुकुटी कुटिल भाव को प्राप्त हुई।

व्याख्या। सन्तान—अति पीड़ित है। जड़ता द्वारा चैतन्य का कल्पित आवरण 'मा' अब कब तक सहन करेंगी। प्राण शक्ति में क्षोभ होने लगा। प्रलय के देवता गुरु-शम्भु का क्रोध उद्दीपित होगया है। मा के रण-रङ्गिनी मूर्ति से आविर्भूत होने का समय आगया है। अब रक्षा नहीं। अब की बार महिषासुर का निधन अवश्य ही होना है।

साधक! सचमुच जिस घड़ी तुम अपने को पीड़ित होना निश्चय समझ सको उसी समय रोकर कहो—"मा! मैं बहुत ही पीड़ित हूँ। अब इस असुर का अत्याचार और यह जगद्-भाव वहन नहीं कर सकता। एक बार अपनी शान्तिमय गोद में स्थान दो।" उसी क्षण देखोगे कि तुम्हारे प्राण, जिन्होंने इससे पूर्व मधु दैत्य का विनाश किया है, वे क्रुद्ध होने लगे हैं। जो शम्भु-जगद् का मङ्गल करने वाले हैं, मातृ यज्ञ के सर्वप्रधान होता हैं, वे भी क्रुद्ध होने लगे हैं, उनका मुख-मण्डल और भ्रुकुटी कुटिल हो गई हैं।

प्राण और ज्ञान जब तक आत्म-शक्ति—आत्म-भाव भूल कर बहुत्व के मोह से जगत के खेल में मोहित रहते हैं, तब तक

यह क्रोध का भाव लक्षित नहीं होता; किन्तु अब वे मन के द्वारा असुर की अत्याचार कहानी सुन कर आकुल होने लगे हैं। कुरुक्षेत्र समर में धर्म्मराज्य स्थापन करने वाले भगवान् श्रीकृष्ण ने जब देखा कि अपूर्व गीतातत्त्व सुन कर भी साधक वरेण्य अर्जुन पूर्ण उद्यम से युद्ध नहीं करते, केवल अपने पक्ष की ही रक्षा करते जाते हैं, तब अर्जुन के प्राण में व्यथा देकर क्रोध का पूर्ण विकाश करने के लिये, अभिमन्यु-वध का चक्रान्त करने को वाध्य हुए थे। उसी तरह साधक जबतक पूर्ण उद्यम से, सम्यक् मनोयोग से, साधन-समर में अवतीर्ण नहीं होता, तब तक मा धीरे-धीरे असुर बल बढ़ा कर देव-शक्ति पर अकथनीय अत्याचार करती रहती है। कोई प्रबल आघात- प्रबल अत्याचार हुए विना, हमारी आत्म-शक्ति जाग्रत नहीं होती। हम महाशक्तिमान् हैं, हमारे भीतर सृष्टि, स्थिति, प्रलय करने वाली महाशक्ति मौजूद है, यह हम को विशेष भाव से समझा देने ही के लिये असुर-अत्याचार रूप से मातृ-करुणा धारा प्रवाहित होती है। रूप रसादि विषयों की ओर जाने वाली इन्द्रियवृत्ति को पुष्ट करने का एकमात्र उद्देश्य आत्मशक्ति की फुरना है। पहले पहल वह उपेक्षित रहती है; किन्तु अत्याचार की मात्रा जब असह्य होकर उपेक्षा की सीमा से बाहर हो जाती है, तब फिर चुप करके नहीं रहा जाता। प्राण और ज्ञान-शक्ति क्षोभित हो उठती है। साधक इसे अपने जीवन में निश्चय ही अनुभव करने लगते हैं। ये सब महामाया (मा) की अचिन्तनीय लीला, अभूतपूर्व आनन्दमय विलास मात्र है।

ततोऽतिकोपपूर्णस्य चक्रिणो वदनात्ततः।
निश्चक्राम महत्तेजो ब्रह्मणः शङ्करस्य च ॥ ९ ॥

अनुवाद। अनन्तर अति-कोप-पूर्ण चक्रधारी विष्णु और ब्रह्मा एवं शिव के वदन-मण्डल से महत्तेज निकला।

व्याख्या—इस मन्त्र में दो "ततः" शब्द हैं। उनमें से प्रथम का अर्थ अनन्तर और दूसरे का अर्थ—प्रसिद्ध, वह वदन का विशेषण है। विष्णु, ब्रह्मा और शिव अत्यन्त क्रोधित हुए थे, इसी से उनका अपना-अपना तेज अपने शरीर में स्थान न पाकर बाहर निकलने लगा, जिस तरह किसी जल से भरे कटाह के नीचे अग्नि जलाने से जल कटाह से बाहर निकलने लगता है। इस मन्त्र का तात्पर्य कुछ विशेष रहस्यपूर्ण है। आओ साधक ! हम मातृचरण में प्रणत होकर धीरभाव से आगे बढ़ें। मा विज्ञानमयमूर्ति से हमारे हृदय में आविर्भूत होकर अति-गहन रहस्यपूर्ण चण्डी-तत्व प्रकाशित करें, हम धन्य हों।

क्रोध व तेज क्या वस्तु है ? मन, प्राण और ज्ञान की जो परमात्मा की ओर विशेष उमंग है, वही असुरों अर्थात् बहि-र्मुखी वृत्तियों के पक्ष में क्रोध है। क्रोध का उदय होने से तेज प्रकाशित होता है। मनुष्य जब किसी कारण से किसी पर क्रोधित होता है, तब उसका चेहरा लाल पड़ जाता है, नेत्रों से चिनगारी सी निकलने लगती है। वही क्रोध-जन्य तेज का बाहिरी प्रकाश है। यहां भी उक्त तीनों देवताओं का जो परमात्मा की ओर रजोगुणात्मक स्पन्दन है वही क्रोध है। पूर्व महिषासुर को काम-क्रोधादि का मूलीभूत रजोगुण रूप से समझा चुके हैं, अब फिर देवताओं में भी वही क्रोध उसी रजोगुण का प्रकाश देखते हैं।

ऐसा ही होता है, जिस तरह कण्टक से कण्टक निकाला जाता है, वैसे ही क्रोध के द्वारा क्रोध का निपात करते हैं। यह मनोविज्ञान का एक सुन्दर रहस्य है। अनेक लोग कहते हैं—अक्रोध के द्वारा क्रोध का, निष्काम के द्वारा काम का और अहिंसा के द्वारा हिंसा का जय करे; अर्थात् किसी विरोधी-वृत्ति को बढ़ा कर दूसरी विरुद्ध-वृत्ति का दमन करे

किन्तु हम देखते हैं कि उसमें बहुत वेग करना होता है और अनेक बार सफलता भी नहीं होती। अधिक दिन ऐसा अभ्यास करते-करते धैर्य्यवान् साधक कुछ सफलता पा सकते हैं। किन्तु देवी माहात्म्य के ऋषि यह बात नहीं कहते। उनका अभिप्राय यह है कि क्रोध को जय करना हो तो क्रोध पर क्रोध करो। काम को जय करना हो तो काम की कामना करो। (यह बात शुम्भ वध में देखोगे।) जिसका क्रोधी स्वभाव है उसकी क्रोध-वृत्ति अत्यन्त उद्दीपनशील अनायास उदय होती है। एक बार यदि उसे क्रोध के ऊपर क्रोध करने का कौशल सिखा दिया जाय, तो वह अनायास सफलता पा सकता है; किन्तु क्रोधित मनुष्य को अक्रोध अर्थात् क्षमा-वृत्ति का अभ्यास करना और उसमें सफलता पाना कष्ट-साध्य है।

इसी तरह यदि हिंसा को दूर करना चाहो तो हिंसा ही करो, किन्तु हिंसा की यहां प्रसङ्ग क्रम से एक बात कहते हैं— साधकों में जिनकी जो वृत्ति प्रवल है, वे उसी वृत्ति द्वारा मां को जकड़ कर पकड़ने की चेष्टा करें। मा यह नहीं कहती कि केवल श्रद्धा, भक्ति आदि साधु-वृत्तियों द्वारा ही मातृ-युक्त होना होगा; बल्कि काम, क्रोध, हिंसा, द्वेष आदि असाधु-वृत्तियां भी योग-युक्त होने के उपाय-स्वरूप ग्रहण की जा सकती हैं। वृन्दावन में गोपियाँ काम-वृत्ति द्वारा, मथुरा में केसी अभयवृत्ति द्वारा, दैत्यराज हिरण्यकशिपु हिंसा-वृत्ति द्वारा, चेदिराज शिशुपाल द्वेप-वृत्ति द्वारा भगवान् के साथ युक्त हुए थे। भगवान ने भी उनको अपनी गोद में स्थान देने में कृपणता नहीं की। अजी मा यह बात नहीं कहती कि तुम अच्छी-अच्छी वृत्ति छांट कर ले लो तब मेरे पास आओ। वह कहती है कि "सर्व भावेन शरणंगच्छ "भला हो, बुरा हो, साधु हो, असाधु हो, प्रशंसित हो, चाहे निन्दित हो, किसी भी भाव की सहायता से

हमारे शरणागत हो, (गी०१८।६२) चाहे जिस वृत्ति द्वारा केवल मेरे साथ युक्त होने की चेष्टा करो। चाहे किसी तरह मेरे समीप आने की चेष्टा करो। मैं तुमको सायुज्य प्रदान करूंगी। मैं मा हूं, तुम सन्तान हो, तुम भले हो कि बुरे, यह देखने वाली दृष्टि मेरी नहीं है। मैं सिर्फ यह देखती हूँ कि तुम मेरी ओर अपना मुख फिरा सके हो या नहीं। मेरा लक्ष्य यही है कि तुम जगत् की ओर से धीरे-धीरे मेरी ओर मुख फिराओ। किस वृत्ति की सहायता से मेरी ओर मुख फिराया है, यह विचारने का मुझे अवसर नहीं है; क्योंकि मैं तुम्हारी मा हूँ। "कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति"।

समझ लिया, मा, तुम स्नेहान्ध हो, हमारा भला बुरा देखने की दृष्टि तुममें नहीं है; किन्तु हम किसी भी वृत्ति द्वारा तुममें नित्य-युक्त नहीं हो सकते हैं। भली या बुरी किसी भी एक वृत्ति की सहायता से तुममें विभोर नहीं हो सकते। हो सका था हिरण्यकशिपु, वह विद्वेष-वृत्ति द्वारा तुम्हारे साथ ऐसा योग-युक्त हुआ था कि उसके आहारनिद्रादि दैनिक कार्य भी भगवद्विद्वेष भाव से किये जाते थे। उसने तुम्हारे साथ ऐसा विद्वेष-भाव दृढ़ कर रक्खा था कि जिसके वश होकर प्राणों से प्यारे पुत्र को कराल काल का ग्रास बनाने की अनेक बार चेष्टा की थी। जो भगवद्-विद्वेष भगवान् के प्यारे पुत्र की भी हत्या करने को उद्यत हो सकता है, उसका परिमाण कितना होगा, यह हम धारणा भी नहीं कर सकते। जिस विद्वेष के फल से मा, तुम जड़ स्फटिक के खम्भे को भेद कर नरसिंह मूर्ति से आविर्भूत हो कर, हिरण्यकशिपु के स्थूल देह की प्रत्येक नस-नस अपने पवित्र अंग से लपेट ली थी, वह विद्वेष कितना बड़ा होगा! जिस भगवद्-विद्वेषी की आत्मज सन्तान प्रह्लाद हो, उस विद्वेष के परिमाण की क्या हम धारणा कर

सकते हैं ? हम दुर्बल सन्तान हैं, मा ! हमारे मन में इतना ब
कहां है ? यदि ऐसा बल होता तब तो तुम स्वयं ही आक
होकर हमें धन्य कर देतीं । क्या उससे तुम्हारे मातृ-धर्म क
विशेष विकाश होता ? जो बलवान हैं वे तो आत्म-प्रकृति क
ही लेंगे; किन्तु जो हम जैसे दुर्बल हैं, जिनके चित्त संशय म
व्याकुल हैं, अविश्वास से कलुषित हैं, जो काम क्रोधा
आसुरी वृत्तियों द्वारा पीड़ित हैं, ऐसी सन्तानों को भी यदि तु
हृदय की ओर खींच लो, भुजाओं की लपेट से सदा लपेटे रहो
तब ही तो मा ! तुम्हारे मातृत्व धर्म्म की सम्यक फुरना हो
दुर्बल भेड़ के बच्चे की भांति हमारे क्षीण कण्ठ का संश
आन्दोलित मातृ आह्वान, यदि तुम्हारे स्नेहपूर्ण विशाल व
पर बिन्दुमात्र आन्दोलन उठा सके, जिसके फल से तुम दुर्ब
(जगत्) की मा होने के कारण अपना प्रकाश करो, तब ही त
तुम्हारा मा नाम सार्थक हो, और हम भी धन्य हो जावें ।

साधक ! तुम्हारी जो वृत्ति जब सब से अधिक प्रबल रूप
प्रकाश पावे, तब उसी वृत्ति द्वारा मा को जकड़ कर पकड़
की चेष्टा करो । इस उपाय से सहज ही वृत्ति का निग्रह सि
हो जाता है । यहाँ भी क्रोधमूलक महिषासुर को दमन करने
लिये क्रोध को ही उभरता देखते हैं । किस तरह ऐसा हुआ
सुनो, एक ही रजोगुण का दो प्रकार का विकाश है । ए
बहिर्मुख—जिसका स्थूल विकाश काम, क्रोध इत्यादि है
दूसरा अन्तर्मुख—जिसका स्थूल प्रकाश पर-वैराग्य, शम-दम
उपरति, तितिक्षाइत्यादि हैं । जो रजोगुण महिषरूप से—का
क्रोधादि वृत्ति रूप से प्रवाहित होकर बार-बार जन्म मृत्यु रू
संसार गति को अत्यन्त प्रिय समझ कर आलिङ्गन करना चाहता
है, वही रजोगुण फिर पर-वैराग्य रूप प्रकाश पाकर मुक्तिमा
में भी अग्रसर होना चाहता है । इसी से महिषासुर के सा

देवों का संग्राम है। जब बहिर्मुखी जो वृत्ति प्रबल हो, तब अन्तर्मुख में उस वृत्ति के सम जातीय वृत्ति-प्रवाह को जागृत कर सकने से ही अभीष्ट सिद्धि होती है। "समः समं शमयति" यही बड़ी अमूल्य कहावत है। साधक इसे विवेचना कर देखें और योगादिशास्त्र में जो क्रोधादि-वृत्ति निग्रह के उपाय स्वरूप उनके विरोधी अक्रोध आदि वृत्तियों की साधना विहित है, उसे साधना का फल रूप समझें—अर्थात् क्रोध को दमन करने के लिये क्रोध पर क्रोध करने का फल होता है, अक्रोध। इसी तरह हिंसा की प्रतिहिंसा करने का फल होगा, अहिंसा। ऐसा ही सर्वत्र होता है।

यहां भी हम ठीक इसी तरह असुर के प्रतिकूल ब्रह्मादि का क्रोध देखते हैं। जीव जब जिस दिन तुम्हारे मन, प्राण और ज्ञान क्रोधित होने लगें और अब असुर का अत्याचार सह्य न करेंगे, यह विचार उद्वेलित हो उठें, उसी दिन समझ लेना कि असुर निग्रह का समय निकट आ पहुंचा है।

निश्चक्राम महत्तेजः—तेज शब्द का अर्थ ज्योति-प्रकाश है। मनोमय, ज्ञानमय और प्राणमय ज्योति उमड़ कर बाहिर आगई; अर्थात् स्थूल में प्रत्यक्ष हुई। सचमुच ही इस ज्योति का दर्शन होता है। मनोमय ज्योति का लाल रंग है, प्राणमय ज्योति श्याम वर्ण है और ज्ञानमय ज्योति का शुभ्र वर्ण है। जो सत्य-प्रतिष्ठ हुए हैं अर्थात् जगत्मय सत्य-प्रतिष्ठा करके प्रशान्त उदार महान् चिदाकाश का जिन्होंने पता पाया है, वह जिनके वशीभूत हुआ है; अर्थात् इच्छामात्र से ही उदित होता है और अभीष्ट समय तक स्थिर रहता है, वे उस आकाश को मनोमय धारणा करते ही ब्रह्मतेज या रक्तवर्ण देख पावेंगे। इसी तरह प्राणमय धारणा से श्यामवर्ण और ज्ञानमय धारणा से रजतगिरिनिभ (चांदी के पर्वत की तरह) शुभ्रवर्ण प्रत्यक्ष

कर सकेंगे। साधारणतः वह तेज आज्ञाचक्र से ही विकसित होता है, इसी से मन्त्र में 'वदनात्' कहा गया है।

फिर सांख्य-योग दृष्टि से भी वह महत्तेज ही महत्तत्त्वरूप से लक्षित होता है। महत्तत्त्व का उदय अर्थात् साक्षात्कार न होने तक विषय-इन्द्रिय के संयोगजन्य चंचलता, कर्तृत्व, भोक्तृत्वादि ज्ञानजन्य सुख-दुःख की पीड़ा ये सब दूर नहीं होतीं; किन्तु महत्तत्त्व में केवल एक बार आत्मबोध संग्रह कर सकने से, जीव का कर्तृत्व भोक्तृत्व बोध समूल विलय हो जाता है। यह महत्तत्त्व ही ईश्वर है। इसी से इसको ब्रह्मा, विष्णु और शिव सम्बन्धीय तेज कहा गया है। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में इसे हिरण्यगर्भ कहा गया है; यह तत्त्व आगे और भी स्पष्ट होंगे।

अन्येषां चैव देवानां शक्रादीनां शरीरतः।
निर्गतं सुमहत्तेजस्तच्चैक्यं समगच्छत ॥ १०॥

अनुवाद—इस तरह इन्द्र आदि अन्यान्य देवताओं के शरीर से भी अति महत्तेज निकला और सबका तेज मिल कर एक होगया।

व्याख्या—देवता-तत्त्व पूर्व कहा गया है। प्रत्येक देवशक्ति जो इन्द्रियों की अधिष्ठाता थी वह ब्रह्मादि की भांति उमंग उठी और प्रत्येक देवता के अङ्ग से अतिमहान् तेज निकला और वह तेज एकत्र होगया। प्रत्येक इन्द्रिय में देव और असुर भाव हैं, जैसा कि चक्षु—जैसा कि एक ओर भौतिक रूप से आकृष्ट है दूसरी ओर वैसे ही रूपातीत वस्तु प्रत्यक्ष करने को लालायित है। जब तक मनुष्य में यह भाव न आवे अर्थात् इन्द्रियां केवल विषयों की ओर ही आकृष्ट रहें, क्षण भर के लिये भी भगवन्मुख न होना चाहें, तब तक समझना चाहिये कि अभी चण्डी-तत्त्व समझने योग्य समय नहीं है। अस्तु, असुर द्वारा पीड़ित देव

शक्तियां जब यह देखने लगें कि वे जिनके आश्रित हैं, जिनकी सत्ता से उनकी सत्ता है वे ही जब चोभित हो उठे हैं, तब उनको क्रोध अवश्य ही होना है। मन, प्राण और ज्ञान जब क्रोधित हुए हैं, तब उनके आश्रित इन्द्रियां यदि उमंग उठें तो विचित्रता ही क्या है ? सागर में ज्वार होने से ही नदी नालों में भी ज्वार होता है। मन–इन्द्रियों का केन्द्र है, प्राण इन्द्रियों को धारण करने वाले हैं, ज्ञान इन्द्रियों का प्रकाशक है। जब उनका तेज निकला तब उनके आश्रित इन्द्रियों से भी तेज निकलने लगा।

इन्द्रियों का तेज क्या वस्तु है। प्रत्येक इन्द्रिय में पृथक्-पृथक् प्रकाश शक्ति है। चक्षु कर्णादि अथवा वाक् पाणि आदि प्रत्येक में स्वतन्त्र प्रकाश शक्ति विद्यमान है। ज्ञान के प्रकाश से ही ये प्रकाशमय हैं। जिस तरह सब जल समुद्र का ही जल है, तो भी नदी में जो जल रहता है, उसे नदी का जल कहते हैं; उसी तरह ज्ञान के प्रकाश से ही समस्त प्रकाश मय होने पर भी प्रत्येक की विभिन्न प्रकाश सत्ता है। ये अब तक व्यष्टिभाव से कार्य करते थे, सब पृथक् पृथक् भाव से असुर विजय में यत्न करते थे। इसी से इनकी चेष्टा सफल नहीं हुई। आज सब व्यष्टि शक्तियां मिल गई हैं, अब देव-शक्तियां पूर्ण बल से बलवान हैं; अतएव असुर दमन भी रुक नहीं सकता। जगत् के कामों में भी देखते हैं कि जब किसी जाति विशेष की उन्नति आवश्यक होती है, तब उसकी व्यष्टि शक्तियां मिलाई जाती हैं, और उससे शीघ्र ही अभीष्ट सिद्ध होता है। साधना जगत् में भी ठीक ऐसा ही होता है।

इन्द्रियों ने स्वतन्त्रता त्याग कर एक ही उद्देश्य से सब शक्ति एकत्र की है इसी से मन्त्र में कहा है—"तच्चैश्यं समगच्छत"। एकता ही कार्य-सिद्धि का अमोघ उपाय है। इन्द्रियों की एकता क्या और पृथक्-भाव ही क्या ? मानलो कि जब तक

केवल चक्षु इन्द्रिय भौतिक रूप से आकृष्ट न होकर विश्वभ
मात्र रूप में लक्ष्य स्थापन करने का प्रयास पाती हैं, कान
नाक आदि उसके सहाय नहीं होते, तब तक सौ चेष्टा करने प
भी वह पूर्ण सफल नहीं हो सकती, किन्तु जब अन्यान्य इन्द्रि
के साथ मन प्राण और ज्ञान का सम्मिलन होता है। तब व
असीम शक्ति सम्पन्न होकर अभीष्ट पाने में समर्थ होती है
अन्यान्य इन्द्रियों के सम्बन्ध में भी ऐसा ही समझिये। इस
सिवाय उनकी परस्पर सहायता भी है। प्रत्येक साधक अप
जीवन में ये विषय कुछ चिन्तन करने पर ही समझ सकेंगे।

इन्द्रियों की पृथक्-पृथक् प्रकाश शक्ति प्रत्यक्ष करने व
उपाय, अलग-अलग इन्द्रियों में समाहित होना है। या
रखिये कि इस साधन-समर में राजा सुरथ समाधि के सा
अग्रसर होता है। जीव जब समाधिस्थ होने में समर्थ होता है
तब ही ये तत्त्व फुरते हैं। जो एकमात्र अखण्ड घन चि
इन्द्रिय रूप प्रणालियों में प्रविष्ट हो रहा हैं, अर्थात् इन्द्रि
विशिष्ट होकर प्रकाश पाता है, उस परिच्छिन्न चित्-शक्ति
समाहित होने से ही विभिन्न इन्द्रियों की अलग-अलग प्रका
सत्ता लक्षित होती है। ऐसा कर सकने से ही इन्द्रियों
स्वभाव और अवस्था इच्छानुसार बदली जा सकती है
इसी का नाम इन्द्रिय जय है। अस्तु, वे विभिन्न प्रका
वा ज्योति जुदे-जुदे रंग की लक्ष्य में आती रहती हैं। वि
साधकों की स्वाभाविक विभिन्नतानुसार भी उनके अलग-अल
रंग होते हैं। जिसका जो गुण अतिरिक्त मात्रा में प्रकाशशील
उसकी इन्द्रिय-शक्ति का प्रकाश भी उसी गुण के रंग वाला हो
है। सत्वगुण-शुभ्र, रजोगुण–रक्त और तमोगुण कृष्णवर्ण है
यही तीन गुणों के मौलिक रंग हैं। इनकी मिलावट की कम
बेशी से इन्द्रियों की शक्ति की वर्णगत विभिन्नता लक्षित होती है

यहां भी "महत्तेज:" शब्द से महत्तत्त्व ही समझना चाहिये। सब से अधिक प्रकाश-शीलता के कारण ही इस मन्त्र में महत् को तत्त्व न कह कर तेज कहा गया है। इन्द्रियां जब-तक स्वतन्त्रभाव से प्रकाश पाती हैं तब तक साधक इस तेज का पता भी नहीं पाते। जब सब इन्द्रियों का व्यष्टि प्रकाश एक समष्टि प्रकाश के ऊपर पहुंचता है तब ही समझा जाता है कि यह महत्तत्व है। यही धी वा गायत्री है; यही सृष्टि, स्थिति, प्रलय की अधीश्वरी है।

यहाँ पहुंचने से "ऐक्य" अर्थात् एक भाव ही विशेष भाव से प्रकाशित होता है। कैसा मनोरम यह स्थान! एक साथ एकत्व बहुत्व का प्रकाश कैसा होता है, वह इस स्थान पर आकर साधक समझ सकते हैं। विस्मय और आनन्द से मन्त्रमुग्धवत् हो जाते हैं। आचार्य शंकर ने यहीं खड़े होकर उच्च कण्ठ से गाया था—"विश्वं दर्पण दृश्यमान -नगरी तुल्यं निजान्तर्गतं।"

अतीव तेजसः कूटं ज्वलन्नमिव पर्व्वतम्।
ददृशुस्ते सुरास्तत्र ज्वालाव्याप्तदिगन्तरम् ॥११॥

अनुवाद—उन देवताओं ने देखा कि-प्रज्वलित पर्वत की भांति तेजो राशि की शिखायें दिगन्तपरिव्याप्त हो रही हैं।

व्याख्या। व्यष्टिशक्ति समष्टिभावापन्न हुई है, इसी से इतना स्थूल और घन होकर समस्त दिङ्-मण्डल व्याप्त किया है। देवता उसे चाक्षुप प्रत्यक्ष करने लगे। साधना मार्ग में ऐसी प्रत्यक्षता जब तक न आवे, तब तक साधक की गति तीव्रतर नहीं होती। अनुमान के ऊपर साधना कब तक चले? अत्यन्त धीर और सहनशील व्यक्ति को भी अन्त में अश्रद्धा का भाव आ ही जाता है। योग दर्शन में भी कहा है–"अलब्ध भूमिकत्व"

साधना का अन्तराय है। अतएव प्रत्यक्षता की अत्यन्त आवश्यकता है। मातृकृपा से चित्त और इन्द्रिय-व्यापार अन्तर्मुखी होकर, कुछ स्थिर होने से ही ऐसा दिगन्त-व्यापी ज्योति-दर्शन होता है। जगत् के किसी ज्योतिर्मय पदार्थ के साथ उसकी तुलना नहीं है। योगशास्त्र ने जिसको "विशोका" व "ज्योतिष्मती" वृत्ति नाम से उल्लेख किया है, जिसके उदय से साधक का सब प्रकार का शोक दूर होता है, जिसका प्रकाश होने से जीव तीर की तरह भगवान् की ओर चलने लगता है, साधक जिसको ईश्वरीय ज्योति व मा के गात्र की प्रभा कहते हैं, वह दृष्टि आते ही साधक इकटक देखता रह जाता है। इसी से मन्त्र में "ददृशु" पद का प्रयोग हुआ है।

यहाँ कुछ साधना की बात कहते हैं—पूर्व जो चिदाकाश का विषय कहा गया है, उसमें ब्रह्म के चार पद आरोप करते हैं, दिक्सत्ता, अनन्तसत्ता ज्योतिःसत्ता और मन–प्राणसत्ता, ब्रह्म के ये चार पाद श्रुति में कहे हैं। चिदाकाश में क्रम से दिक् और अनन्तसत्ता का आरोप करके तृतीयपाद ज्योतिःसत्ता आरोप में अभ्यास होने से वह आकाश दिगन्तव्यापी ज्योतिर्मय होकर प्रकाशित होता है। सूर्य, चन्द्र, अग्नि और बिजली, ये ही ब्रह्म के ज्योतिष्पाद हैं। उनके आरोप से दिगन्तव्यापी अतुलनीय ज्योति प्रकाशित होती है। यह ज्योतिर्मय ब्रह्मदर्शन का एक प्रकार का उपाय है। इसके सिवाय प्रत्येक इन्द्रिय की सत्ता की सत्यप्रतिष्ठा करके, प्राण और बुद्धि में पहुंचने पर अर्थात् केवल अस्मिता में उपस्थित होने पर भी एक अखण्ड चिन्मय ज्योति प्रकाशित होने लगती है, यही "अतीव तेजसःकूटम्" है।

अतुलं तत्र तत्तेजः सर्वदेवशरीरजम्।
एकस्थं तदभून्नारी व्याप्तलोकत्रयं त्विषा ॥१२॥

अनुवाद ! समस्त देवताओं के शरीर से उत्पन्न वह अतुलनीय तेज एकस्थ अर्थात् सम्मिलित होने पर वह एक नारीरूप में परिणत हो गया। उसकी कान्ति तीनों लोक में व्याप्त हो गई।

व्याख्या—पूर्व जिस ज्योति की बात कही गई है। वह केवल तेजस्तत्व नहीं है अर्थात् तत्त्ववत् कोई ज्योतिर्म्मय सत्तामात्र नहीं है। वह "एक जन" है—उसका व्यक्तित्व है। सब व्यक्ति-धर्म उसमें पूर्ण भाव से प्रगट हैं। दर्शन श्रवण घ्राण गमन ग्रहण निग्रहानुग्रह शक्ति इत्यादि सब धर्म्म उक्त ज्योतिर्मण्डल में विराजमान हैं। यह समझाने ही के लिये "एकस्थं तदभून्नारी" केवल यही प्रकाश किया है कि वह ज्योति एक नारी व शक्ति विशेष है। नारी शब्द से केवल एक स्त्री-मूर्ति ही न समझिये। नारी शब्द का अर्थ शक्ति है; वही साधक का इष्टदेव है। यहाँ नारी शब्द से—कृष्ण, काली, शिव आदि कोई भी मूर्ति समझनी होगी। प्रत्येक मूर्ति ही शक्ति विशेष है। शक्ति जब घनीभूत होती है, साधक के करुण-क्रन्दन से उमंगती है, तब ही विशिष्ट मूर्ति से प्रगट होती है। यहाँ नारी शब्द का अर्थ मूर्ति है। मूर्ति शब्द स्त्रीलिङ्ग होने से ही मन्त्र में नारी शब्द का प्रयोग हुआ है। किस प्रकार विशिष्टमूर्ति का दर्शन होता है। यहाँ "एकस्थं तदभून्नारी" शब्द से वही वर्णित हुआ है। सब साधकों को ऐसे ही भाव से इष्ट दर्शन होता है। कृष्ण विष्णु शिव आदि मूर्तियों के आविर्भाव का यही रहस्य है सबसे प्रथम एक घन चिन्मय ज्योति वा प्रकाश सत्ता का अनुभव होता है। फिर वह साधक के भक्ति हिम से घनीभूत होकर संस्कारानुसार मूर्ति में परिणत होता है। इसके सिवाय अनेक स्थानों में मन की कल्पना घनीभूत होकर भी विशिष्ट मूर्ति दर्शन हो सकता है। किन्तु वह मुक्ति प्रदान अथवा साधक का अभीष्ट पूरण नहीं कर सकता।

साधक ! क्या तुम अपनी इष्टमूर्ति का इस तरह चाक्षुष प्रत्यक्ष करके धन्य होना चाहते हो ? वह कुछ कष्टसाध्य होने पर भी बिलकुल असम्भव वा दुर्लभ नहीं है। तुम कितने ही चञ्चलचित्त क्यों न हो, कितनी ही विक्षिप्तता तुम में क्यों न रहे तुम यत्नपूर्वक सत्यप्रतिष्ठा के मार्ग पर आगे बढ़ो; जो चिदाकाश प्रकाशित हो उसमें ज्योतिःसत्ता का आरोप करके अर्थात् मूर्ति-दर्शन के लिये धीरभाव से अपेक्षा करो और देखने के लिये सरल प्राण-शिशु की तरह कातर होकर रोते रहो। फिर देखोगे कि थोड़े ही दिनों में तुम्हारी आशा पूर्ण करके, स्थूलदेह की नाईं देहधारी इष्टदेव आविर्भूत होंगे। यह केवल कहने मात्र ही नहीं है, सचमुच मनुष्य ऐसा देख पाते हैं। किन्तु साधक इससे यह न समझलें कि केवल ऐसी कोई विशिष्ट मूर्ति-दर्शन करने से ही तुम्हारा जीवन धन्य हो जायगा। बल्कि जब तक वह मूर्ति महत्वयुक्त न होगी, जब तक प्राण-मय मूर्ति-दर्शन न होगा, तब तक वह तुमको कृतार्थ नहीं कर सकेगी।

जो प्रथम से ही किसी विशेष मूर्ति के द्वारा साधना करते में अभ्यासी हैं, वे उस मूर्ति को केन्द्र करके चारों ओर ब्रह्माण्ड व्यापी महतीशक्ति धारण करने की चेष्टा करें। जैसे सूर्य के एक स्थान में रहने पर भी उनके प्रकाश और आकर्षणशक्ति द्वारा समग्र जगत् व्याप्त होरहा है, ठीक उसी तरह तुम्हारी इष्ट-मूर्ति भी विश्वव्यापी महती शक्ति युक्त होकर नित्य विराज रही है। ऐसा अनुभव करने की चेष्टा करो। ऐसा महत्त्वयुक्त मूर्तिदर्शन ही यथार्थ दर्शन है। ऐसे दर्शन के बाद, उसमें आत्मभाव से संस्थित होने का अभ्यास करते हैं; अर्थात् जो हमारे अन्तर में आत्मा रूप से विराजता है, वही बाहिर महत्त्वमण्डित इष्ट-मूर्ति से प्रकाशित है, ऐसा समझते हैं। गीता में कहा है:—

"तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः । नाशयाम्यात्म भावस्थो ज्ञान दीपेनभास्वता ॥" १० । ११ ॥ जब तक मूर्ति आत्मभावस्थ न हो, अर्थात् जब तक इष्ट देवता स्वयं अनुकम्पा-पूर्वक साधक के आत्म रूप से प्रकाशित न हो, तब तक अज्ञानान्धकार किसी तरह विनष्ट नहीं होता। अतएव केवल इष्ट मूर्ति ही क्यों, जगत् की प्रत्येक मूर्ति को आत्मभावस्थ कर दर्शन करते हैं। परन्तु बात यह है कि इष्टमूर्ति में आत्मभावस्थ हो सकने से और जगह वह सहज साध्य होता है, और इस तरह सर्वत्र आत्म-भावस्थ हो सकने से साधक के सब संशय दूर हो जाते हैं, अज्ञान तिरोहित हो जाता है, तब अमृत का आस्वाद पाकर साधक अमर हो जाता है, अपने को नित्य शुद्ध मुक्त स्वरूप समझ सकता है।

किस उपाय से मूर्ति आत्म-भावस्थ हो ? प्रथम इष्टमूर्ति को आत्मीय कर लेते हैं। आत्मीयता ही आत्मा का धर्म्म है । वह हमारा एकान्त आत्मीय है, यह समझते हैं। जगत् में आत्मीयों से जितना प्यार करते हो अन्ततः उतना प्यार भी उनकी ओर फिराने की चेष्टा करो। यदि कभी तुम्हारा वह अशुद्ध बिन्दुमात्र प्रेम उनका चिन्मय अंग स्पर्श करे, तो वही उसको विशुद्ध और हजार गुना बढ़ा देंगे। तब तुम प्रेम में विभोर हो जाओगे। जिस घड़ी विभोर होगे, उसी क्षण इष्ट मूर्ति तुम्हारे आत्मभावस्थ होगी। याद रखिये विभोर हुए बिना आत्मभाव नहीं खिलता। श्रीमद्भागवत में कहा है कि व्रजधाम में गोपियों ने श्रीकृष्ण के साथ रासलीला तक की थी, किन्तु श्रीकृष्ण ही 'आत्मा' हैं, यह पराभक्ति, और वे ही सृष्टि स्थिति प्रलय के एकमात्र अधीश्वर हैं, यह महत्त्व ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ था, तब तक उन्होंने श्रीकृष्ण को पाकर भी नहीं पाया। इसी से उन्होंने गोपियों को अपनी-अपनी आत्मा रूप में साधना का उपदेश देकर आप

दीर्घ समय के लिये दूर द्वारका चले गये थे। इसी से कहा है कि मूर्तिदर्शन करने ही से भगवत् प्राप्ति नहीं होती बल्कि उसका महत्त्व अनुभव करना चाहिये। जितना महत्व अनुभव होगा अर्थात् जितने महत्व से वे प्रकाशित होंगे। सिर्फ एक बार दर्शन से साधक स्वयं उतने महत्वयुक्त हों। जीव! तुम मा का जितना अंश देखोगे, मा के उतने ही लक्षण तुम में अवश्य प्रकाशित होंगे। मा के देख लेने पर भी तुम्हारी संसार आसक्ति कम न हुई हो, सुख दुःख हर्ष विषाद का द्वन्द्व कम न हुआ हो, चित्त में कुछ प्रशान्त भाव न आया हो, मृत्युभय दूर न हुआ हो, ऐसा हो नहीं सकता। मा सर्वतः स्पृहा शून्य, निर्विकार, अमृत स्वरूप है, इतने बड़े ब्रह्माण्ड के सृष्टि स्थिति प्रलय कार्य्य में नित्य लीन रह कर भी धीर स्थिर और निर्विकल्प है। अर्जुन तुम ऐसी मा को एक बार देख कर भी साधारण जीवों की तरह सुख दुःख में चञ्चल, मृत्यु से भयभीत, संसार में आसक्ति युक्त रहोगे? ऐसा कभी हो नहीं सकता। किन्तु वह दूसरी बात है:—

अस्तु, चक्षु आदि इन्द्रियाधिष्ठित देवताओं का जो प्रकाश भाव है, वही तेज है। वही एकीभूत हुआ है। एक महा प्रकाश ने समस्त विश्व ढक लिया है। हाँ, प्रकाश की ऐसी सामर्थ्य अवश्य है। समग्र विश्व विलुप्त है। इसका खुलासा यह है— तुमने 'ऐक्सरे' नामक डाक्टरी यन्त्र का नाम सुना होगा। इस यन्त्र द्वारा डाक्टर लोग शरीर के भीतर स्थिति हड्डियों (चोट आदि) की परीक्षा करते हैं। उस यन्त्र की किरण रेखाओं में ऐसी अद्भुत सामर्थ्य है कि चर्म, मांस, रक्त आदि कोमल वस्तुओं को भेद कर चली जाती हैं, ठीक उसी तरह स्वप्रकाश विज्ञान ज्योति प्रकाशित होने से, जगत के सब पदार्थ भेद कर चली जाती हैं; अतएव जगत् सत्ता विलुप्त हो जाती । यहां तक कि, देश काल तक प्रतीति नहीं होती। 'ऐक्सरे' यन्त्र की किरणें केवल

अस्थि वा वैसी ही कठिन वस्तु से रुक जाती हैं; किन्तु विज्ञान-ज्योति किसी में नहीं रुकती।

यह कैसे हो सकता है, उसे समझ लीजिये। प्रकाश जिस स्थान में रुकता वा बाधा को प्राप्त होता है, उसी को प्रकाशित करता है। सूर्यादि किरणों से जो हम रूपादि प्रत्यक्ष करते हैं, उसका भी यही रहस्य है। सूर्य्य की किरणें जिस वस्तु से रुकती हैं अर्थात् भेद कर नहीं जा सकतीं, उसी वस्तु को हम देख सकते हैं। आकाश और वायु-मण्डल भेद कर सूर्य की किरणें चली आती हैं, इसी से वे अदृश्य हैं; किन्तु पृथिवी पर आकर रुक जाती हैं, इसी से पार्थिव वस्तुएं हम देख पाते हैं। और भी देखिये—तुम ईंट की बनी हुई भीति देखते हो, इसका अर्थ यह है कि तुम्हारे नेत्रों से जो प्रकाश-शक्ति निकलती है, वह दीवार तक पहुंच कर फिर आगे नहीं जा सकती। वे रुक कर लौट आती हैं, इसी से तुम दीवार देखते हो। दीवार के पार क्या है, उसे दिखा देने की सामर्थ्य तुम्हारे नेत्रों से निकली हुई प्रकाश-शक्ति में नहीं है। इसी तरह हम जो कुछ देखते, सुनते, सूंघते, चखते और छूते हैं उनका बहुत कुछ अंश हम नहीं जानते। जानने का अर्थ होता है केवल एक अंश जानना। हमारा ज्ञान इतना सङ्कीर्ण है कि ज्ञेय वस्तु का सम्पूर्ण अंश हमको जना नहीं सकता। इसी से जगत् सम्बन्धी ज्ञान का नाम अज्ञान व ईषत् ज्ञान है। कुछ धीर भाव से विचार देखिये, जिस समय तुम कहते हो—"हम वृत्त जानते हैं" उस समय में उस जानने के बगल में ही एक बड़ा मस्त अज्ञान भी रहता है। "वृत्त जानता हूं" यह कहने से उसी मुहूर्त में "वृत्त के सिवाय और कुछ नहीं जानता" ऐसा कुछ अज्ञान उस ज्ञान के पास ही खड़ा रहता है। अतएव जगत् का प्रत्येक विषय इस जानने और न जानने के द्वारा सीमित है। ... है कि

ज्ञान ही जना देता है। वेदान्त दर्शन कहता है—इस ज्ञान क
नाम ब्रह्म है और अज्ञान का नाम माया है। अस्तु, प्रका
कहने से केवल ज्ञान ही समझाया गया है। अन्तर में जो ज्ञा
है, बाहिर वही तेज है; अन्तर में जो अज्ञान है, बाहिर व
अन्धकार है। ज्ञान होता है चित् अर्थात् चेतन। इस ज्ञा
वा चैतन्य का अनुभव कर सकने से ही स्वप्रकाश वस्तु
पता पाया जाता है। वह स्वप्रकाश वस्तु तब दिगन्त तक फै
जाती है। ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो उस प्रकाश को रोक सके
सर्वतो-भेदी वह प्रकाश सब पदार्थों की सत्ता भेद कर प्रत्ये
परमाणु को शतधा, सहस्रधा भेद कर महती व्याप्ति प्राप्त कर
है। अतएव जगत् सत्ता विलुप्त हो जाती है। कोई भी पद
ज्ञान का स्वप्रकाशत्व रोक नहीं सकता।

इस अवस्था में देश और काल का अस्तित्व भी नहीं रह
क्योंकि दो पदार्थों की आड़ से हम देश (स्थान) नामक व
अनुभव करते हैं। यदि किसी पदार्थ की प्रतीति न हो तो
का ज्ञान नहीं रह सकता। देश के बाद होता है काल। क
क्या? दो क्रियाओं की आड़ से काल नामक वस्तु का
अनुभव होता है। कोई कोई क्रिया के अधिकरण को ही क
कहते हैं। कोई कहते हैं क्रिया ही काल है। वास्तव में
मतभेदों से वस्तु-सत्ता की कुछ हानि नहीं। उनके सब ही
सत्य हैं। अस्तु। किन्तु हम क्रिया के द्वारा ही काल समझते
एक बार सूर्योदय देखने से दूसरे सूर्योदय तक के समय
एक दिन कहते हैं। वस्तुतः काल अखण्ड ही रहता है, ज
आता नहीं। हम चञ्चल-गतिशील रूप से देखते हैं "क
गच्छति"। वास्तव में यह बात नहीं है। तेज गाड़ी पर स
मनुष्य जैसे आस पास की भूमि को चलती हुई देखता
वैसा ही इसे समझ लीजिये। अस्तु, हम कह रहे थे कि स्वप्र

ज्ञान के उदय से काल बोध छिप जाता है। पूर्व कहा था पदार्थ-सत्ता विलुप्त करके वह ज्ञान उदय होता है। पदार्थ के अभाव से क्रिया-बोध रह नहीं सकता। क्रिया-बोध तिरोहित होने पर काल-ज्ञान अपने आप विलुप्त होता है। यहाँ एक बात कहते हैं—इस देश काल के अतीत स्वप्रकाश चैतन्यमय सत्ता में अपनीत होकर ही आचार्य शंकर ने जगत् को मिथ्या भ्रान्ति व अध्यास नाम से घोषित किया है। वास्तव में वहाँ जगत् कहने को कुछ नहीं रहा, न कभी था, न होगा, ऐसा भी विचार नहीं होता।

हम अनेक अवान्तर बातों की आलोचना कर चुके, अब फिर संक्षेप में मन्त्र के अर्थ की आलोचना करलें। देवताओं का जो व्यष्टि-प्रकाश है वह समष्टि-भूत होने पर एक दिगन्त प्रसारी ज्योतिः वा प्रकाश अनुभव होता है। प्रथमतः वह एक आकाशीय-तत्व जैसा प्रतीत होता है। परन्तु वास्तव में वह तत्व-मात्र नहीं है। उक्त दिगन्त व्यापी ज्योति-सत्ता का सर्वेन्द्रिय-धर्म्म है। यद्यपि कोई विशिष्ट इन्द्रिय नहीं है, तथापि सब इन्द्रियों के धर्म्म उसमें पूर्ण भाव से भासित हैं; यानी उसका व्यक्तित्व है। यह व्यक्तित्व समझाने ही के लिये "एकस्थं तद्भून्नारी" की बात कही गई है। वह केवल एक ज्योतिः नहीं है वह एक जन है, यही इस मन्त्र का विशेष तात्पर्य्य है। इसके सिवाय साधक की इष्टमूर्ति भी ऐसी ही स्वप्रकाश दिगन्त-व्यापी ज्योतिः-सत्ता में से ही प्रकाशित होती है, यह बात भी प्रथम कही गई है।

यद्भूच्छाम्भवं तेजस्तेनाजायत तन्मुखम्।
याम्येन चाभवन् केशा बाहवो विष्णुतेजसा ॥१३॥

अनुवाद—शम्भू के तेज से उस मूर्ति का मुख मण्डल

गठित हुआ था, इसी तरह यम के तेज से केश और विष्णु
तेज से बाहु गठित हुए थे।

व्याख्या—क्रम से पाँच मन्त्रों में उक्त मूर्ति के विभि
अवयव-चिह्न वर्णित होते हैं। यद्यपि सम्मिलित देवताओं
समष्टि तेजोराशि ही मूर्तिरूप से प्रगटित है, तथापि ऋषियों
सूक्ष्म-दृष्टि से समष्टि के भीतर व्यष्टि अंश भी छूटा नहीं। इ
से किस देवता के तेज से मा का कौनसा अवयव गठित हु
था, वह कहते हैं। शाम्भव तेज, शम्भु, शिव, तत्सम्बन्धीय ते
अर्थात् ज्ञानमय प्रकाश शक्ति, उसके द्वारा मा का मुखमण्ड
गठित हुआ था। मुख में ही पंच ज्ञानेन्द्रियों के द्वार विद्यमान है
यद्यपि स्पर्शेन्द्रियत्वक् सर्व शरीर व्यापी है, तथापि अधर
में ही उसका विशेष अनुभव होता है। ज्ञान का जो पाँच प्रका
का अभाव है, वह मुखमण्डल पर ही विशेष भाव से प्रतिभा
हैं, इसी से ज्ञानमय देवता शिव के तेज से मुख कहा है।

याम्य—यम सम्बन्धीय तेज। यम संयमनकर्ता,
परिच्छिन्न खण्ड खण्ड प्रकाश वा उच्छृङ्खल गति को संयत कर
अखण्ड महाकाल सागर में निमज्जित करता है, इसी से इसक
नाम यम है। शास्त्र में इसको कृष्णवर्ण कहा गया है। बहुत
अर्थात् सर्ववर्ण जहाँ बिलकुल मिलाये जायें, वह जगत्
पक्ष में घोर अन्धकार स्वरूप अवश्य है। असल बात यह है
जिस स्थान में सब भावों का विलय होता है, वह स्थान
प्रत्यक्षीभूत हो, तब उसे घोर-कृष्णवर्ण कहे बिना रहा नह
जाता। इसी से यम के तेज से मा की घन कृष्ण अलकें
केशराशि है। मा की पीठ की ओर शिर से गुल्फ तक लम्
कृष्ण केशराशि मानो सन्तान से कहती है कि मेरे पीछे की
क्या है, वह तुम नहीं देख सकते। महाकाल शक्ति के पर-पा
क्या है, वह वाक्य और मन के अगोचर हैं। इसी से मा ने मुं

केशी होकर महाकाल प्रकाश का पिछला भाग ढक रक्खा है।

विष्णु के तेज से बाहु। विधारण-शक्ति बाहु से ही प्रकट होती है। इसी से मा के बाहु जगद्विधारक विष्णु के तेज से उत्पन्न हुए थे। यहाँ एक बात याद रखिये—मन्त्र में "बाहवः" यह बहुवचनान्त बाहु शब्द का प्रयोग है। अतएव यह मूर्ति चतुर्भुजी, दशभुजी, अष्टादशभुजी, अथवा सहस्रभुजी भी हो सकती है। वैकृत रहस्य में लिखा है—"अष्टादशभुजा पूज्या, सा सहस्रभुजा सती"। यह महालक्ष्मी मूर्ति अष्टादश-भुजी अथवा सहस्रभुजी दोनों तरह से हो सकती है। जिस साधक के जैसे संस्कार हैं, मूर्ति का आविर्भाव भी वैसा ही होता है। अतएव इसमें विवाद करना वृथा है। स्थूल बात यह है कि मा का कोई खास रूप नहीं है, तो भी ये सब रूप उसी के हैं। जो साधक जैसे संस्कार लेकर मातृ-मूर्ति गठित करते हैं, मा उसी मूर्ति से आविर्भूत होती है।

असल बात है—"निर्गतं सुमहत्तेजः।" महत्तेज ही मूर्ति रूप से साधक का अभीष्ट पूरा करने के लिये विशेषभाव से प्रकटित हुआ। जिस वस्तु द्वारा मूर्ति गठित हुई हो, वह वस्तु यदि मिल जाय, तो संकल्प के अनुसार कोई भी मूर्ति चाहे किसी समय देख सकते हैं। जिस कुम्हार के मिट्टी आदि सामग्री हाथ में है, वह बारहों महीने तरह-तरह की प्रतिमा बना कर पैसा पैदा कर सकता है। उसी तरह जिस साधक के महत्तेज वश में होगया है अर्थात् जो इच्छामात्र से ही महत्तत्त्व तक प्रत्यक्ष कर सकता है, वह जब जो मूर्ति प्रत्यक्ष कर के अपनी तृप्ति करना चाहे तब उसी मूर्ति की पूजा करके विशिष्ट आनन्द प्राप्त कर सकता है। इसी से हिन्दू शास्त्र में प्रायः बारह महीने जुदी-जुदी देव-मूर्ति गठन कर अलग-अलग पूजा विधि देखी जाती है। इसी सें भारतवर्ष में अनेक प्रकार की देव-देवी

साधक! अब भी यदि भिन्न-भिन्न मूर्तियां देख कर तुम्हें अनेक-ईश्वर-बोध के कलङ्कित संस्कार बने रहें, तो केवल यह देखते रहो कि क्या वस्तु मूर्ति के आकार से आकारित है। इस अनन्त विचित्रता में जो समरस, आनन्दघन एकत्व-अखण्ड भाव से विराजमान है, उसकी ओर लक्ष्य फिराओ तो भेद-ज्ञान दूर हो जायगा। साधना में कहां दोष है, उसे लक्ष्य कर आगे बढ़ो। जहां देखो—भेदवाद, बहुवाद परमता का निन्दावाद हो—वह मार्ग ठीक नहीं है। साधना के प्रारम्भ में इस बहुत्व विषयक संस्कार की जड़ मेटनी होती है। जो ऐसा कर सकते हैं, जो शिष्य के हृदय का बहुत्व-विषयक घोर अन्धकार मिटा सकते हैं, केवल मुख से वा उपदेश से नहीं, बल्कि कार्य्य से, जो ऐसा कर सकते हैं, वे ही गुरु का यथार्थ कार्य्य कर सकते हैं। यथार्थ ही वे अहैतुक कृपासिन्धु हैं। जीव! याद रक्खे कि जब तक तुम्हारा भेद ज्ञान दूर न हो तब तक तुम मृत्यु के हाथ से नहीं छूट सकोगे—"मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" जो व्यक्ति इस जगत् में नानात्व अर्थात् बहुभाव दर्शन करता है वह मृत्यु से मृत्यु-मुख में पड़ता है। अगणित जन्म मृत्यु का पेषण, सुख-दुःख के प्रबल कोड़ों की मार किसी तरह दूर नहीं होती, हो नहीं सकती—जब तक यह नानात्व दर्शन रहता है।

अस्तु, और एक बात यहां बतलाते हैं कि जो मूर्ति के विरोधी हैं, नाना रूप कल्पनामात्र कह कर उड़ा देना चाहते हैं, वे याद रक्खें कि वह जो "सुमहत्तेजः" इस नारी रूप से—मूर्ति रूप से—प्रगट हुआ है, जिसके हाथ पैर आदि अवयवों का संस्थान वर्णित हुआ है, वे यथार्थ अवयव नहीं हैं, उन-उन अवयवों के धर्म्ममात्र हैं; जैसे मुख नहीं तो भी मुख का धर्म्म है, हाथ नहीं है पर हाथ का धर्म्म

की मूर्ति पूजा प्रचलित है। यह अन्य किसी देश में नहीं है। अल्पज्ञ जनों की इसमें भेद-दृष्टि उत्पन्न हो सकती है; किन्तु याद रखिये, ऋषियों की चरण-रज से पवित्र किये देश में ऐसा कोई विधान न देख पड़ेगा, जिसके भीतर अति गम्भीर आध्यात्मिकता और पूर्ण विज्ञान प्रकट न होता हो। वर्तमान शिक्षा के दोष से साधना जगत् में भी उच्छृङ्खलता आगई है। इसी से अनेक देव-मूर्तियों की पूजा-विधि देख कर अल्पज्ञ-जन निःसङ्कोच हिन्दुओं को बहु-ईश्वर-वादी बतला कर निन्दा करते हैं। खेद है कि ऐसा निन्दा-वाद आजकल किसी-किसी भारतवासी के मुख से भी सुना जाता है। काल की अलङ्घनीय-शक्ति को धन्य है! जो यथार्थ एकेश्वरवादी हैं–जिनकी वाणी– "एक मैं बहु होऊं" जो उसी "एकेश्वर को" अपने में, विश्व में, प्रतिपरमाणु में, निर्विकार भाव से देखते थे; वे जिस देश के लोग थे, उस देशवासियों के मुख से ऐसी बात यथार्थ ही मर्मभेदी है; परन्तु वह दूसरी बात है।

हमारे देश में यह देवता-भेद-विषयक ज्ञान इतना प्रबल (मज्जागत) हो गया है कि जो धर्म्म-चर्चा करते हैं, जो विधि-पूर्वक साधन भजन करते हैं, उनमें भी अनेक लोग कहते तो हैं कि कृष्ण, काली, शिव, दुर्गा, राम, विष्णु सब एक हैं, केवल आकार और नाम का भेद है; परन्तु भीतर-ही-भीतर भेद ज्ञान पुष्ट करते हैं। जो जिस मूर्ति में विशेष भाव से अनुरक्त है, वह उसके सिवाय अन्य मूर्ति देख कर उसे अपनी 'इष्टमूर्ति' नहीं समझ सकता। ऐसा क्यों होता है? ज्ञान के अभाव से। जिस ज्ञान से भेद-बुद्धि दूर हो, भेद के संस्कार न रहें, ऐसे ज्ञान का मनोयोग न करना ही इसका हेतु है। इसी से कहा है कि— जिस वस्तु से मूर्ति बनी है, उसकी ओर परिलक्ष्य और अनुराग रहे तो फिर अनेक मूर्तियों में भी भेदभाव न रहे।

"सर्वेन्द्रिय गुणाभासं सर्वेन्द्रिय विवर्जितं" (गीता १३। १५) अथवा "अपाणि पादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्य-कर्णः (श्वेता० ३। १६) यह रहस्य समझाने के लिये ही यह मूर्ति और उसके अवयवों का उपदेश हुआ है। सुमहत्तेज व महत्तत्त्व रूप जो प्रकाश है वह सर्वेन्द्रिय-रहित होने पर भी सब इन्द्रिय-धर्मों से युक्त है। यही हाथ, पैर आदि अङ्गों के चिह्न-वर्णन का उद्देश्य है।

आज कल के नवीन वेदान्ती जो नेति-नेति मार्ग के साधक हैं वे जब देह, इन्द्रिय, मन तक परित्याग करते हुए विज्ञान पर आरोहण कर सुमहत्तेज प्रत्यक्ष करते हैं; उसी समय उस विज्ञान को सर्वेन्द्रिय-विवर्जित होने पर भी सर्वेन्द्रिय धर्म्म सहित धारण कर सकने पर ही चण्डी का यह उपदेश—इस "एकस्थं तद् भृङ्गारी" वाक्य की सार्थकता अनुभव कर सकेंगे। यह आने पर भक्तिभाव अपने आप उपस्थित होता है। यह दो चार बूंद आंसुओं की भक्ति नहीं है, यथार्थ भक्ति है। कितना ही नेति नेति क्यों न कहो, विज्ञानमय कोष की वह विशालता, वह महत्त्व, वह व्याप्ति, वह विभुत्व, वह ईश्वर-धर्म्म देखने पर उन्हें एकान्त आश्रय कहे बिना रहा नहीं जाता। यह आश्रय आश्रित-ज्ञान उदय होने से यथार्थ भक्ति का भाव उदय होता है और इसी आश्रय-ज्ञान से विज्ञान का व्यक्तित्व खिल उठता है। फिर जो सांख्य और योगावलम्बी हैं, वे समाधि-योग से रूप रसादि तत्त्व साक्षात् कर के जब इस महत्तत्त्व पर पहुंचते हैं, तब उसे केवल तत्त्व न समझ कर ईश्वर भाव दर्शन करने पर ही इस नारी या मूर्ति का रहस्य अनुभव कर सकेंगे। सांख्य मत में यद्यपि ईश्वर स्वीकार नहीं हैं, तथापि महत्तत्त्व साक्षात् करने वाले को "जन्य ईश्वर" कहा है। अतएव महत्तत्व पर पहुंचने पर उसे ईश्वर कहने में आपत्ति क्या है; यथार्थ ही सब ईश्वर धर्म

ईश्वर-धर्म्म यहाँ पर प्रगट हैं और उपासना ईश्वर की ही होती है, परमात्मा वा पुरुष की उपासना नहीं होती। ईश्वरत्व में पहुंचने पर, पुरुष या परमात्मा अर्थात् निर्गुण स्वरूप में अवस्थान अनायास साध्य होता है।

(१) जीवत्व पहली सीढ़ी (२) देवत्व दूसरी सीढ़ी (३) ईश्वरत्व तीसरी सीढ़ी और ब्रह्मत्व चौथी सीढ़ी है। अधीनता जीवत्व है और स्वाधीनता ईश्वरत्व है। माया मोह के अधीन हो कर चलना जीवत्व है और माया मोह से मुक्त अवस्था ईश्वरत्व है। जब मनुष्य काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि के अधीन हो कर उनके इशारे पर चलता है, इन्द्रियों का दास हो कर इन्द्रिय-सेवा में ही लगा रहता है, तब वह जीव है और इन्द्रियों और उनकी वृत्तियों को वशीभूत कर के मानव जितेन्द्रिय होता है अर्थात् जब वे वृत्तियाँ उसकी आज्ञाधीन होकर चलती हैं, तब वह ईश्वर तुल्य है अथवा शक्ति के वशीभूत रहना जीवत्व और शक्ति को वश में लाना और उसके द्वारा इच्छानुसार कार्य्य करा लेना ईश्वरत्व है। "पाशबद्धो भवेज्जीवः पाशमुक्तः सदाशिवः।"

वह स्वयमागत एक अवस्था विशेष है, किसी उपाय व कौशल की सहायता से वह नहीं होती। जब तक तुम किसी उपाय या कौशल की सहायता से आगे बढ़ते हो तब तक तुम उपासक व साधक हो। उपासना व साधना इस सुमहत्तेज की ही होती है, जो तेज "एकस्थं तद्भूज्ञारी व्याप्तलोक त्रयंत्विषा"।

श्री श्री चण्डी में महामुनि मेधस् ने समाधिसहाय सुरथ को जो उपाख्यान सुनाया था, वह सब दर्शन-शास्त्र-सिद्ध आध्यात्मिक-रहस्य है, यह समझाने ही के लिये इतनी बातें कही गई हैं। याद रखिये कि समाधि सहाय जीवात्मा प्रज्ञान-रूपी गुरु के समीप बैठ कर ही चण्डी-तत्व प्रत्यक्ष करते हैं।

इसी से प्रथम खण्ड में कहा है—चण्डी विज्ञानमय कोष
साधना है। साधक जन चाहे किसी भी प्रणाली से आगे
न बढ़ें परन्तु सांख्य योग और वेदान्त द्वारा ही चलते
वेदान्त का अद्वैत ब्रह्म विचार, सांख्य का तत्त्व विश्ले
और योग शास्त्र का अष्टाङ्ग योग, ये ऋषि प्रणीत मार्ग हैं,
छोड़ कर कोई एक पग भी आगे नहीं चल सकता। ज्ञान से
अज्ञान से उसी मार्ग में होकर जाते हैं। वही वस्तु पुराण
शास्त्र में विभिन्न भाव से अनेक प्रकार के उपाख्यानों द्व
प्रकाशित हुई है।

सौम्येन स्तनयोर्युग्मं मध्यञ्चैन्द्रेण चाभवत्।
वारुणेन च जङ्घोरु नितम्बस्तेजसा भुवः ॥१४॥

अनुवाद! चन्द्र के तेज से दोनों स्तन, इन्द्र के तेज
मध्यभाग, वरुण के तेज से जङ्घा और उरु और पृथिवी
तेज से नितम्ब देश गठित हुआ था।

व्याख्या—चन्द्र, मन का अधिपति देवता है। अमृत
करना ही चन्द्र का स्वभाव है; इसी से सुधाकर के तेज से मा
पीन-पयोधर युगल (स्तन) प्रगट हुए। हम जो रूप रस
विषय, अथवा सुख दुःख, हँसना रोना आदि भाव लेते हैं
वास्तव में मन के सिवाय और कुछ नहीं है। साधारण दृष्टि
लक्ष्य होता है—मानो मन ही ने हमको बन्धन में कर रक्खा है
शास्त्र भी कहते हैं—"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो
किन्तु—देवी माहात्म्य क्या कहता है, सुनो—"मन ही मा के
स्तन हैं"। यह बात विचारणीय है, साधारणतः जो अज्ञ
पाप, सङ्कीर्णता और परिच्छिन्नता है उसी का नाम मन है।
भी यह मन मातृस्तन्य कहा है। बात क्या है? कल्पित
चैतन्य का मनोरूप अत्यन्त चञ्चल होने पर भी सुख

कुछ किसी का आश्रय दिये बिना वह आत्मसत्ता बोध नहीं कर सकता। जब तक यह कल्पित शिशु भाव वाला चैतन्य कोई उत्तेजक स्पन्दन न पाये, तब तक वह अपना अस्तित्व समझ ही नहीं सकता। देखिये! साधारण मनुष्यों का मन कुछ स्थिर होते ही निद्रित हो जाता है। "मैं हूं" यह बोध भी जाग्रत नहीं रख सकता। मन मानो चैतन्य जीव के आश्रय की लाठी है। जब तक जीव इस कल्पित शिशु भाव को न छोड़े; अर्थात् "मुझको" न पहचाने, तब तक जीव के जो अत्यन्त हितैषी जीव को यथार्थ प्यार करने वाले हैं, वे उसे ऐसे भाव से चलावें कि जिससे जीव अपने "मैं" को न भूल जाय, दिन-दिन पुष्ट होकर अपना असली स्वरूप पहचान सके। यही तो मित्र का कार्य है।

साधक! मा ने तुम को पीड़ित करने के लिये, यातना देने के लिये, तुम्हारे भक्ति विश्वास बल की परीक्षा के लिये, मन रूप शैतान को नहीं छोड़ दिया है, बल्कि तुमको बचा रखने के लिये, दिन-दिन तुमको पुष्ट करने के लिये, स्नेहमयी मा मन रूप स्तन-सुधा देती है। कभी तुम इस मन की ओर विचार देखो, जिसमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, हिंसा, द्वेष, ईर्षा, असूया, पर-निन्दा आदि रहते हैं, वह मन ही मा का स्तन है। तुम दिन रात उच्छृङ्खलता द्वारा क्या करते हो? मातृस्तन्य पान करते हो। रूप, रसादि—विषयाकार से प्रतिक्षण मन आकारित होता है। हां, यही तो मातृ-स्तन्य है। यह चञ्चलता, यह कामादि वृत्तियों की ताड़ना ही तो तुमको दिन-दिन पुष्ट कर लेती है। कार्य्यतः यही मा का स्नेहामृत है। तुम मन के भावों को विषय समझ कर भोगते हो, इसी से परिणाम में विशेष ज्वाला सहते हो। मातृ-स्तन्य जान कर भोग करो—परिणाम अमृतमय होगा। यह केवल कविता रूप प्रशंसा नहीं है, यथार्थ ही साधना का रहस्य है।

दूसरा विचार इस तरह कीजिये—चन्द्रमा का एक न
ओषधिपति है। चन्द्र की किरणों से ही धान आदि के
पुष्ट होते हैं; उसी का परिणाम अन्न है। अन्न से ही हमा
स्थूल देह रचित और पुष्ट होता है। अतएव हम अन्न रूप
मातृ-स्तन्य द्वारा पुष्ट होते हैं, वह भी चन्द्र के तेज के सिव
और कुछ नहीं है। इस तरह क्या अन्नमय कोष, क्या मनो
कोष, क्या विज्ञानमय कोष, सब ही कोषों से हम मातृ-स्त
पान करते हैं। साधक! केवल इसी एक बात की धारणा
सकने से जीवन धन्य होता है; साधना की आवश्यकता पूरी
जाती है। "हमारा जो मन है, वह वास्तविक ही मातृस्नेह है

फिर तीसरी तरह विचार कीजिये। मातृ-स्नेह ही घनी
होकर दो स्तन रूप से जननी की छाती पर प्रगट होता है।
धारणा कर सकने से इन्द्रियपरायणता कम होती है। कामि
के पीन-स्तनों को भोग के चिह्न न देख कर घनीभूत स्नेह दे
का अभ्यास करो। नारी-हृदय में सन्तान का स्नेह इत
अधिक है कि वह घनीभूत होकर बाहिर, स्तन के आकार
प्रकट होता है। पुरुष का स्नेह इतना अधिक न होने ही
कारण पुरुष के स्तन इतने नहीं बढ़ते।

यहाँ पर एक सत्य घटना लिखते हैं। एक छोटे शिशु
मा का वियोग हो गया, अन्य किसी स्त्री ने उसके पालन क
का भार लिया नहीं, स्वयं पिता ही उसका पालन करता रह
वह शिशु पूर्व-संस्कार-वश पिता के स्तन से मुख लगा
स्तनपान का अभिनय करता रहा। क्रम से उस पर पिता
स्नेह दिन-दिन ऐसा बढ़ा कि वह दिन रात शिशु को लिये
रहता था। कुछ दिन बाद उसकी छाती के दायें स्तनसे सच
दूध की धारा निकलने लगी। यह मनुष्य जाति का कायस्थ
उम्र ५० वर्ष के लगभग थी। ग्रन्थकार स्वयं उससे परिचित

अस्तु, हमें इतना ही याद रखना पर्याप्त होगा कि अन्तरस्थित सन्तान-स्नेह अत्यन्त घन होने से ही वह स्थूल देह में स्तन के आकार से प्रकट होता है। नारी मूर्तिमती सन्तान-स्नेह है, इसी से साधारणतः नारी देह में ही दो स्तनों का प्रकाश है।

यह तो मूर्ति की ओर की बात हुई। आध्यात्मिकतत्त्व से भी देखिये, पूर्वोक्त तेजोराशि कोई जड़ ज्योतिमात्र नहीं है, उसमें जो मातृ-स्नेह पूर्ण मात्रा से विद्यमान है, यह समझाने ही के लिये "सौम्येन स्तनयोर्युग्मम्" कहा गया है। ऐसा ही अन्यान्य अङ्ग प्रत्यंग के सम्बन्ध में भी समझिये।

इन्द्र के तेज से देवी का मध्य भाग गठित हुआ था। ऐश्वर्यार्थक इन्द धातु से इन्द्र शब्द बना है। इन्द्रदेवाधिपति, सर्वैश्वर्य सम्पन्न है। देह के मध्य भाग में ही सब ऐश्वर्य का प्रकाश है। भूः आदि पञ्च-लोक स्थूल देश के मध्य देश में ही विराजते हैं। मूलाधारादि विभिन्न केन्द्रों से ही सब ऐश्वर्य अर्थात् विभूति का विकाश है; इसी से इन्द्रतेज ही मा के मध्य देह रूप में कहा गया है। (विभूति का रहस्य आगे प्रगट होगा)

वरुण के तेज से जङ्घा, उरु और पृथिवी के तेज से नितंब देश गठित हुआ था। साधारणतः स्थूल में कण्ठ का ऊपरी भाग ही चैतन्य के विशेष प्रकाश का स्थान है। मध्यदेश उसकी अपेक्षा जड़भाव वाला है। तथापि कण्ठ, हृदय, नाभि, लिङ्ग-मूल और मूलाधार आदि स्थानों में, विशिष्ट प्रयत्न करने से, चैतन्य की विशेष अनुभूति अनुभव में आती है। किन्तु देह का जो नीचे का भाग अर्थात् जङ्घा, उरु और नितम्ब देश है वह अत्यन्त जड़भाव वाला है। उन स्थानों में चैतन्य का कुछ विशेष प्रकाश नहीं है। इसी से प्रकृति के सब से अन्तिम परिणाम—अत्यन्त जड़ धर्मी जल और क्षिति-तत्त्व के अधिपति, वरुण और वसुन्धरा के तेज से देवी के जङ्घा, उरु और

नितम्बदेश गठित हुए थे। उन अवयवों में विशेष भाव से इन्द्रिय-प्रवाह परिचालित नहीं है। बल्कि जङ्घा और उरु देश द्वारा पादेन्द्रिय-प्रवाह परिचालित होता है, इसी से प्रवाह-शील जलतत्त्वाधिपति वरुण के तेज से वे अवयव और अत्यन्त जड़धर्मी क्षितितत्त्वाधिपति के तेज से नितम्ब प्रदेश गठित हुआ था।

यहाँ एक बात विशेष भाव से याद रखने योग्य है कि इन देव-मूर्तियों में किसी तरह के जड़धर्म का विकाश नहीं है, चैतन्य वा प्रकाश-धर्म द्वारा ही सब गठित हैं। इस देह के किसी स्थान में जड़ता नहीं है। इसी से सब अवयव देवता के तेज व विशिष्ट चैतन्य द्वारा गठित कहे गये हैं। परन्तु कुछ परिच्छिन्नता रहने के कारण, प्रथम दृष्टि से वे जड़भाव वाले जान पड़ते हैं। इसी से नितम्ब आदि स्थानों में जड़ धर्म्म का उल्लेख है। वास्तव में वे जड़ नहीं है। जो चैतन्य जड़ाकार से प्रतीत होता है, उसी चैतन्य द्वारा देवी का देह गठित हुआ था। हमारी देह और इस दिव्य-देह में जड़ और चैतन्य का ही भेद है। जीव-देह स्थूल जड़-पदार्थों से गठित है और देव-देह जड़ाधिष्ठित चैतन्य द्वारा गठित है।

यह हुई विशिष्ट मूर्ति की बात। आध्यात्मिक रहस्य में देखिये—आत्मा का जो महत्तत्त्व रूप प्रकाश है, साधक उसमें ये अवयवधर्म्म अनुभव कर रहे हैं, क्योंकि सब व्यक्तिधर्म्मों ने वहां विकाश पाया है। सूक्ष्म में ऐसे सब अवयव धर्म्म रहने से ही स्थूल में वे प्रगट होते हैं। जो कारण में नहीं वह कार्य्य में रह नहीं सकता। "कारण गुणाः कार्य्यं गुणमारभन्ते"—कारण के गुणों से ही कार्य्य के सब गुण आरम्भ होते हैं। इसी से परमेश्वर रूप आदि कारण में सृष्टि के—अर्थात्

स्थूल के सब धर्म्म और गुण ।ू.. त्र भाव से रहते हैं। योग चक्षुष्मान् व्यक्ति ही उन्हें देख सकते हैं।

कोई अवयव न होने पर भी सब अवयवों के धर्म्म कैसे हो सकते हैं? यह प्रश्न अनेकों के मन में सहसा उठ सकता है। यद्यपि भाषा में उसका समझाना असम्भव जान पड़ता है, तथापि कहते हैं—मानलो कि तुम ऐसे किसी प्रकाश या चैतन्य-मय सत्ता के समीप उपस्थित हुए हो कि जहां चक्षुः आदि इन्द्रियां नहीं हैं, परन्तु दर्शनादि कार्य हो रहा है। मानो वह देखता है, सुनता है, बातें करता है–ऐसा जान पड़ता है। मानो शब्द के प्रयोग से यह बात मन की कल्पनामात्र न समझिये, क्योंकि जहां यह धर्म विकाश पाता है वह कल्पना-राज्य से बहुत ऊपर है। वह निश्चयात्मिकावृत्ति अर्थात् बुद्धि का स्थान है। मन में जितनी कल्पनायें होती हैं वे प्रायः कार्य में परिणित (स्थूल में प्रकाशित) नहीं होतीं। परन्तु इस क्षेत्र में "मानो" वे इतनी सत्य, स्थिर और निश्चित है कि इसमें अन्यथा कभी नहीं होता। और एक बात है कि मन की कल्पनायें कुछ दिन बाद भूल जाती हैं; किन्तु यहां जो अनुभव होता है, वह दीर्घ-काल तक याद रहता है।

ब्रह्मणस्तेजसा पादौ तदङ्गुल्योऽर्क तेजसा।

वसूनाञ्च कराङ्गुल्यः कौवेरेण च नासिका ॥१५॥

अनुवाद—ब्रह्मा के तेज से दोनों पैर, सूर्य्य के तेज से पैरों की अङ्गुलियां, वसुओं के तेज से हाथों की अङ्गुलियां और कुबेर के तेज से नासिका हुई।

व्याख्या—रक्त वर्ण ब्रह्मा के तेज से मा के दो रक्त चरण गठित हुए थे। यहां अप्रासङ्गिक होने पर भी साधक-रचित बहु-जन-विदित एक सङ्गीत लिखने को विवश हुए हैं। यद्यपि उस

सङ्गीत के केवल एक अंश के साथ हमारे इस मन्त्र के प्रथमपा
की समता है, तथापि सङ्गीत इतना सुन्दर और ऊंचे-भाव-म
है कि सहृदय व्यक्तिमात्र को वह प्रिय होगा। ग्रन्थकार के कर्म
जीवन के साथ भी उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। गान आगमन
है—उमा बहुत दिन बाद अपने पिता के यहां आगई थीं, जनन
मेनका उनका आभरण-हीन देह देख कर दुःखित होने लगीं।
तब उमा ने मा को समझाया:—

आमार नाइ आभरण अमन कथा मुखे एनो ना मा आर।
आमिइ केवल ए जगते करते पारि अलङ्कारेर अहङ्कार।

हे माता, मुझ पर अलङ्कार (गहना) नहीं है, ऐसी बा
मुख में न लाओ, इस संसार में केवल मैं ही अलङ्कारों क
अहङ्कार कर सकती हूँ।

ए जगत बटे आमार अलङ्कारे साजान थाल।
प्रातर्मध्य सायंकाले परिये देन स्वयं काल॥
आबार निशाकाले बदेल पराय, ताते आलो आंधार दुई देखाय
आहा, बल ना भवे कार वा काछे एमन अलङ्कार ॥ १ ॥

यह संसार निश्चय ही मेरे अलङ्कारों का सजा हुआ था
है; जिसको काल (शिवजी) प्रातःकाल, मध्याह्न औ
सायंकाल को मुझे पहना देते हैं। फिर (शिवजी) निशाका
में बदल कर पहनाते हैं। उसमें अन्धेरा उजेला दोनों ही
दीखते हैं। आहा! कहो तो इस संसार में किस के पास ऐसे
अलङ्कार हैं॥ १ ॥

के बले मा तोमार उमार अलङ्कारेर अप्रतुल।
परि आमि स्थिर तड़ितेर सूताय गाँथा तारार फूल॥
प,रे थाकि बले बलि, इन्द्र-धनु एकावली।
ता बइ जयन्ती कि आर परबे वैजयन्त-हार॥ २॥

हे मा ! कौन कहता है कि तेरी उमा को अलङ्कारों की कमी है ? मैं स्थिर तड़ित् (बिजली) के सूत में गुँथे हुए तारात्र्यों के फूल पहिनती हूं। मैं इन्द्र-धनुप की एकलड़ी पहनती हूँ। इस जयन्ती के अतिरिक्त वैजयन्तहार और क्या पहना जा सकता है ? ॥२॥

जीवेर जीवन नासार नोलक तात जाने सर्व-जन।
पद्मपत्र-जलेर मत दोले ये ता सर्वत्तण ॥
ज्ञान-समुद्रेर महारतन उपनिपद् आमार कर्णभूपण।
मुकुट आमार सदानन्द नाशेन भवेर अन्धकार ॥ ३ ॥

जीवों का जीवन मेरी नाक का लोलक है, यह सब ही जानते हैं, जो कमल के पत्ते पर जल के समान सर्वदा दोलायमान रहता है। ज्ञान-समुद्र का महारत्न जो उपनिपद् है, वही मेरा कर्णभूपण है; सदानन्द मेरा मुकुट है, जो संसार के अन्धकार का नाश करता है ॥ ३ ॥

ओ मा वराभय मोर हातेर वलय से त सबार जाना कथा।
करुणा कङ्कणे परि मुक्तिफलेर मुक्ता गांथा।
माया-वस्त्रे काया ढाकि, सतत संगोपने थाकि।
नितम्बे नियत परि सप्तसिन्धु चन्द्रहार ॥ ४ ॥

हे माता, वराभय मेरे हाथों के वलय (कङ्कण) हैं, यह तो सब की जानी हुई बात है; मुक्ति-फल देने वाले मुक्ता-जड़ित मेरे करुणा-कङ्कण है। मैं सर्वदा अपने को माया-वस्त्र से ढक कर गुप्त रहती हूं और नितम्बों पर सप्तसागर रूपी चन्द्रहार पहिनती हूं ॥ ४ ॥

ओ मा ! अष्ट सिद्धिर नूपुर परि, तातेई वेशी अनुराग।
पुण्य गन्ध-स्वरूपिणी स्वयं श्री मोर अङ्गराग।
ब्रह्मा आमार अलक्त-जल, केशव आमार चोखेर काजल।
कालान्तक ताम्बूल आमि चर्वन करि बारम्बार ॥ ५ ॥

हे मां ! मैं अष्टसिद्धियों के नूपुर पहिनती हूं। मुझे उन्हीं
ही अधिक अनुराग है। पुण्यगन्धस्वरूपिणी लक्ष्मी स्वयं मेरा
अङ्गराग है। ब्रह्मा मेरे चरणों का अलक्त-जल (महावर) है और
विष्णु मेरी आंखों का अञ्जन है, बारम्बार कालान्तक (क
ताम्बूल चबाती हूँ ॥ ५ ॥

ए सब "गोविन्द" देखे छे भालो सुधाइले वलवे सेइ,
बाछा बाछा काला मेघेर आमला बाटा केशे देइ।
पोहाइले विभावरी शिशु सूर्य्येर सिन्दुर परि,
चाँद बेटे चन्दनेर फोंटा दिये थाकि अनिवार ॥ ६ ॥

पिसे हुए आमलों की तरह पीस कर कभी कभी चुने हु
काले मेघों की स्याही केशों में देती हूँ, रात बीतने पर लाल सू
का सिन्दूर पहरती हूँ, सदा काले मेघों से लपेटे हुए चाँद
टीका देती हूँ ॥ ६ ॥

इस सङ्गीत छल से मा का जो रूप साधकों के सम
प्रकाशित किया गया है, इस रूप में एक बार मा को देखने
चेष्टा करो तो देखोगे। "ब्रह्मणस्तेजसा पादौ" एवं "ब्रह्मा आ
अलक्तजल" ये दोनों बातें एक हैं। जिन साधकों ने मा को
मूर्ति से देखा है वे ही चण्डी का रहस्य सहज में समझ सकते

अस्तु, ब्रह्मा सृष्टि-शक्ति हैं। सृष्टि-शक्ति ही मा के दो
चरण, अर्थात् चरण-स्थानीय हैं। निश्चला मा सृष्टि रूप
अपना प्रकाश करने के लिये चला अर्थात् गतिविशिष्ट हुई
निरञ्जन-सत्ता से भावरञ्जनामय अवस्था में उपनीत हो
फिर निरञ्जन-सत्ता पर जाना, यही तो मा का सृष्टि-चक्र
जगत्-लीला है। इसी से मा के चरण वा गति कह कर स
तत्त्व वा ब्रह्मा को समझाया है। गम् धातु से जगत् शब्द बना
पाद शब्द का अर्थ ही गति है। पूर्व से ही कहा है कि

इन्द्रिय-विहीन होने पर भी इन्द्रिय-धर्म-विशिष्ट है। इसी से स्थूल दो पद न रहने पर भी गति-शक्ति है; मा गति रूपिणी है।

मन्त्र में "पादो" यह द्विवचनान्त पाद शब्द का प्रयोग है। मा की गति दो तरह की है, एक जगत्-मुखी दूसरी आत्माभिमुखी। एक विकर्षण दूसरा आकर्षण, इन्हीं का साधारण नाम सृष्टि है। दो तरह की गति वाली हो कर ही मा यह अपूर्व विश्वलीला सम्पादन करती हैं। यहां ब्रह्मा शब्द का अर्थ हिरण्यगर्भ है—जहां सृष्टि, स्थिति और प्रलय संघटित होती है।

सूर्य्य के तेज से पैरों की अङ्गुलियां। सूर्य्य, तेजस्तत्त्व का सर्वश्रेष्ठ स्थूल विकाश-क्षेत्र है। तेजस्तत्त्व की ज्ञानेन्द्रिय चक्षु अर्थात् दर्शन-शक्ति, एवं कर्म्मेन्द्रिय पाद वा गति-शक्ति है। गति-शक्ति पैर की अङ्गुलियों में ही चरम परिणति को प्राप्त होती है। इस कारण सूर्य के तेज से ही मा के पैरों की अङ्गुलियां गठित हुई थीं।

"वसूनाञ्च कराङ्गुल्यः"—वसु देवताओं के तेज से हाथों की अङ्गुलियां। वसु शब्द का अर्थ है, धन। रूप रसादि विषयगत विषयत्त्व से ईश्वरत्त्व पर्यन्त सब ही धन वा वसु है। वह पाणि इन्द्रिय वा ग्रहण-शक्ति का विषय है, इसको ग्राह्य भी कहा जाता है। ग्राह्य वस्तु को ग्रहण करने के उद्देश्य से ग्रहण-शक्ति रूप पाणि इन्द्रिय की सृष्टि होती है। इसी तरह सब इन्द्रियों के सम्बन्ध में समझिये। श्रुति कहती है—"इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्थाः" इन्द्रियों से विषय श्रेष्ठ हैं। विषयों ही के लिये इन्द्रियों की आवश्यकता है। पहले रूप, पीछे रूप को ग्रहण करने के लिये चक्षु। पहले शब्द, पीछे कान। पहले धन, पीछे पाणि वा ग्रहणेन्द्रिय। हाथों की अङ्गुलियां ग्रहण-शक्ति का विशेष प्रकाश-स्थान अर्थात् पाणि-इन्द्रिय की चरम परिणति है। वह सब

प्रकार के धन की ग्राहक है। इसी कारण वसु के तेज से मा
की हाथों की अंगुलियां हैं।

कुवेर के तेज से नासिका। नासिका घ्राणेन्द्रिय है। पृथि
तत्त्व के सात्विक अंश से उसका विकाश होता है। क्षिति वा पृथि
कुवेर लोकपाल के परिवार में एक है। फिर कुवेर—धनाधि
हैं। पाँच तरह का विषयत्व ही धन है। क्षिति में पाँचों प्रकार
धन है। कुवेर उसका अधिपति होने से उसके तेज से मा
नासिका गठित हुई। पक्षान्तर में; छान्दोग्यश्रुति के उपदे
नुसार देखते हैं कि प्राण ही सर्वधनाधिपति है। यह प्राण
स्थूल में आकर वायुरूप से—श्वास प्रश्वासरूप से—नासि
द्वारा प्रवाहित होता है। इस भाव से भी धनाधिपति के
से ही नासिका, यह निसङ्कोच कहा जाता है ॥ १५ ॥

तस्यास्तु दन्ताः सम्भूताः प्राजापत्येन तेजसा।
नयनत्रितयंजज्ञे तथा पावकतेजसा ॥ १६ ॥

अनुवाद। प्रजापति के तेज से उसके दाँत, एवं अग्नि
तेज से तीन नेत्र गठित हुए थे।

व्याख्या— आनन्दमयी मा के आनन्दमय-जगत्
हास्य का विकाश-स्थान दशन-पंक्ति है। विश्व की प्रजा जि
शक्ति से समुद्भूत है, वही प्रजापति है। जीव जगत् के ये
जन्मादि षड्भाव विकार हैं, यही मा की हँसी है। इसी से प्रा
पत्यतेज से मा के दाँत उत्पन्न हुए। फिर दाँतों ही से चबा
जाता है। विश्व-संहारिणी मा की विश्व-संहारण लीला द
से ही प्रगट होती है। इसी से अर्जुन विश्वरूप दर्शन क
करते दंष्ट्रा कराल अति भीषण विश्वग्रासी मुखमण्डल देख क
भय से व्याकुल हो गये थे। प्रथम खण्ड में कहा है, हम
मा के अन्न हैं। यह विराट् ब्रह्माण्ड मा का भोग मात्र

वेदान्तसूत्र कहता है—"अत्ताचराचर ग्रहणात्" (१।२।६) इस चराचर का ग्रहण अर्थात् संहरण करने के कारण आत्मा मा "अत्ता" भक्षण करने वाली है। चराचर सब वस्तुओं को अदन वा भक्षण करती है, इसी से वह अत्ता है। प्रजापति मा की इस संहार-लीला के सहायक हैं। देखो साधक, प्रजापति बड़े हर्ष से यह विश्व प्रजारूप खाद्य सामग्री रच कर, जगत्-पालक विष्णु के हाथ में दे देते हैं, वे उसे ठीक-ठीक पाक करके प्रलय के देवता विज्ञानमय शिव के हाथ में दे देते हैं, और मातृ-चरणों के एकनिष्ठ अधिकारी महेश्वर यह सुपक्व अन्न मा—अत्ता के दंष्ट्रा-कराल मुखमण्डल में आहुति देते हैं। एक बार सचमुच ही इस ब्रह्माण्ड यज्ञ की ओर दृष्टि डालो—तुम्हारी सङ्कीर्णता, दुर्बलता दूर हो जायगी। देखो, यह जगत् मा का भोगमात्र है; यह दर्शन करने से जीव के दुर्भोग का अन्त हो जाता है।

त्रिनयन—चन्द्र, सूर्य एवं अग्नि। यही मा के त्रिकालदर्शी तीन नेत्र हैं। ऋषि ने यहाँ चन्द्र-सूर्यादि का उल्लेख न करके एकदम उसके मूलीभूत तेजस्तत्व की कथा कही है। नेत्र ही प्रकाशसाधन इन्द्रिय है। चक्षु तीन हैं। (१) स्थूल-चक्षु इसके द्वारा सन्निहित भौतिक रूप का अतिसामान्य अंश प्रकाशित होता है (२) मनश्चक्षु—इसके द्वारा दूर के स्थूल और सूक्ष्म पदार्थों का कुछ अंश प्रकाशित होता है (३) ज्ञानचक्षु—इसके द्वारा स्थूल सूक्ष्म अतीत अनागत अर्थात् सब ज्ञेय वस्तुओं का यथार्थ स्वरूप प्रकाशित होता है। जिस प्रकाश सत्ता के प्रभाव से सूर्य चन्द्रादि का प्रकाश है, वह मूलीभूत प्रकाश ही मा के नेत्र हैं। एकमात्र ज्ञान ही उसका स्वरूप है। शास्त्र में ज्ञान को ही अग्निरूप से उपदेश किया है। इसी से मन्त्र में अग्नि के तेज से तीन नेत्र कहे गये हैं। श्रुति भी कहती है—

"तमेवभान्त मनुभाति सर्वं तस्यभासा सर्वमिदं विभाति"।
जीव ! देखो मा हमारी चन्द्र, सूर्य, अग्नि रूप तीन नेत्रों से दिन-रात तुम्हारी ओर स्नेह की दृष्टि से देख रही है। अजी सूर्य-सूर्य नहीं है—मातृ-चक्षु है, चन्द्र—चन्द्र नहीं है, मातृ-चक्षु है, अग्नि—अग्नि नहीं है, मातृ-चक्षु है। यह केवल सीख लेने से कुछ नहीं होगा, यथार्थ ही मा के चक्षु रूप से समझने की चेष्टा करो। मा के चक्षु से चक्षु मिला कर कातर प्राण से मा, मा कह कर पुकारो, जीवन धन्य हो जायगा ॥ १६ ॥

भ्रुवौ च सन्ध्ययोस्तेजः श्रवणावनिलस्य च ।
अन्येषां चैव देवानां सम्भवस्तेजसां शिवा ॥ १७ ॥

अनुवाद—दोनों सन्ध्याओं के तेज से मा के दो भ्रू, वायु के तेज से दो कान, एवं अन्यान्य देवताओं के तेज से अन्यान्य अवयव; इस तरह मङ्गलमयी मा की विशिष्टमूर्ति आविर्भूत हुई थी।

व्याख्या—प्रातःकालीन एवं सायंकालीन सौन्दर्य ही मा के दो भ्रू हैं। मा सुषमामयी विश्व-प्रकृति रूप से सदा सुप्रकाशित है, यह दोनों सन्ध्या के समय कुछ प्राणमय दृष्टि से दर्शन करने से सब ही अनुभव कर सकते हैं। यद्यपि एक छोटे से वालू के कण में भी उसका महत्त्व, उसका सौन्दर्य्य अखण्ड भाव से विराजता है, तथापि उसके दर्शन के उपयुक्त चक्षु, अति अल्प लोगों को भाग्य से ही प्राप्त होते हैं। किन्तु दोनों सन्ध्याओं में यह विश्व-प्रकृति जो अनिर्वचनीय शोभा से मण्डित हो कर मातृ-सुषमा का कुछ-कुछ परिचय देती है, इसे प्रायः सब ही अनुभव कर सकते हैं। यहाँ दोनों भ्रू की कथा कहते हुए सौन्दर्य का उल्लेख करने का प्रयोजन यह है कि दो भ्रू ही देह के सौन्दर्य विकाश के स्थान हैं। भ्रू के वाल उतरवा देने

अथवा उन पर रंग लगा देने से, शरीर का अन्य कुछ परिवर्तन न करने पर भी आकृति बिलकुल बदली हुई जान पड़ती है: शारीरिक सौन्दर्य के साथ भ्रू का इतना निकट सम्बन्ध है। इसी से ऋषि कहते हैं कि जो चैतन्य सन्ध्याकालीन सौन्दर्य-रूप से अपना प्रकाश करता है, उस सन्ध्याभिमानी देवता के तेज से मा के भ्रू दोनों गठित हुए थे।

अब आध्यात्मिक भाव से देखिये कि जीव और ईश्वर की मिलन-रेखा एक सन्ध्या है; ईश्वर और परमात्मा की मिलन रेखा दूसरी सन्ध्या है। प्रथम प्रातः संध्या अन्धकारमय जीव-भावीय अज्ञानता का नाश और ज्ञानमय शुभ प्रकाश-सत्ता का अविर्भाव है। दूसरी सायं सन्ध्या—सब विशिष्ट-ज्ञान का विलय और निर्विशेष सर्वभाव-रहित निरन्जन-सत्ता में प्रवेश है। मा की सन्तान मा की भ्रू में स्नेह के सिवाय और कुछ देख ही नहीं पाती; इसी से साधकगण इस जीवेश्वर मिलन रूप प्रातः सन्ध्या में और ईश्वर और परमात्मा के मिलन रूप सायं सन्ध्या में केवल मातृ स्नेह देख कर मुग्ध होते हैं।

वायु के तेज से मा के दो कान। यद्यपि आकाश से ही शब्द की उत्पत्ति है, तथापि वायु ही उसका परिचालक है। वायु के बिना शब्द प्रत्यक्ष नहीं होता; अतएव वायु देवता के तेज से ही मा के दोनों कान गठित हुए थे, इसी तरह अन्यान्य देवताओं के तेज से मा के अपरापर अवयव संगठित हुए थे। एवं इसी तरह शिवा-मङ्गलमयी मा असुर निधन के लिये विशिष्ट भाव से आविर्भूत हुई थी।

प्रकाश सत्ता से किस प्रकार विशिष्ट मूर्ति का दर्शन होता है, वह पूर्व कहा गया है। बुद्धिसत्त्व प्रकाश होने से अर्थात् रजो, तमोगुण के दब जाने पर विशुद्ध सत्त्वगुण का प्रकाश होने से साधक जब उस प्रकाशमय अवस्था में अवस्थान करने

की सामर्थ्य पाते हैं तब अपने संस्कारानुसार विशिष्ट मूर्ति का आविर्भाव होता है, एवं वराभय देकर साधक को उत्साहित और धन्य करती हैं। फिर साधक द्रुतगति से मुक्ति-मार्ग पर आगे बढ़ता है। पूर्व कहा है कि देव-देवी की मूर्ति दर्शन कर सकने ही से, साधना का शेष अथवा जीवन की सफलता प्राप्त नहीं हो जाती, मूर्ति दर्शन होने से ही ईश्वर प्राप्ति अथवा मुक्ति नहीं होती। यह तो ईश्वर प्राप्ति वा मुक्ति के मार्ग में विशेष अनुकूल गुरु-कृपा मात्र है। जो वस्तु मूर्ति रूप से प्रकाश पाती हैं उसको जानना और उसका स्वरूप समझना होगा। यह जानना और समझना भी अवश्य उन्हीं की कृपा से होता है— ईश्वर प्राप्त होने से, साधक के हृदय में थोड़े बहुत ईश्वर-धर्म अवश्य ही प्रगट होंगे।

अस्तु, साधक की विशिष्ट-मूर्ति-दर्शन की प्रबल आकांक्षा जब दूर हो जाती है, तब वह सर्वदेव शरीर से उत्पन्न तेजोराशि विश्वमय विराट मूर्ति में परिणत होती है, एवं विश्व ही परमेश्वर की स्थूल-मूर्ति है, साधक यह अनुभव करने लगता है। भक्त प्रवर अर्जुन भगवान् का यह विश्वरूप देख कर ही संशय रहित होगया था। मायावच्छिन्न चिदाभास कहो, हिरण्यगर्भ कहो अथवा महदात्मा कहो, उससे कुछ हानि लाभ नहीं; असल बात यह है कि उस सर्वेन्द्रिय धर्मसमन्वित स्वरूप का आविर्भाव जब तक न हो, तब तक जड़त्व ज्ञान दूर नहीं होता, हृदय का ग्रन्थि भेद नहीं होता, संशय बना ही रहताहै। यह बात अच्छी तरह समझाने के लिये ही चण्डी में इतने स्पष्ट भाव से मा के जुदे जुदे अवयव का संस्थापन वर्णित हुआ है।

श्रीपुरुषोत्तम क्षेत्र में जो लकड़ी की जगन्नाथ की मूर्ति प्रतिष्ठित है वह भी इस सर्वेन्द्रिय विवर्जित सर्वेन्द्रिय धर्म का स्थूल प्रतिबिम्ब मात्र है। कोई इन्द्रिय नहीं तो भी सब

इन्द्रियों के धर्म्म हैं। ऐसे एक सूक्ष्म भाव को स्थूल में दिखाने के लिये वह हस्तपदादि रहित जगन्नाथ-मूर्ति के सिवाय अन्य किसी रूप से प्रगट नहीं किया जा सकता, कैसी सुन्दर! सत्-चित् आनन्द स्वरूप चन्दन की जगन्नाथ, सुभद्रा और बलराम की मूर्ति है! हाथ पांव आँख कान आदि का आभास मात्र है, परन्तु उसका अवयव एक भी नहीं। धन्य हैं वे जो इसके प्रतिष्ठाता है। विशाल माथा जलधि के तट पर–"अपाणि पादो जवनो गृहीता पश्यत्य-चक्षुः स शृणोत्यकर्णः" पुरुषोत्तम विराजमान हैं। वर्ण-धर्म, आश्रम-धर्म वहां विलुप्त है। सब समान एक रस हैं। समत्व के समीप वर्णभेद, जातिभेद तिरोहित है; पूजा नहीं; अर्चना नहीं, केवल दर्शन और भोग! केवल दर्शन और भोग! अतीन्द्रिय वस्तु को इस तरह इन्द्रिय-भोग्य करने का उपाय–इस भारत में जितना अधिक है उतना और देश में नहीं समझा जाता। इस देश के ऋषि, इस देश के साधक पुरुष उस वाक्य मन के अतीत वस्तु से कितना प्रेम करते थे, कितने घनीभूत प्रेम से उस परम पुरुष के साथ बँधे रहते थे, उसका प्रमाण—इस देश के तीर्थ, भिन्न-भिन्न देव-देवियों की मूर्तियाँ, इस देश के गृह देवता हैं। अतीन्द्रिय प्रेम कितना घन होने से विभोर हुआ जाता है, जड़ हुआ जाता है, स्थूल में प्रकट होता है, उसकी हम धारणा भी नहीं कर सकते। जब तक स्थूल देह है, तब तक स्थूल के अतीत वस्तु पर कितने ही हम आसक्तियुक्त क्यों न हों, स्थूल जो हमारा अत्यन्त प्रिय है वह फिर बोलने नहीं देता। हमारा देह ही इसका प्रकृष्ट प्रमाण है कि हम अति अधिक स्थूलत्व प्रिय हैं। अतएव हम अपने प्रियतम को ठीक अपनी तरह स्थूल में लाकर आदर करें, सेवा करें, भोग करें, यह कितना स्वाभाविक है! कितना सुन्दर है! इस तत्त्व की चिन्ता करने में भी—विस्मय से,

आनन्द से अभिभूत हो जाते हैं।

जो लोग तीर्थ, देव मूर्ति आदि को अज्ञान से कल्पित और स्वार्थी ब्राह्मणों का कौशल मात्र बतला कर उड़ा देने की चेष्टा करते हैं, वे एक बार धीरभाव से यह तत्त्व चिन्ता कर देखें, इन में अज्ञान, भ्रान्ति और ठगई बिलकुल नहीं है—यह वे कह नहीं सकते; किन्तु कुछ महासत्यज्ञान और घनीभूत प्रेम भारतवासियों का मज्जागत संस्कार है, यह अस्वीकार करने का कोई उपाय नहीं है। तीर्थ एवं देवमूर्तियां इसका समुज्वल प्रमाण हैं। यद्यपि स्थूल देव देवियों की पूजा करके यात्रा थियेटर में कृष्ण, विष्णु, शिव, दुर्गा देख कर एवं कथक्कर पण्डितों के मुख से पौराणिक कथायें सुनकर अधिकांश नर-नारी ईश्वर के सम्बन्ध में अनेक भूल धारणा पुष्ट करते हैं, तथापि इन भ्रान्त धारणाओं को लेकर ही उनको यथार्थ ज्ञान मार्ग पर सहज लाया जा सकता है। उपयुक्त शिक्षा के अभाव से ऐसी भ्रान्ति वा विपरीत फल खड़ा होगया है। इसी से कहते हैं कि तोड़ने की चेष्टा न करो। जो है उसी को चैतन्य प्राणमय करो। नया कुछ सीखना नहीं होगा, नया कोई आविष्कार नहीं करना होगा। जो है उसी को समझने की चेष्टा करो; आप समझो दूसरों को समझाओ, देश का अज्ञान दूर होगा। प्रातः स्मरणीय ऋषियों ने कुछ कहने और लिखने में शेष नहीं छोड़ा है, जो अपने मस्तिष्क धर्म के द्वारा आविष्कार करके समझना पड़े। केवल उनका आदेश पालन, उनके चलाये हुए विधि निषेध का अनुशीलन करने से ही मनुष्य धन्य हो सकते हैं ॥१७॥

ततः समस्त देवानां तेजोराशि समुद्भवाम् ।
तां विलोक्यमुदं प्रापुरमरा महिषार्दिताः ॥१८॥

अनुवाद—अनन्तर समस्त देवताओं के तेजो राशि

उत्पन्न उस देवी मूर्ति को देख कर, महिषासुर के अत्याचार से पीड़ित देवता बड़े प्रसन्न हुए।

व्याख्या—असुर के अत्याचार से देवता अत्यन्त पीड़ित हुए थे—इन्द्रिय अधिष्ठित विशिष्ट चैतन्य समूह सञ्चित कर्म संस्कारों के अत्याचार से नियम छुट गये थे, इसी से मा का आविर्भाव हुआ है। महिष द्वारा पीड़ित होने से तेजो राशि समुद्भवा का आविर्भाव नहीं हुआ। जीवमात्र को ही वह अर्द्दन व पीड़ा अनुभव होती है कि "मैं विषयाभिमुखी इन्द्रियों के अत्याचार से जर्जरीभूत हूँ। ऐसा बोध जिस समय यथार्थ भाव से प्राण में प्रगट होगा, उसी समय मा चण्डी मूर्ति से आविर्भूत होगी। अजी! सन्तान को पीड़ित हुआ देख कर क्या माता कुपित हुए बिना रह सकती है! फिर यह तो कल्पित मा नहीं है सच्ची मा है! अब देखो तुम खूब आर्त्त हो कर मा मा कह कर पुकारते हो; परन्तु मा का आविर्भाव समझ नहीं सकते, तब तक समझो कि तुम यथार्थ आर्त हो नहीं सके हो, केवल अति अधीर की तरह स्वाँग करते हो। यह भी निन्दनीय नहीं है, इस तरह आर्त होने का स्वांग करते-करते किसी दिन यथार्थ आर्त भाव भी आ ही जायगा।

मा हमको बार बार महिष द्वारा पीड़ित कराती रहती है। जब तक वह उत्पीड़न हमारे बोध में नहीं आता, जब तक इस संसार की हमें सचमुच अनित्य एवं असुखमय प्रतीति नहीं होती, तब तक मा क्लेश रूप से ही आती रहती हैं। इसके बाद जब यह संसार, यह देह धारण, इस देहेन्द्रिय मन बुद्धि में विचरना ये भी महा क्लेशरूप बोध होते हैं, तब ही जीव कातर होकर सजल नेत्रों से कहता है—"हम दीन सन्तान अत्यन्त क्लेश पा रहे हैं, एक बार आकर देखो मा, हमारा जीवन कैसा कठोर यन्त्रणामय है अब तो सहा नहीं जाता; इस क्लेश को

समझने पर भी इसके हाथ से परित्राण नहीं पा सकते"। ऐसा भाव जब प्राण के अन्तस्तल में प्रगट होने लगता है, ही मा परित्राण परायणामूर्ति से आविर्भूत होती है। साधक मुख से हजार बार "शरणागत दीनार्त परित्राण-परायण" कहने से कुछ विशेष फल नहीं होता। तुम को शरणागत दीन और आर्त होना होगा। ये तीन लक्षण तुममें प्रकाश पा ही से तो मा परित्राण परायणा मूर्ति से अपना प्रकाश करेंगी तुम्हारे ही इन्द्रियाधिष्ठित देवताओं की प्रकाश सत्ता से मा मूर्ति प्रकाशित होगी। देवता हर्षित होंगे। तुम भी परमानन्द पाओगे॥ १८॥

शूलं शूलाद्विनिष्कृष्य ददौ तस्यै पिनाकधृक्।
चक्रञ्च दत्तवान् कृष्णः समुत्पाद्य स्व चक्रतः॥१९॥

अनुवाद—त्रिशूलधारी शिव ने अपने शूल से शूल आकर्षण कर उस देवी मूर्ति को समर्पण किया। इसी तरह कृष्ण ने भी अपने चक्र से चक्र उत्पन्न कर उनको दिया।

व्याख्या—इस मन्त्र से लेकर क्रम से ११ मन्त्रों में देवताओं का अस्त्रादि समर्पण वर्णित हुआ है। प्रत्येक देवता का एक एक विशेष अस्त्र है। यह अस्त्र ही उन देवताओं की शक्ति है। याद रखिये साधक, विशेष-विशेष भाव वाला चैतन्य ही देवता है। यद्यपि यह बात, पूर्व अनेक बार कही गई है, तथापि यह मूल तत्त्व भूल जाने से असली विषय समझने में कठिनता पड़ेगी; इस कारण बीच बीच में याद लगा देते हैं। अद्वय चैतन्य जिस तरह किसी विशेष भाव को लेकर प्रकाश पाने से देवता शब्द वाच्य हुआ है, उसी तरह उस भाव की ही शक्ति है अर्थात् जिस विशेष शक्ति के प्रभाव से चैतन्य इस तरह खण्डित होकर प्रकाश पाता है, वह शक्ति ही उस देवता

का अस्त्र है। अतएव अस्त्र शस्त्रादि समर्पण शब्द से अपनी अपनी व्यष्टि शक्ति का समर्पण समझना होगा। पूर्व जो विभिन्न देवताओं का तेज निकलने की बात कही गई है वह देवताओं के विभिन्न प्रकाशभाव का निर्गम, और इस अस्त्र समर्पण शब्द से अपनी अपनी कार्य करी शक्ति का समर्पण है; यह समझ सकने ही से अस्त्र अर्पण का रहस्य अनुभव होगा। क्रम से यह और भी स्पष्ट हो जायगा।

यह शक्ति समर्पण मामला क्या है? अपनी अपनी खण्ड शक्ति को एक अद्वितीय अखण्ड महती शक्ति रूप से समझ सकने का नाम ही शक्ति समर्पण है। एकमात्र सर्वशक्ति मयी मातृ-शक्ति ही हमारे प्रत्येक के भीतर प्रकाश पाती है, यह अनुभव कर सकने से ही, शक्ति समर्पण होता है। शक्ति समुद्र के जिस क्षुद्र अंश को अपनी शक्ति रूप से सीमा मान रक्खा है अर्थात् जिसको हम पुरुषकार यत्न वा अध्यवसाय रूप से पकड़ रहे हैं वह मातृशक्ति है और कुछ नहीं है। जो एकमात्र पुरुष है उसी कृति का नाम पुरुषकार है, यह अनुभव कर सकना ही शक्ति समर्पण करना है, केवल मुख से कहने से काम नहीं चलता—"त्वया हृषीकेश हृदि स्थितेन यथानियुक्तोऽस्मि तथा करोमि"। यह अनुभव करना होगा। यथार्थ ही इन्द्रिया-धीश को हृदय में देखना होगा। हृषीकेश दर्शन के पूर्व ऐसा कहना मिथ्याचार है। यह हृषीकेश दर्शन और शक्ति समर्पण प्रायः एक ही बात है। एक अखंड चैतन्य रूपिणी मा ही हमारी इन्द्रिय प्रणाली रूप से प्रकाश पाती है मन बुद्धि चित्त अहङ्कार रूप से, प्राण अपानादि पञ्चवायु रूप से, क्षिति-अप् आदि पञ्चभूतरूप से प्रकाश पाती है, यह समझ सकने ही से शक्ति समर्पण हो जाता है।

एक दिन में यह नहीं होता। प्रथम वे शक्तियां मानो हमारी

ही शक्ति हैं, इस भाव से पकड़ पकड़ कर मातृ-चरणों में अर्पण करते हैं। पत्र पुष्प फलादि के अर्पण वा द्रव्य यज्ञ से उसका आरम्भ होता है; क्रम से व्रत-नियम उपवास आदि तपोयज्ञ एवं यम नियमादि योग यज्ञ के अन्त में (तप स्तपोलोकः आज्ञाचक्र बुद्धितत्वमित्यर्थः तत्र यः स्वाध्यायः स्वस्यसच्चिदानन्द लक्षणस्य द्रष्टुरात्मनोऽध्यायोऽध्ययनमधिगमनमितिभावः) स्वाध्याय वा ज्ञान यज्ञ में पहुंचते हैं (गी० ४।२१) तब साधक स्व का अध्ययन करते हैं, अर्थात् अखण्ड ज्ञान वा परमात्मा का पता पाते हैं। यही समर्पण की सीमा है, यही आत्म समर्पण है। आत्म प्राप्ति आत्मसमर्पण बिना नहीं होती—हो नहीं सकती। साधक ! जब तक देखो कि "सर्व भूतस्थमात्मानं सर्व भूतानि चात्मनि" [गी० ६।२६] यह अवस्था प्राप्त नहीं हुई तब तक समझलो कि—आत्म समर्पण नहीं हुआ 'मैं' को सम्यक् रूप से मातृ चरणों में अर्पण करने के लिये प्रति कर्म में मातृ कर्तृत्व दर्शन करना होता है। 'निवेदयामिचात्मानं त्वं गतिः परमेश्वरि' कह कर प्रतिदिन आत्म निवेदन किया जाता है, ऐसा करते करते तब आत्म समर्पण की योग्यता प्राप्त होती है। शक्तिसमर्पण उस की मध्य अवस्था है। हम मा की दर्शन शक्ति से देखते हैं। मा तुम ही हमारे अन्तर्यामि रूप से अवस्थान करके इस दृक् शक्ति रूप से प्रकाशित होती हो हम जो शब्द सुनते हैं, उसकी श्रवण शक्ति रूप से भी मा तुम ही हो। इसी तरह घ्राण शक्ति, स्पर्श शक्ति, आस्वादन शक्ति, एवं लेना, चलना वाक्य प्रयोग, प्रजनन विसर्जन रूप कर्मेन्द्रिय की शक्ति रूप से भी मा, तुम ही नित्य विराजती हो; फिर स्मृति कल्पना अभिमान और विवेकरूप अन्तःकरण शक्ति भी मा तुम ही हो। इस तरह सर्वविशेष शक्ति को जब मातृ-शक्ति रूप से समझा जा सकता है, तब ही यथार्थ शक्ति समर्पण करना होता है। इसके बाद होता है आत्म

समर्पण । आत्म समर्पण होने से ही जीवत्व बोध तिरोहित हो जाता है। परमानन्द मय परमात्म बोध प्रकाशित होता है।

मा मा ! हम तो कुछ देना जानते नहीं, केवल मुख से ही कहते हैं कि यह हमारा नहीं—तुम्हारा है। परन्तु कार्यतः सब अपना मान कर जोर से पकड़े रहते हैं। अजी अपने इस छोटे मैं को—इस बार बार जन्म मृत्यु से पिसे हुए, इस संसार ताप से जर्जरी भूत मैं को ही संड़ासी से पकड़े रहना चाहते हैं; इसी से तुम को कुछ दे नहीं सकते, देने की इच्छा नहीं और सामर्थ्य भी नहीं। मा ! मन बुद्धि इन्द्रियों को आपके चरणों पर रक्खें, अपनी मैं को आपके चरणों में उत्सर्ग करें, ये सब तो बहुत सूक्ष्म और दूर की बातें हैं। जो अति तुच्छ—अति स्थूल है, जिसके साथ हमारा वास्तविक कोई सम्बन्ध नहीं, वह अति तुच्छ धन रत्न भूषण इत्यादि भी तो निष्कपट प्राण से आपके चरणों पर निवेदन नहीं कर सकते। हम इतने सङ्कीर्ण हैं, इतनी क्षुद्रता की सीमा में हम रहते हैं, हाय ! यह विचारने पर भी छाती फटती है ! कल्याण मयि ! तुम दिन-रात हमारे कल्याण कामना से कहती हो, "मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय। निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥" गीता १२।८ ॥ किन्तु क्या कहूं मा, आपकी वह आशीर्वाद वाणी हम तो सुनने पर भी नहीं सुनते। यदि सुनते तो आप को मन बुद्धि समर्पण रूप योग-यज्ञ का सब से पहला अनुष्ठान अति स्थूल जो द्रव्ययज्ञ है उसे क्यों न करते ? हम समझते हैं कि—आपको कुछ देने से, आपके उद्देश्य से अथवा द्रव्य सम्भार उत्सर्ग करने से हमारी हानि होगी। जिस तुम में अपना मैं पन भी अर्पण करना होगा उस 'तुम' को अपना अति दूर के सम्बन्ध वाला द्रव्य संभार अर्पण करने में भी कृपणता करते हैं। मा ! हमारी यह सङ्कीर्णता दूर कर, द्रव्य-

यज्ञ के अधिकारी कीजिये, तब ही तो हम दिन-दिन शक्ति समर्पण द्वारा आत्म समर्पण के अधिकारी होंगे मा की सन्तान मान कर अपने को धन्य मानेंगे। मा, तुम्हारे उद्देश्य से जो कुछ दिया जाता है, वह हज़ार गुना होकर फिर हमारे पास ही लौट आता है, सैकड़ों प्रमाण पाने पर भी यह धारणा दृढ़ रूप से मन में रख नहीं सकते। तुम आत्मा हो, तुम को देने से वह अपने ही को देना तो हुआ, यह हम कब समझ सकेंगे। यह न समझने ही के कारण तो मा! तुम पीड़ा रूप से महिषासुर रूप से आविर्भूत होकर, अनेक उपायों से हमारे मर्म-स्थान में अनेक चोटें लगाकर जगाने की चेष्टा करती हो। देवताओं के शुभ दिन आये हैं, इसी से वे अपनी-अपनी शक्ति-रूप अस्त्र-शस्त्र तुम्हारे चरणों में अर्पण कर निश्चिन्त होते हैं।

जब तक व्यष्टि शक्तियों के ऊपर कुछ अभिमान रहता है— अर्थात् 'मेरी शक्ति है' यह प्रतीति होती है; तब तक ही उसका क्षय-उदय रहता है। तब तक ही वह आगमापायिरूप से प्रतीत होती रहती है। किन्तु जिस दिन जीव समझ लेता है कि समस्त शक्ति बिन्दु उस महती सिन्धु-शक्ति के ही बिन्दुमात्र हैं, उस दिन क्या फिर उसको "अपनी शक्ति" कह कर रख सकता है? तब जिसकी शक्ति है उसको देने के लिये अपने आप ही एक उथल पुथल होने लगती है अथवा फिर देना वा अर्पण करना कुछ रहता ही नहीं, केवल दर्शन रह जाता है, अजी सब कुछ तुम ही हो हमारा सर्वस्व तुम, हमारा मैं भी तो तुम ही हो। अब तक यह देखा नहीं—"हमारा ज्ञान, हमारा धन, हमारा पुत्र, हमारी इन्द्रियाँ, हमारा यश" इत्यादि कह कर उन्हीं में मुग्ध थे, इसी से बार बार असुरों के अत्याचार से क्षत विक्षत हुए हैं। अब तक अहं बोध लेकर जीवत्व के अहंकार से फूल कर असुरों के विरुद्ध अपनी शक्ति का प्रयोग

करके, कितने लज्जित हुए हैं। अब नहीं सह सकते, मा! अब तुम अपनी शक्ति लेकर असुरों के अत्याचार से हमारी रक्षा करो।

केन उपनिषद् में इस विषय पर एक सुन्दर आख्यायिका है। एक दिन असुरों को पराजित करके, देवता गर्व कर रहे थे। ठीक उसी समय मा ने हैमवती रूप से आविर्भूत हो कर अग्निदेव से पूछा कि तुममें क्या शक्ति है? अग्नि ने कहा—मैं इस विश्व को भस्मीभूत कर सकता हूँ। मा ने कहा—अच्छा, यह जो सामने तृण पड़ा है इसको तो जलादो। अग्नि अपनी सब शक्ति लगा कर भी न जला सके। इसी तरह पवन, वरुण आदि देवताओं ने उस तृण पर अपनी शक्ति का प्रयोग किया, परन्तु कुछ न कर सके और अन्त में सब ने समझा कि हमारी वास्तविक कोई शक्ति नहीं है, हम सब इस हैमवती की शक्ति से ही शक्तिमान हैं।

श्री श्री चण्डी का यह उपाख्यान अर्थात् असुरों से पीड़ित देवताओं के तेज से देवी का आविर्भाव और उसके उद्देश्य से देवताओं के अस्त्रादि अर्पण आदि भी इस श्रुति के अनुसार हैं वा नहीं, साधकगण यह विवेचना करें। अस्तु, अब हम मन्त्र का अर्थ समझने की चेष्टा करें।

शिव ने अपने शूल से दूसरा एक शूल निकाल कर देवी को अर्पण किया। शिव—विज्ञानमय गुरु केवल ज्ञान-मूर्ति हैं; त्रिशूल उनका अस्त्र है। ज्ञान-शक्ति त्रिपुटी है। ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान इस त्रिपुटी द्वारा ही ज्ञान का विकाश होता है। "मैं वृक्ष देखता हूँ," यहाँ मैं ज्ञाता, वृक्ष ज्ञेय, एवं वृक्ष विषयक जो प्रतीति है, उसका नाम ज्ञान है। साधारणतः ज्ञान इस तीन भाव से प्रकाशित होता है। जहाँ ज्ञान है, वहीं यह त्रिपुटी है। इसी से शिव के हाथ में सदा त्रिशूल रहता है। (त्रिपुटी-

रहित ज्ञान भी है अवश्य, परन्तु उसकी बात अलग है)। ज्ञान का यह त्रिपुटी-भाव महतीशक्ति का ही विशेष विकाशमात्र है। यह अनुभव करने का नाम ही त्रिशूल-समर्पण है। जिस शक्ति के प्रभाव से एक ही ज्ञान तीन प्रकार से विभक्त हो, वह महामाया की शक्ति है, यह समझ सकने पर भी त्रिपुटी एकदम विलुप्त नहीं होती; इसी कारण शूल में से शूल निकलने की कथा कही गई है। शिव का त्रिशूल शिव पर ही रहा, केवल त्रिशूल में जो ममत्वाभिमान था वह दूर हो गया। आगे विष्णु के चक्रादि अर्पण के विषय में भी ऐसा ही समझिये।

साधक! तुम भी देखो—तुम्हारा अखण्ड-ज्ञान सदा रूपरसादि विषयाकार से प्रतीत होते समय ज्ञाता-ज्ञेय और ज्ञान रूप तीन भागों में विभक्त होता है। जो इस तरह त्रिपुटी लेकर अपना प्रकाश करता है, वह भी मा है। तुम "अपना ज्ञान" समझ कर अभिमान न करना। ज्ञान-रूपिणी मा ही तुम्हारे भीतर से इस रूप में प्रकाशित होती है, यह समझने की चेष्टा करो। यही शिव द्वारा त्रिशूल समर्पण का रहस्य है।

विष्णु ने अपने चक्र से चक्र उत्पन्न कर देवी को अर्पण किया। विष्णु प्राणमय विश्वव्यापी पुरुष हैं। चक्र शब्द का अर्थ प्रथम खण्ड में विस्तारपूर्वक कहा गया है। यह संसार ही विष्णु का चक्र है। संसार-स्थिति-रूप सुदर्शन-चक्र में अब तक "हमारा है" यह अभिमान था; इसी से महिषासुर द्वारा पीड़ित हुए थे। अब यह मा की शक्ति है, यह समझ कर, जिसकी वस्तु थी उसको देकर विष्णु निश्चिन्त हुए। साधक तुम भी देखो,—तुम्हारा यह क्षुद्र संसार, स्त्री, पुत्र, परिजन, जिनके भरण-पोषण करने का तुम अभिमान करते हो, वह अज्ञानमात्र है। उस भरण-पोषण की शक्ति रूप से मा ही तुम्हारे भीतर सदा आत्मप्रकाश करती है। उसका आदर करो, उसकी वस्तु उसी

के अर्पण करो। मा ही तुम्हारे अन्तर में शक्ति रूप से विराजमान है,यह ठीक-ठीक समझ सकने से ही अर्पण सिद्ध होता है। एवं इस तरह अर्पण में सिद्ध होने से ही देखोगे कि सांसारिक विविध चिन्ता-रूप गुरुभार तुम्हारे शिर से उतर गया है।

शङ्खञ्च वरुणः शक्तिं ददौ तस्यै हुताशनः।
मारुतो दत्तवांश्चापं बाणपूर्णे तथेषुधी ॥ २० ॥

अनुवाद। उस देवी मूर्ति को वरुण ने शङ्ख, अग्नि ने शक्ति एवं वायु ने बाणों से भरे दो तरकसों सहित धनुप दिया।

व्याख्या। देवता-प्रधान शिव और विष्णु जब अपनी शक्ति मातृ-चरणों में समर्पण करके कृतार्थ हुए, तब अन्यान्य देवता भी उनका अनुसरण करने लगे। वरुण जलाधिपति हैं। समष्टि जल जिस बोध पर अवस्थित है, वही जलाधिष्ठित चैतन्य या वरुण-देवता हैं। उन्होंने शङ्ख अर्पण किया। इस शङ्ख शब्द को लेकर कुछ मतभेद है। कोई-कोई कहते हैं—शङ्ख विष्णु का अस्त्र है। पूर्व मन्त्र में विष्णु के चक्र अर्पण की कथा है; और इस मन्त्र में प्रथम ही शङ्ख शब्द रहने से समझना चाहिये कि वह विष्णु का ही अस्त्र है। इस मत से वरुण और वह्नि दोनों ही ने "शक्तिं ददौ" अपनी-अपनी शक्ति अर्पण की, ऐसा अर्थ करते हैं। फिर इसके बाद ही कहा जायगा "पाशञ्चाम्बुपतिर्ददौ" अम्बुपति अर्थात् वरुण ने पाश-अस्त्र दिया। वरुण का पाश-अस्त्र प्रसिद्ध है। (इसका अर्थ उसी मन्त्र में किया जायगा)। फिर कोई कहते हैं कि पूर्व मन्त्र "चक्रञ्च" यह 'चकार' रहने से चक्र और गदा ये दोनों अस्त्र समझे जाते हैं। इनकी ठीक-ठीक मीमांसा करने के लिये कोई-कोई वैकृतिक-रहस्य में कही हुई महालक्ष्मी की मूर्ति की अष्टादश भुजाओं में जो अष्टादश अस्त्र हैं, उनकी गणना करने को बाध्य हैं। वास्तव

में उससे भी गोल-योग दूर नहीं हुआ। अस्तु, हम शङ्ख को नाद-शक्ति का प्रतिभूस्वरूप समझलें, उसके वाद फिर विष्णु समर्पण करें या वरुण समर्पण करें, उसमें कुछ हानि लाभ नहीं। परन्तु विष्णु का समर्पण-पक्ष ही उत्तम है। शङ्ख—अव्यक्त नाद-शक्ति—जिससे व्यक्त नाद-रूप यह शब्द-मय-विश्व प्रकाशित है, वह शक्ति भी 'मा' है, यह अनुभव करने का नाम ही मातृ-चरणों में शङ्ख-समर्पण है। नाद-रहस्य आगे कहा जायगा।

जल की शक्ति—क्लेदन वा गीला कर देना है; हुताशन की शक्ति–दाह है। ये दोनों शक्तियां मातृ-शक्ति-मात्र हैं, यह अनुभव कर सकने से ही अग्नि और वरुण के अस्त्र-समर्पण का रहस्य समझा जाता है। जलाधिष्ठित चैतन्य एवं तेजस्तत्त्वाधिष्ठित चैतन्य, अब तक आर्द्रीकरण और दाहिका-शक्ति के अभिमान में बँधे हुए थे, अब वह दूर होगया। इसी तरह मारुत अर्थात् वायु-देवता ने धनुष और वाणों से भरे हुए दो तरकस दिये थे। धनुष और वाण—प्रवाह-शक्ति के परिचायक हैं। तूणीर—तरकस—अन्तर्मुखी और वहिर्मुखी भेद से प्रवाह-शक्ति के दो तरह के प्रकाश हैं; इसी से, मन्त्र में दो तरकसों का उल्लेख है। जिस वायुमण्डल में वसुन्धरा अवस्थित है, वह वायु जिस चैतन्य सत्ता पर अधिष्ठित है, वही वायु का देवता है। प्रवाहित होना उसकी शक्ति है। अब तक उस शक्ति में 'मेरा' इस अभिमान था; आज उसे मातृ-चरणों में अर्पण करके उसने यथार्थ-शक्ति का पता पाया।

साधक! तुम भी देखो—तुम्हारे स्थूल शरीर में अप्‌-तेज एवं मरुत्-तत्त्व की जो विभिन्न शक्ति है, वह एका, अद्वितीया महती-शक्ति का ही जुदे-जुदे प्रकार विकाशमात्र हैं। जिसकी शक्ति तुम्हारे भीतर प्रकाशित है, उसको अर्पण करो तो देखोगे कि तुम एक भौतिक देहधारी संसार-क्लिष्ट जीवमात्र नहीं हो

तुम इससे बहुत ऊंचे हो। किस तरह अर्पण करोगे? प्रथम अप्तत्व लो—तुम्हारे शरीर में जो जलीय अंश है उसको बोध करो। (जो सत्यप्रतिष्ठा में अभ्यस्त हैं, उनके लिये यह बोध बहुत ही सुगम है)। मुख से कहो "जल सत्य है" और अन्तर में उस जल-बोध को बनाये रहो। (स्वाधिष्ठान केन्द्र में वरुण बीज (वं) के आधार से ऐसी धारणा बहुत सुगम हो जाती है)। जब वह जल-बोध घनीभूत हो जाय, तब उसको मा—आत्मा समझ कर आदर करो। फिर उसी की बाहर भी धारणा करो; अर्थात् ब्रह्म-रूप से उपासना करो। देखो—वह जलमय-सत्ता ही पृथिवी के भीतर जलधारा रूप से, और भूमि के ऊपर नद-नदी, समुद्र इत्यादि रूप से, वृक्षादि में रस रूप से, पर्वत में झरने रूप से, आकाश में मेघ रूप से अवस्थित है। देखो—तुम्हारी देह से आरम्भ करके समग्र पृथिवी के अन्तर बाहर अन्तरिक्ष में—प्रति परमाणु में जलमय-सत्ता है। देखो, और कहो—"इदं जलं सर्वेषां भूतानां मधु, अस्य जलस्य सर्वाणिभूतानि मधु"। देखो, तुम्हारे अन्तर बाहिर, ऊपर नीचे, जल के सिवाय और कुछ भी नहीं है, और फिर कहो-"अयमेव सः—योऽयमात्मा, इदं ब्रह्म, इदम् अमृतम्, इदं सर्वम्।"

इसी तरह तेजस्तत्त्व को बोध करो। शरीर में स्थित ताप और जठराग्नि से आरम्भ करो; (मणिपुर-केन्द्र में अग्नि बीज (रं) के अवलम्बन से यह धारणा सहज हो सकती है)। मुख से कहो-"अग्नि सत्य है," फिर उस अग्नि-बोध को चढ़ाओ—धरती के भीतर ताप रूप से, भूपृष्ठ पर सब वस्तुओं में ताप रूप से, जल में बाड़वाग्नि-रूप से, अरण्य में दावानल रूप से, सूर्य्य, चन्द्र ज्योतिष्क-मण्डल और बिजली में प्रकाश रूप से, इस तरह सर्वत्र देखो। तुम्हारी देह से आरम्भ करके जहाँ तक तुम्हारी ज्ञान-दृष्टि पहुंचे वहाँ तक देखो कि अग्नि के सिवाय

कहीं भी कुछ नहीं है। विश्व में यह अग्निमय-सत्ता बोध करो कहो, भक्ति के साथ देखो–"अयमग्निः सर्वेषां भूतानां मधु अस्याग्ने सर्वाणि भतानि मधु" देखते-देखते तुम्हारा बोध अग्नि मय होने लगेगा। तब कहना–"अयमेव सः—योऽयमात्मा, इ ब्रह्म, इदम् अमृतम्, इदं सर्वम्"।

इसी तरह मरुत्-तत्व। मुख से कहो–"वायु सत्य," फि देखो, तुम्हारा श्वास प्रश्वास एवं सर्वशरीरगत वायु-प्रवाह आरम्भ करके जल स्थल-अन्तरिक्ष सर्वत्र वायुमय है। (अन हृत केन्द्र में वायुबीज (यं) के अवलम्बन से यह धारणा सह साध्य हो जाती है)। तुम्हारे अन्तर बाहिर वायु के सिवा कहीं भी कुछ नहीं है; इस तरह बोध करते करते, पूर्व ऋषि के सुर में सुर मिलाकर उपनिषद् का मन्त्र पढ़ो–"अयंवायु सर्वेषांभूतानां मधु, अस्य वायोः सर्वाणि भूतानि मधु"। औ देखो—वह मा, जिसको तुम चाहते हो, जिसके अन्वेषण जन्म-जन्मान्तर से भ्रमते हो, वह मा इस रूप से—इस विश्व व्यापी वायु रूप से, तुम्हारे सामने विराजती है, उसको आत्म करो—आत्मा समझ कर आदर करो। कहो "अयमेव सः— योऽयमात्मा, इदं ब्रह्म, इदम् अमृतम्, इदं सर्वम्"।

इस तरह अभ्यास करते करते समझोगे कि शक्ति-समर्प वा देवताओं के अस्त्र-त्याग का रहस्य क्या है। यद्यपि इ साधनों का रहस्य पुस्तक में लिख कर इस भाव से प्रका करने पर अनधिकारी के हाथ में पड़ने से गुरु-वेदान्त-वा का अपमान होने का पूर्ण सन्देह है; तथापि वर्तमान देश, का पात्र विवेचना से प्रकाश किये बिना रह नहीं सकते। यदि हम पाठकों में से एक भी इस मार्ग पर चले और इन तत्त्वों सत्य समझ कर आदर की दृष्टि से देखना आरम्भ करे हमें अपने विधि-विरुद्ध विचार के प्रकट करने में भी नि

आनन्द प्राप्त होगा ।

वज्रमिन्द्र समुत्पाद्य कुलिशादमराधिपः ।
ददौ तस्यै सहस्राक्षोघण्टामैरावताद्गजात् ॥२१॥

अनुवाद । अमराधिप सहस्रलोचन इन्द्र ने वज्र से वज्र उत्पादन एवं ऐरावत-हाथी से घण्टा ला कर उस देवी को अर्पण किया ।

व्याख्या । इन्द्र—देवाधिपति हैं । वज्र अर्थात् विद्युत् इनका अस्त्र वा शक्ति है । हमारी वासभूमि यह वसुन्धरा जो एक तड़ित्-यन्त्रमात्र है, यह आधुनिक वैज्ञानिक भी अब स्वीकार करते हैं । यद्यपि उनकी दृष्टि में वह अब भी एक जड़-शक्ति-रूप से प्रतीत होती है; तथापि हम उसको जड़ रूप से प्रकाशित चित-शक्ति रूप ही समझें । जो चैतन्यसत्ता स्थूल में तड़ित-शक्ति रूप से प्रकाशित होती है; अर्थात् तड़ित्-शक्ति के अधिष्ठित जो चैतन्य है, वही इन्द्र देवता नाम से प्रसिद्ध है । इस से पूर्व पांचवें मन्त्र की व्याख्या में इन्द्रादिदेव इन्द्रियाधिपति रूप से व्याख्यात हुए हैं; और यहां शक्ति की दिशा से वर्णित होते हैं । विचार-शील पाठक इसमें कुछ विरोध न देखेंगे । इन्द्रियों की ओर से पाणिइन्द्रिय को एवं शक्ति की ओर से तड़ित्-शक्ति को आधार रूप में ग्रहण करके इन्द्रदेवता को समझते हैं । और वास्तव में आदान और तड़ित्-शक्ति परस्पर मिले ही रहते हैं; जैसे जहां धूम होगा, वहीं अग्नि अवश्य ही होगी। अस्तु, इन्द्रदेव अब तक विश्वमय तड़ित्-शक्ति वा वज्र को अपना समझते थे; इसी से उनको महिषासुर द्वारा स्वर्ग से भागना पड़ा था। आज इन्द्रदेव ने उस चिन्मयी के मातृ-चरणों में भेट दे कर महिषासुर के मारे जाने का पूर्व आयोजन सम्पन्न कर लिया था । वज्र रूप जिस शक्ति के ऊपर इन्द्रदेव का आधिपत्य है, वह शक्ति उनकी

नहीं है, यह ठीक-ठीक अनुभव करने का नाम ही वज्र-समर्पण है। वज्र इन्द्र का ही रहा, केवल वज्रविषयक ममत्वाभिमान दूर होगया। इसी से वज्र से वज्र उत्पन्न कर अर्पण की बात मंत्र में कही गई है। अन्यान्य देवताओं के अस्त्रादि प्रदान के सम्बन्ध में भी ऐसा ही समझिये। पूर्व भी एक बार यह बात कही है।

साधक ! तुम भी देखो—तुम्हारी देह में स्थित तड़ित्-शक्ति से आरम्भ करके जल, थल और अन्तरिक्ष में विश्वव्यापी जो तड़िन्मण्डल है, वही चिन्मयी मा है। उसे सरल-प्राण से, सत्य ज्ञान से मा कहो। देखो—"इयं विद्युत् सर्वेषां भूतानां मधु अस्याः विद्युतः सर्वाणि भूतानि मधु।" सब भूतों में विद्युत् पूर्ण भाव से, मधु रूप से, आत्म रूप से, अमृत रूप से रहती है। देखो, केवल मधुमय-जगत्, केवल आत्मदान का विशुद्ध आनन्द। एक दूसरे का प्रियतम—मधु—आत्मा—बड़े प्रेम की वस्तु है। देखो—शक्ति-रूपिणी मा हमसे बहुत प्यार करती हैं फिर हम भी मा को कितना प्यार करते हैं। देखो—मा के हृदय में हम और हमारे हृदय में मा। हम मा के मधु, मा हमारी मधु ओः क्या साधक ! तुम्हारी छाती फटी जाती है ? रोना आता है ? रोओ, और कहो—मा, तुमही हमारे प्राण हो, तुमही हमारे प्राण हो ! अजी देखो—केवल प्राण का आदान प्रदान क्या हम तुम्हारे प्राण, तुम हमारे प्राण। क्या यह तत्त्व समझे ? अजी इस जड़ बिजली से ही कहो—अयमेव सः—योऽयमात्मा, इदं ब्रह्म, इदम् अमृतम्, इदं सत्यम्। देखो महिषासुर-वध कितना सहज है। परन्तु यह दूसरी बात है।

इन्द्रदेव ने ऐरावत से ला कर घण्टा दिया। इर् धातु का अर्थ गति वा वेग है। इरावान् शब्द का अर्थ गतिशक्ति वाला इरावान के अपत्य वा उस सम्बन्धीय वस्तु को ऐरावत कहते हैं। ऐरावत—इन्द्र का वाहन है। इन्द्र का दूसरा नाम है

वाहन। मेघ और ऐरावत अभिन्न हैं। परन्तु ऐरावत को हाथी क्यों कहा ? पूर्व कहा है—इन्द्र-वज्र (तड़ित-शक्ति) का देवता है। ऐरावत उस शक्ति को चलाने वाला है। जिस स्थूल गमनशील पदार्थ को अवलम्बन करके तड़ित-शक्ति चलती है, उसका नाम —ऐरावत हाथी है। यद्यपि पृथिवी के अनेक प्रकार के पदार्थों को अवलम्बन करके ही यह शक्ति चलती है, तथापि विशेषभाव से मेघ ही इसका वाहन वा परिचालक है। मेघ रंग वा गठन में अनेक समय हाथी के सदृश ही होता है। अब भी प्रबल तूफान के समय जो जल के स्तम्भ उठते हैं लोग उन्हें स्वर्ग से ऐरावत का उतरना कहते हैं। घने काले बादल की घटा जैसे जल के भार से झुक जाती है, "वर्षहिं जलद भूमि नियराये" और प्रबल तूफान के प्रभाव से नदी आदि में उछलती हुई स्तम्भाकार जलराशि सूँड़ के आकार से मानो मेघ को स्पर्श करती हो; दूर से यह दृश्य देखने पर सत्य ही कहा जाता है कि स्वर्ग से ऐरावत उतर कर जल पान करता है। अस्तु, जो वस्तु बिजली को चलाने वाली है, वही शब्दवाहक है; कारण, गति के कम्पन से ही शब्द प्रकट होता है; इसी से, ऐरावत के कण्ठ में शब्द उत्पन्न करने वाला घण्टा हिलता है। इन्द्रदेव ने वज्र-अर्पण के साथ-ही-साथ वज्र के साथ होने वाली ध्वनि भी अर्पण की; अर्थात् वज्र-ध्वनि पर्य्यन्त मातृ-शक्ति मात्र है, यह अनुभव किया। घण्टा समर्पण का यही रहस्य है।

यहाँ फिर हम पाठकों का संशय निवारण के लिये कहते हैं कि इन्द्र ऐरावत आदि की ऐसी व्याख्या देख कर गजारूढ़, वज्रपाणि इन्द्र की मूर्ति के विषय में कोई सन्देह न करें। यद्यपि पूर्वमीमांसा दर्शनशास्त्र के प्रणेता महर्षि जैमिनि ने इन्द्रादि देवताओं की मूर्ति को अस्वीकार कर, केवल मात्रात्मक देवता स्वीकार किये हैं; तथापि हम मूर्ति-विशेष को अस्वीकार

नहीं कर सकते; क्योंकि कोई तो इस परिपूर्ण सर्वशक्तिमयी मा में कुछ अभाव कल्पना करते हैं और दूसरों को उन विशिष्ट मूर्तियों का यथार्थ दर्शन होता है। (किस तरह मूर्ति का आविर्भाव होता है, यह आलोचना कई वार हो चुकी है)। और महर्षि जैमिनि ने जो मन्त्रमय-देवता कहे हैं, वह भी युक्ति विरुद्ध बात नहीं है; कारण कि देवमूर्तियां भावमय हैं। साधक का विशिष्ट-मूर्ति-विपयक भाव (चैतन्य) घनीभूत होकर स्थूल में मूर्ति आकार से प्रकाशित होता है। मन्त्र उस भाव के उद्दीपक हैं। भाव कहने से उस भाव के मूल में कोई शब्द है, यह समझा जाता है। शब्द-रहित भाव हो ही नहीं सकता। एकमात्र "भावातीत" स्वरूप को अशब्द कहा जाता है। शब्द ही मन्त्र है। जो शब्द जैसी देवमूर्ति-विपयक भाव को सहज में जागृत कर दे, वह शब्द ही उस देवता का मन्त्र है। अतएव मन्त्रमय देवता कहने में कुछ दोप नहीं है। फिर यदि कोई कहे कि देवताओं की मूर्ति रहने से दो अनिष्ट होते हैं। प्रथमतः—एक ही देवता एक ही समय में अनेक स्थानों में पूजा ग्रहण नहीं कर सकता; दूसरे गजारूढ़, वज्रपाणि, इन्द्रदेव यदि पूजा-स्थल में आविर्भूत हों तो मिट्टी की मूर्ति अथवा घटादि चूर्ण हो जायंगे (ये बालकोचित आपत्तियाँ मीमांसा-दर्शन में ही हैं) उसके उत्तर में कहते हैं—ऐसी आपत्ति तुच्छ है; कारण, देवता प्रत्येक साधक के अन्तर ही में सूक्ष्म-रूप से अवस्थित हैं। अतएव एक ही समय अनेक स्थानों में पूजा आदि ग्रहण करने में आपत्ति नहीं। फिर देवताओं की देह हमारी देह की तरह भौतिक नहीं है, जो उसके आविर्भाव से चूर्ण हो जाय। देव-मूर्तियां चिन्मय अर्थात् केवल चैतन्य द्वारा गठित हैं। साधक के भक्ति-रूप-हिम से—प्रत्र लप्रार्थना से, साधक के ही अन्तरस्थित चैतन्यमय देवताविपयक भाव घनी-

होकर स्थूल में प्रकाशित होते हैं। इस सिद्धान्त में कदाचित् कोई-कोई आपत्ति करेंगे—कि देवता यदि सूक्ष्म-रूप से प्रति जीव के भीतर ही रहते हैं, तो जीव-भेद से देवता-भेद भी होगा; अर्थात् इन्द्रादि की तरह एक-एक देवता अगणित हो जायंगे। शास्त्र में तो ऐसा उल्लेख नहीं है; यह बात ठीक है; इसका उत्तर यह है कि चैतन्य जिस प्रकार वस्तुतः एक-अभिन्न होने पर भी प्रति जीव में भिन्न-भाव से प्रकाशित होता है, यह भी उसी प्रकार है। पूर्व भी यह देवता-तत्त्व विशेष रूप से व्याख्यात हुआ है।

देवताओं की मूर्ति के सम्बन्ध में इतनी बात कहने की आवश्यकता यह है कि एक दल के लोग सिर्फ़ आध्यात्मिक तत्त्व स्वीकार करते हैं; और दूसरे दल के लोग—देव-मूर्ति आदि को अज्ञ लोगों के लिये रूपकमात्र कह कर उड़ा देने की चेष्टा करते हैं; और तीसरा दल पौराणिक-उपाख्यानों का यथार्थ रहस्य समझने की चेष्टा न करके ऐसा मानता है कि देवताओं के भी हमारी ही तरह घर मकानादि हैं, विवाहादि होते हैं, उनका देह भी हमारी तरह पञ्चभूतों का बना हुआ है इत्यादि। ये सब ही ज्ञान के एक अंशमात्र हैं। इसी कारण बार-बार इन तत्त्वों की आलोचना करना आवश्यक है। केवल एक बात याद रख कर शास्त्रीय रहस्य में अवतीर्ण होने से फिर कोई गोलमाल न रहेगा। वह बात यह है कि स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों ही सत्य हैं और इन तीनों का सामञ्जस्य ही यथार्थ सिद्धान्त है। परन्तु इन तीनों में कारण की ओर विशेष लक्ष्य रखना होगा। सूक्ष्म और स्थूल की गति मानो कारण की ओर होती है। कारण की ओर लक्ष्य परित्याग कर केवल स्थूल अथवा केवल सूक्ष्म विषयक कोई सिद्धान्त करने से वह भ्रम-पूर्ण होगा। स्थूल जैसे सूक्ष्माभिमुखी रहता है, वैसे ही सूक्ष्म कारणाभिमुखी रहता है। ऐसा समझने से फिर शास्त्रार्थ निर्णय

करने में कुछ सन्देह नहीं हो सकता। पाठकों के बोध ं सुगमता के लिये स्थूल, सूक्ष्म और कारण क्या है, वह ं बतलाये देते हैं। कारण—परमात्मा विशुद्ध चैतन्य; सूक्ष्म-शक्ति-माया वा प्रकृति और स्थूल—कार्य्य अर्थात् यह जीव जगत् है।

अब हम प्रस्तावित विषय की ओर आते हैं। देव-लोक सूक्ष् है, इसकी विशिष्ट-मूर्ति स्थूल भाव को प्राप्त होने पर भी सूक्ष् लोक के ही अन्तर्गत हैं। तड़ित्—स्थूल है। जिस चैतन्य व बाहिरी विकाश तड़ित् है, वही इन्द्र की शक्ति है। यदि कोई ज विशिष्ट-चैतन्य में समाहित होकर इन्द्र की मूर्ति के दर्शन करन चाहे, तो वह ध्यान के अनुसार अनायास मूर्ति प्रत्यक्ष क सकता है। इसमें अन्यथा न कभी हुआ न हो सकता है ॥२१॥

कालदण्डाद्यमो दण्डं पाशञ्चाम्बुपतिर्ददौ ।
प्रजापतिश्चाक्षमालां ददौ ब्रह्मा कमण्डलुम् ॥ २२

अनुवाद। यम ने अपने काल-दण्ड से दण्ड, इसी तर वरुण ने पाश, प्रजापति ने अक्षमाला एवं ब्रह्मा ने कमण्ड दान किया था।

व्याख्या। यम—मृत्युपति है। जो चैतन्य मृत्यु-रूप ं प्रकाशित होता है, उसी का नाम यम है। सब जीवों क संयमनकर्ता यह मृत्युपति है; इसी से इसको यम कहा जाता है कालदण्ड इसका अस्त्र है। जीव कितनी ही उच्छृङ्खल गति क्यों न चले, ये काल-रूप-दण्ड के प्रभाव से जीव को सं अवश्य ही करेंगे। इससे काल-दण्ड ही यम का अस्त्र है।

वरुण—जलाधीश है। पूर्व इसके शक्ति और शस्त्र अ का विषय कहा गया है। अब इसके प्रधान अस्त्र पाश अ की बात भी कहते हैं। पाश-बन्धन का साधन रस्सी है (भू बांधने की पांसी रस्सी ही से तो बनती है) अनुराग वा आस

ही ने जीव को बांध रक्खा है; इससे अनुराग ही पाश है। इस पर आपत्ति हो सकती है कि केवल अनुराग ही से तो जीव नहीं बंधा है, द्वेष भी तो बन्धन है। ठीक है, परन्तु द्वेष अनुराग का ही रूपान्तर मात्र है। अनुराग जहाँ बाधा को प्राप्त होता है, वहीं वह द्वेष का आकार धारण कर लेता है।

प्रजापति—अक्षमाला। पचास मातृका—वर्णमाला ही अक्षमाला है। वर्णमय यह जगत् है। जो मातृका न्यास करते हैं, वे समझ सकते हैं कि जीव का देह वास्तव में अकारादि पचास अक्षरों द्वारा ही बना है। पूर्व कहा है कि भाव की घनीभूत अवस्था ही मूर्ति है। भाव शब्दमूलक हैं, और शब्द कुछ वर्णों की समष्टि मात्र है। इस तरह वर्णमाला से ही जीव-जगत् वा प्रजा-समूह की सृष्टि हुई है; इसी से प्रजापति की शक्ति अक्षमाला है।

ब्रह्मा—कमण्डलु। सृष्टि के बीज जिस स्थान में अव्यक्त भाव से रहते हैं, उन अव्यक्त बीजों का आधार ही कमण्डलु है। हम जो बार-बार जन्म-मृत्यु भोगते हैं अथवा जीवनकाल में ही बार-बार भाव की चञ्चलता अनुभव करते हैं, वह अव्यक्त बीज का व्यक्तभाव मात्र है। यह अव्यक्त-आधार अर्थात् जहाँ सृष्टि के बीज गुप्त भाव से रक्खे हैं, वही ब्रह्मा का कमण्डलु है।

इसी तरह यम, वरुण, प्रजापति और ब्रह्मा, इन्होंने यथा-क्रम से कालदण्ड, पाश, वर्णमाला और कमण्डलु अर्पण किये। उनकी जो शक्तियां हैं वे माया की ही शक्ति-मात्र हैं, यह पूर्ण रूप से अनुभव किया। साधक! तुम भी अपना मृत्युभय, अनुराग, स्थूल और सूक्ष्म-देह-गत गठन-शक्ति एवं अव्यक्त-संस्कार मातृ-चरणों में उपहार दे कर, ममत्व से—अभिमान से मुक्त हो। मुक्ति-मार्ग में आगे बढ़ो! इनका अर्पण किस तरह किया जाता है, इसका आभास पूर्व ही दिया जा चुका है। प्रत्येक को अलग-अलग समझाने से पुस्तक का कलेवर बहुत

बढ़ जायगा और कदाचित् हम भी अधीर हो जायें।

समस्तरोमकूपेषु निजरश्मीन् दिवाकरः।
कालश्च दत्तवान् खड्गं तस्याश्चर्म्म च निर्म्मलम् ॥२३

अनुवाद। दिवाकर—सूर्य ने देवी के सब रोम-कूपों में अप
किरणें प्रदान कीं, और काल (मृत्यु) ने खड्ग और निर्म
अति चिकनी ढाल अर्पण की ॥ २३ ॥

व्याख्या। सूर्य्य की प्रकाश-शक्ति मा के समस्त अङ्ग
प्रति रोम-कूप में प्रकाशित हुई; अर्थात् सूर्य्य-देव ने समझा
जिस प्रकाश-शक्ति के प्रभाव से मैं विश्व-प्रकाशक हूँ, वह मा
प्रकाश के सिवाय और कुछ नहीं है। हम में अपनी कोई प्रका
शक्ति नहीं है। इसी का नाम है मातृ-अङ्ग में सूर्य्य का रश्मिदा
उपनिषद् में भी कहा है—"न तत्र सूर्य्यो भाति"। "तमेव भान्
मनुभाति सर्वम्"।

काल ने ढाल और खड्ग अर्पण किया। काल—काला
चैतन्य है—जिस पर जगत् ठहरा हुआ है। "कालो हि जगदा
कालाधारो न विद्यते।" काल ही जगत् का आधार है, काल
आधार कोई नहीं। पूर्व मृत्युपति ने देवी को काल-दण्ड प्र
किया है। वह काल-संहरण-शक्ति रूप है। यहां काल श
से जगदाधारस्वरूप महाकाल समझना चाहिये। काल
सम्बन्ध में यहां और कुछ आलोचना करना अप्रासङ्गिक
होगा। काल हमारे निकट भूत, भविष्यत् और वर्तमान
तीन रूप से प्रकाश पाता है। वस्तुतः काल एक अखण्ड
हुआ नित्य वर्तमान है। "जगत् है;" यहां "है" यह का
द्योतक है, अर्थात् वर्तमान काल-रूप-आधार पर जगत्
विद्यमानता समझी जाती है। इसी तरह "जगत् था," "ज
रहेगा," इत्यादि स्थल में भी काल आधार रूप से ही अव

होता है। एवं सर्वत्र। यद्यपि हम अनेक समय "काल है" ऐसा वाक्य प्रयोग करते हैं और उसका कुछ अस्पष्ट अर्थ भी समझ लेते हैं; किन्तु वह वस्तु शून्य कुछ विकल्प-ज्ञान-मात्र है; कारण, काल है कहने से—काल का अधिकरण समझा जाता है। काल का वस्तुतः अधिकरण कुछ नहीं है। काल ही नित्य आधार है। इस आधार पर भूत वा भविष्यत् ठहर नहीं सकता। जिसको हम भूत वा भविष्यत् कहते हैं वह भी "है" इस वर्तमान वाचक शब्द द्वारा ही समझा जाता है। जिज्ञासा होगी तो हम भूत और भविष्यत् इन दो अंशों को क्यों वर्तमान रूप से प्रत्यक्ष नहीं कर सकते ? उसका हेतु है स्मृति और आशा। हमारी स्मृति कल्पना और आशा ये तीन ही काल के प्रकाश हैं। अपनी स्मृति, कल्पना और आशा को यदि हम अन्तर से दूर कर तो फिर काल की कुछ प्रतीति ही न रहे। सुषुप्ति अवस्था में ये तीन में से कोई नहीं रहता; इसी से काल-ज्ञान भी नहीं रहता। स्मृति=भूतकाल और आशा भविष्यत्काल रूपएक विश्वास उत्पन्न कर देता है। जो त्रिकालदर्शी हैं; वे चित्त से उन दोनों को बिलकुल विलुप्त कर देते हैं; इसी से उनको भूत और भविष्य का ज्ञान होता है। हमारी कोई कल्पना विशुद्ध नहीं है: वह अतीत की स्मृति और भविष्य की आशा से मिल कर ज्ञान-शक्ति को सङ्कुचित कर देती है, इसी से अतीत और भविष्यत् अंश प्रत्यक्ष नहीं रहता।

अस्तु, जगदाधार काल ने विच्छेदकारक खड्ग और आच्छादनकरने वाली ढाल प्रदान की। काल की प्रधानतः दो ये शक्तियाँ हैं—एक विशुद्ध चैतन्य से विच्छेद, दूसरे उसका अप्रकाश। परमात्मा में सब से पहले दिक् और काल कल्पित होता है। परमात्मा जब कालात्मक होकर अपना प्रकाश करता है, तब ही शुद्ध निरञ्जनसत्ता से अपने को विच्छिन्न समझता है; यही

खड्ग है। एवं विच्छेद के साथ-ही-साथ निरञ्जनसत्ता ढक जाती है, यही ढाल है. फिर दूसरी तरफ़ से देखा जाय तो काल ही सब को विच्छिन्न करता है और अपने स्वरूप को अप्रकाशित रखता है। इसको भी खड्ग-चर्म कहा जाता है। अब तक काल इन दो शक्तियों को अपनी मान कर अभिमान करता था, आज वह मातृ-चरणों में अर्पण कर धन्य हुआ।

साधक तुम भी अपने काल-ज्ञान को मातृ-चरणों में अर्पण करो। अपनी स्मृति, कल्पना और आशा को 'मा' समझने की चेष्टा करो; जब भूत की स्मृति, जब भविष्यत् की मोहिनी आशा आकर तुमको व्यथित वा उत्साहित करे, तब रो कर कहो-"मा! तुम नित्य वर्तमान स्वरूप होकर भी क्यों हमारे हृदय में स्मृति और आशा के आकार में उदय होने लगती हो? हमारी चिर जलती हुई छाती को क्षत-विक्षत करती हो! मा! एक वार कालातीतस्वरूप से खड़ी हो; अन्तर से अतीत और भविष्यत् का चित्र सदा को पोंछ डालो; मैं शान्ति प्राप्त कर सकूं।" इस तरह रो सकने से तुम भी कालातीत स्वरूप का पता पा कर शान्ति प्राप्त कर सकोगे॥ २३॥

क्षीरोदश्चामलंहारमजरे च तथाम्बरे।
चूड़ामणिं तथा दिव्यं कुण्डले कटकानि च॥ २४॥
अर्धचन्द्रं तथा शुभ्रं केयूरान् सर्वबाहुषु।
नूपुरौ विमलौ तद्वद् ग्रैवेयकमनुत्तमम्।
अङ्गुलीयकरत्नानि समस्तास्वङ्गुलीषु च॥ २५॥

अनुवाद। क्षीरोद-समुद्र ने देवी को मनोरम हार, सदा नये रहें ऐसे दो वस्त्र, मस्तकभूषण चूड़ामणि, कर्णभूषण दिव्य दो कुण्डल, कई कङ्कण, शुभ्र अर्द्ध-चन्द्र, बाहुभूषण बाजू

पादभूषण विमल दो नूपुर, कण्ठभूषण, अनुत्तम ग्रैवेयक (हार) एवं अङ्गुलियों में रत्नों की अंगूठियाँ प्रदान की थीं।

व्याख्या। क्षीरोदसमुद्र—शुद्ध, सत्त्वगुण अर्थात् जो रज-स्तमोगुण द्वारा अभिभूत नहीं, प्रकाशशील, निर्म्मल बुद्धि-सत्त्व। कहावत भी है, जीव देह में सात समुद्र विद्यमान हैं। यहां संक्षेप से हम इन जीव-देह में स्थित सात समुद्रों का परिचय देते हैं:—(१) विशुद्ध सत्त्वगुण—क्षीरसागर। (२) कुछ-कुछ रजोगुण द्वारा रंगीन सत्त्वगुण—घृतसमुद्र। (३) किञ्चित तमोगुण द्वारा दबा हुआ सत्वगुण—दधिसमुद्र। (४) रजोगुण—सुरा-समुद्र। (५) सत्त्वगुण से दबा हुआ रजोगुण—इक्षुसमुद्र। (६) तमोगुण से अभिभूत रजोगुण—लवणसमुद्र। (७) तमोगुण—जलसमुद्र। तीनों गुण अनादि और अपार हैं; इसी से, समुद्र के साथ इनकी उपमा दी गई है। इसके सिवाय समुद्र शब्द की निरुक्ति से भी इस उपमा की सार्थकता होती है—उन्द्‌धातु का क्लेदन अर्थात् आर्द्रीकरण अर्थ में प्रयोग होता है। जो सम्यक् प्रकार से क्लिन्न करे उसका नाम समुद्र। विशुद्ध चैतन्य को लीलारस से द्रवीभूत करते हैं; इसी कारण तीन गुण समुद्र-स्थानीय हैं। परस्पर संयोग के तारतम्य से उनके सात भेद हो जाते हैं। वही पुराणादि-शास्त्र-वर्णित "लवणेक्षुसुरा सर्पिर्दधिदुग्धजलान्तकाः" नामक सात समुद्र हैं।

इस तरह जीव-देह में सात समुद्रों के मौजूद होने की बात पढ़ कर कोई यह न समझे कि ब्रह्माण्ड में सात समुद्रों का अभाव है। क्योंकि पूर्व ही कहा गया है कि भगवत्-सृष्टि की ऐसी ही महिमा है कि जो विराट ब्रह्माण्ड में विद्यमान है, वही प्रति जीव-देह में भी वर्तमान है। इसी से हमारा हर-एक का देह मानो एक एक क्षुद्र ब्रह्माण्ड है। इसको अच्छी तरह विश्ले-

जाता है। श्रुति भी कहती है—"आत्मनो वा अरे वि
सर्वमिदं विज्ञातं भवति"।

अस्तु, इन सात समुद्रों में क्षीरसागर ही यहां प्रस्ता
और उल्लेख योग्य है। यह अनन्त रत्नों की खान है।
इसको मथन कर अनेक प्रकार के रत्न और अमृत पा कर
हुए थे। फिर इधर देखिये—बुद्धि सत्व निर्मल होने ही से
प्रकार की योग-विभूतियां प्राप्त होती हैं। इसके सिवाय
लाभ—अमृत है; जिसे पीकर जीव अमर होता है।
परमात्मा ही अमृत है। बुद्धि निर्मल होने से ही परमा
विषयक प्रज्ञा प्रकाशित होती है, जन्ममृत्यु-संस्कार दूर हों
जीव अमर होता है। साधारणतः रजोगुण-जनित
और तमोगुण जनित आवरण ने बुद्धिसत्व की प्रकाश-श
को भी सङ्कीर्ण कर रक्खा है; किन्तु तीव्र ईश्वर प्रणिधान
मातृ-कृपा से जब वह अभिभूत होता रहता है, तब ही
प्रकार का योगैश्वर्य प्राप्त होता है। जो केवल इस धन
के लोभ में मुग्ध रहते हैं, उनके लिये कुछ दिन तक
पाने का मार्ग रुका रहता है; बल्कि हलाहल उत्पन्न होता
फिर विज्ञानमय महेश्वर—श्री श्री गुरुदेव स्वयं आ कर
विषपान करते हैं और जीव (शिष्य) को अमृत पान करा
अमर कर देते हैं। इसी से कहते हैं साधक, योगैश्वर्य पाने
आशा से साधन-समर में अवतीर्ण मत हो; केवल आत्मदान
आत्माहुति ही इस समर की समाप्ति है। मातृ-चरण
आत्म-बलि दो, मातृ-लाभ होगा। पथ की भूल—योगैश्व
अपने आप आवेगा। तुम उपेक्षा करके केवल मा-मा
हुए बढ़े चलो! अपने को मा के चरणों पर ढाल दो!
प्राप्त होगा—शश्वत् शान्ति के नित्य अधिकारी होगे।

क्षीरोद-समुद्र ने देवी को क्या क्या आभरण दिये;

अब हम उनकी आलोचना करें। (१) अमलहार, (२) अजर अम्बर दो, (३) दिव्य चूड़ामणि (४) दो कुण्डल (५) कटक समूह, (६) शुभ्र अर्द्ध चन्द्र, (७) केयूर, (८) विमल नूपुर, (९) अनुत्तम ग्रैवेयक हार, (१०) अङ्गुलीयक रत्न-समूह। अनन्त रत्नों का आकर क्षीरोदसमुद्र अपनी अनुत्तमरत्नराजि से मा की पूजा कर कृतार्थ हुआ। धन-रत्न तो अनेक लोगों के पास रहते हैं; किन्तु वे यदि मा के अङ्ग की सुन्दरता पूर्ण न करें—मातृ-यज्ञ की आहुति यदि न हों, "हमारा धन है" यह अभिमान रहे तो, उस धन के कमाने, रखाने और अनुचित खर्च करने से अनेक प्रकार का सन्ताप भोगना पड़ता है। असुर लोग छल बल से वह धन हर लेते हैं। और यदि कोई उसे मा का धन समझ कर निष्कपट चित्त से अभिमान की बलि दे सके तो देखेगा कि धन के सदुपयोग के कारण निर्मल शान्ति, धनी को दिन-दिन अमरत्व की ओर बढ़ाती रहती है। इसी से आज क्षीरोदसमुद्र ने अपने समग्र ऐश्वर्य मा का वरवपु (कलेवर) सुसज्जित करने की चेष्टा की।

(१) अमलहार—विशुद्ध प्रकाश-शक्ति। बुद्धिसत्त्व निर्म्मल होने से प्रकाश-शक्ति अखण्ड होती है। विषय सम्बन्धी सब प्रकाश बुद्धि तक पहुंच सकते हैं, बुद्धि से परे विषयों का प्रकाश नहीं है। रजोगुण की चञ्चलता के कारण साधारण जीवों की यह प्रकाश-शक्ति अति क्षीण होने से—जिस किसी पदार्थ के सम्मुख उपस्थित होती है, उसके अति सामान्य अंश को प्रकाशित करती है। मान लो कि तुम वृक्ष देखते हो। तुम्हारे बुद्धि-सत्त्व या प्रकाश-शक्ति ने कह दिया—"यह वृक्ष है;" किन्तु वृक्ष का सामान्य अंश ही तुम जान सके। उसकी बीती हुई और आगे आने वाली अवस्था, उसके भीतर का रस-प्रवाह इत्यादि, सब ही तुम्हारे अज्ञात रहे। बुद्धि-सत्त्व की मलिनता ही

उसका एक मात्र कारण है। किन्तु सत्त्व-गुण विशुद्ध हो
पर ऐसा नहीं होता; विषय के सब अंश एक साथ प्रका
हो जाते हैं। इस शक्ति का नाम अमलहार है। वह जो
मात्र सर्वशक्तिमयी मातृ-शक्ति बिना और कुछ नहीं; यह
भव कर सकना ही मा को अमलहार पहना देना है। तीर
समुद्र के अमलहार—अर्पण का यही रहस्य है। अन्य
अलङ्कार अर्पण भी ऐसा ही समझना चाहिये। हम यास
अर्पण का रहस्य न कह कर, केवल आभरणों का—आ
त्मिक-तत्त्व का प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे।

(२) अजर अम्बर युगल—अविनाशी दो वस्त्र। मा
और अविद्या, ये ही मा के हेम वपु के आच्छादन हैं।
कहा है—मा कहती है, "माया वस्त्रे काया ढांकि सतत स
थाकि।" 'मा' जहां ईश्वर बोध में जागरित है, वहीं माया
का विकाश है, और जहां जीव बोध में जाग्रत है वहां अवि
शक्ति का विकाश है। ये दोनों ही अनादि हैं; इसी से मन्त्र
"अजर" विशेषण का प्रयोग है। माया और अविद्या
का स्वरूप क्या है, वह किस भाव से मातृ-अङ्ग को ढकने व
हैं, वह विशुद्ध सत्त्व का प्रकाश होने पर ही समझ में आता

टि०—विशुद्ध-सत्त्व वा सिद्धावस्था का लक्षण:—वि
सत्वस्य गुणाः प्रसादः स्वात्मानुभूतिः परमा प्रशान्तिः।
प्रहर्षः परमात्मनिष्ठा यया सदानंद रसं समृच्छति ॥ १ ॥
सत्व वा साधक अवस्था का लक्षण:—मिश्रस्य स
भवन्ति धर्म्माः स्व मानिताद्या नियमः यमाद्याः। श्र
भक्तिश्च मुमुक्षता च दैवी च सम्पत्ति रसान्निवृत्तिः ॥२॥ वि०
कर्तृत्वाभिमान, यमनियमादि, योगाङ्ग, अनुष्ठान, श्रद्धा,
मुक्ति की कामना, दैवी सम्पत्ति (गी० १६।३) शमदमादि
साधन सम्पत्ति, असदाचरण का त्याग, साधक के लक्षण हैं।

(३) दिव्य चूड़ामणि—स्वर्गीय शिरोभूषण। यह दिव्य-ज्ञान-शक्ति है, जिस ज्ञान के फल से जगत् के समस्त तत्त्व असङ्कीर्णभाव से अनुभव किये जाते हैं। साधारणतः हम जिस ज्ञान में विचरते हैं, वह सङ्कीर्ण अर्थात् मिश्रित ज्ञान है। जब हमें वृक्ष-ज्ञान होता है, तब उसकी काण्ड, शाखा, पत्र, पुष्प-, फल, त्वक्, रंग, अवकाश आदि कुछ विभिन्न ज्ञान की मिलौनी (साङ्कर्य्य) मात्र ज्ञात होती है। वृक्षत्व-विशिष्ट कुछ पूर्ण ज्ञान नहीं होता। इसी तरह किसी एक वस्तु का भी जो यथार्थ स्वरूप है, उसे साधारण जीवों का ज्ञान ग्रहण नहीं कर सकता। किन्तु दिव्य-ज्ञान-शक्ति प्राप्त होने से फिर यह सङ्कीर्णता नहीं रहती। तब प्रत्येक पदार्थ के विभिन्न धर्म्म, असङ्कीर्णभाव से प्रकाशित हो जाते हैं। बुद्धि-सत्त्व की निर्मलता का यही निर्विवाद लक्षण है।

(४) कुण्डलद्वय—कर्ण-भूषण। अत्यन्त दूर जो ध्वनि होती है और अन्तर में जो अनाहत शब्द होता है, उस स्पष्ट रूप से श्रवण करने की सामर्थ्य को दिव्य-श्रवण शक्ति कहते हैं; यही यथार्थ कर्णभूषण है।

(५) कटक—हाथ का भूषण, कङ्कण विशेष। यह दिव्य-ग्रहण-शक्ति का द्योतक है। एक स्थान में रह कर, बहुत दूर स्थिति अथवा समीप की वस्तु ग्रहण की शक्ति को कटक या हस्तभूषण कहा है।

(६) शुभ्र अर्द्धचन्द्र—ललाट भूषण, दिव्य ज्योतिः। आज्ञाचक्र से विशिष्ट-विज्ञान-ज्योति का विकाश होता है। उसके प्रभाव से छिपी हुई और सूक्ष्म वस्तु अनायास दीखने लगती हैं। इसको दिव्य-दृष्टि या दूर-दर्शन-शक्ति कहा जाता है। योग-शास्त्र में इसे "प्रवृत्त्यालोक" कहा है।

(७) केयूर—बाहु-भूषण, विधारण-शक्ति। इसी को दिव्य-धारण-शक्ति भी कहते हैं। जिस शक्ति के प्रभाव से श्रीकृष्ण ने गोवर्द्धनपर्वत धारण किया था।

(८) नूपुर—पाद-भूषण, दिव्य-गति-शक्ति। इस शक्ति के प्रभाव से दुर्गम स्थान में गमन, मिट्टी वा पत्थर में प्रवेश, बंद स्थान से अनायास बाहर हो जाना आदि अलौकिक शक्तियां प्राप्त होती हैं। किवदन्ती है कि महात्मा तैलङ्ग स्वामी को कारागार में बन्द कर दिया, पर वे अनायास ही बाहर निकल आये थे। वह इस दिव्य-गति-शक्ति का ही फल था।

(९) ग्रैवेयक—ग्रीवा का आभरण, कण्ठ-भूषण। यह दिव्य-कण्ठ है। जिसका बुद्धि-सत्त्व निर्मल है, उसका कण्ठ-स्वर जनप्रिय होता है। उसकी बातें सब को मधुर प्रतीत होती हैं। उसके गाली देने पर भी मनुष्य बुरा नहीं मानते। इसको "स्वर-प्रसाद" कहते हैं।

(१०) अङ्गुलीयक रत्न—दिव्य-स्पर्श-शक्ति। इस शक्ति के प्रभाव से सूक्ष्म,अन्तर की और अतिश्रेष्ठ वस्तु को अनायास स्पर्श करके उसकी कठोरता और कोमलता जानी जा सकती है।

बुद्धि-सत्त्व निर्म्मल होने से ही प्रातिभज्ञान होता है। योग सूत्र में कहा है—"प्रातिभात् वा सर्वम्" (३।३३)* प्रातिभ नामक ज्ञान होने से सब तरह की योग विभूतियां प्राप्त होती हैं। पूर्व कहा है कि शुद्ध-सत्त्वगुण ही क्षीरोदसमुद्र है। उसमें जो रत्न वा अलौकिक शक्तियां हैं, उन्हें मातृ-शक्ति अर्थात् मातृ अङ्ग के आभरण जान कर उनमें अर्पण करके साधक सब तरह के अभिमान से विमुक्त हो जाते हैं। जो यथार्थ मुमुक्षु साधक हैं, जो यथार्थ मातृ-स्नेह में तन्मय सन्तान हैं, उन्हें भी प्रारब्ध-फल से ये योग-विभूतियां प्राप्त हो

सकती हैं; किन्तु कर्तृत्व बोध न रहने से उसके द्वारा वे किसी अलौकिक-कार्य में हस्तक्षेप नहीं करते। जो शरणागतभाव के साधक हैं, वे सर्वतोभाव से अपना कर्तृत्व मा के चरणों में अर्पण करके निश्चिन्त रहते हैं यन्त्र से चलने वाली पुतलियों की तरह जगत् के कार्य करते जाते हैं। तथापि किन्तु समय-समय पर उनकी-अलौकिक शक्तियाँ प्रगट हो ही जाती हैं। वे अपनी इच्छा से प्रकट नहीं करते, बल्कि—मातृ-प्रेरणा ही इन शक्तियों के प्रकाश का हेतु है। जो यथार्थ मातृ-स्नेह में मुग्ध हैं उन्हें अलौकिक-शक्ति प्रकाश करके जगत् में विख्यात होने की इच्छा बिलकुल नहीं होती, इस जगत् की जय-ध्वनि वे नहीं चाहते। महती-शक्ति के अङ्क में अपना कर्तृत्व अर्पण करके, वे जगत् की स्तुति, निन्दा से बहुत ऊपर चले जाते हैं। परन्तु वह दूसरी बात है।

विश्वकर्म्मा ददौ तस्यै परशुञ्चातिनिर्म्मलम्।
अस्त्राण्यनेकरूपाणि तथाभेद्यञ्च दंशनम् ॥ २६ ॥

अनुवाद—विश्वकर्म्मा ने उसको अति निर्मल परशु, अनेक प्रकार के अस्त्र और अभेद्यकवच प्रदान किया (कं वातं वञ्चयति इति कवच)

व्याख्या। विश्वकर्म्मा—त्वष्टा। श्रुति है—"त्वष्टा रूपाणि पिंशतु"। विश्वकर्मा ही जगत् का रूप और नाम प्रकाशित करता है। अव्याकृत मूल-प्रकृति को जो विशिष्ट नाम और रूप में परिणमित करे वही विश्वकर्म्मा है। जैसे संगतराश एक पत्थर के टुकड़े को काट कर अनेक प्रकार की मूर्ति वा द्रव्यादि तैयार करता है, उसी तरह विश्वकर्मा भी नाम-रूप-रहित अव्यक्त प्रकृति को नाम-रूपादि स्वरूप में प्रकट करता है। यह विश्व-संगठन शक्ति मा की शक्ति है। यह

का नाम ही विश्वकर्मा का परशु और अन्यान्य अस्त्र प्रदान है। अभेद्य कवच प्रदान का भी एक विशेषतात्पर्य है—विश्वकर्म्मा इतना वैचित्र्यमय, इतना बहुभावमय जगत् प्रकट करके उसमें अनुप्रविष्ट होकर भी स्वयं निर्विकार रहता है। जिस प्रकार अभेद्य-कवच पहन कर योद्धा अगणित शत्रुओं को घायल करके भी स्वयं अक्षत रहता है, उसी प्रकार बहुनाम रूप से आकारित होने पर भी विश्वकर्म्मा स्वयं निर्विकार 'नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वरूप में रहता है। यह जिस शक्ति का प्रभाव है, वही विश्वकर्म्मा का अभेद्य कवच है। वह भी मा की ही शक्ति है, यह अनुभव करने का नाम ही कवच समर्पण करना है ॥ २६ ॥

अम्लानपङ्कजां मालां शिरस्युरसि चापराम् ।
अददज्जलधिस्तस्यै पङ्कजञ्चातिशोभनम् ॥ २७ ॥

अनुवाद। समुद्र ने एक अम्लान कमल की माला मस्तक पर धारण करने के लिये और दूसरी वक्ष पर धारण करने के लिये मा को दी। इसके सिवाय अति सुशोभन और भी एक पङ्कज, हाथ में धारण करने के लिये, दिया ॥ २७ ॥

व्याख्या। जलधि—जल समुद्र। पूर्व सात समुद्र प्रस्ताव में कहे गये हैं—तमोगुण ही जलसमुद्र है। पङ्कजमाला संस्कार श्रेणी है। पङ्क का अर्थ है कीचड़ और पाप; अतएव पाप में जो उत्पन्न हो वह पङ्कज कहा जाता है। पङ्क वा पाप क्या है? एकमात्र "अहं" भाव ही पाप है। देहादि में जो अहं-बुद्धि है, वही मूलपाप है। इसी से मन्त्र वर्ण में भी कहा है— "पापोऽहं"। मैं बोध अर्थात् अनात्मवस्तु में जो आत्मबोध है वही सब पापों की खानि है। पृथिवी पर जितनी तरह के पाप हैं, वे इस अहं बोध के ऊपर ही स्थिर हैं; केवल पाप ही नहीं बल्कि जिनको साधारणतः पुण्य कहते हैं, वह भी इस 'पापोऽहं'

की भित्ति पर ही प्रतिष्ठित हैं; अतएव इस दृष्टि से पुण्य भी पाप ही के अन्तर्गत है। जिस तरह परिणामादि दोष के कारण पुण्य वा जागतिक सुख भी विवेकी की दृष्टि में दुख के सिवाय और कुछ नहीं है; उसी तरह आत्मज्ञ पुरुष की दृष्टि में अनात्म बोध मात्र पाप के सिवाय और कुछ नहीं है। दर्शन शास्त्र में इस पाप पुण्य का नाम ही संस्कार है। संस्कार "पापोऽहं" से ही उत्पन्न होते हैं; इसी से इनको पङ्कज कहा जाता है। संस्कार असंख्य होने से मन्त्र में माला शब्द का प्रयोग हुआ है। ये संस्कार ही वेदान्त की भाषा में माया, सांख्य की भाषा में प्रकृति, मीमांसा की भाषा में अपूर्व्व, नैयायिक की भाषा में अदृष्ट हैं। संस्कार अनादि हैं; इसी से मन्त्र में "अम्लान" यह सार्थक विशेषण दिया गया है! मुक्त पुरुष से माया वा प्रकृति दूर खड़ी रहती है; उसका सर्वथा नाश नहीं होता, वह प्रवाह रूप से नित्य है; इसी से अम्लान है। आचार्य्य शङ्कर ने भी उपनिषद् भाष्य में कहा है— 'अमृतं कर्म्मफलम्" ।

अस्तु यह पङ्कज माला वा संस्कार श्रेणी तमोगुण ही पर ठहरी रहती है। प्रख्या व प्रकाश सत्त्वगुण का धर्म है, प्रवृत्ति वा उथल-पुथल रजोगुण का धर्म है, एवंस्थिति वा धारण तमोगुण का धर्म है। तमोगुण के अन्तर्निहित अर्थात् बीजभाव को प्राप्त संस्कार रजोगुण द्वारा उमंगते हैं; एवं उसी के फल से आत्मसत्ता प्रकाश रूप सत्वगुण का धर्म जागरित होता है; अतएव तमोगुण व जलधि ही मा को कभी न मुरझाने वाली पङ्कजमाला से सुशोभित कर सकता है। साधक याद रक्खें कि यदि सचमुच मातृ चरणों में आत्म समर्पण कर सकें तो जिन संस्कारों की ज्वाला से तुम सदा पीड़ित और बद्ध रूप से प्रतीत होते हो, वही संस्कार श्रेणी फिर मातृ अङ्ग के

भूषण रूप से शोभा पावेंगी।

इस मन्त्र में और भी रहस्य है कि दो पङ्कज माला और एक पङ्कज अर्पण का उल्लेख पाया जाता है। वह संस्कारों की तीन तरह की अवस्थाओं का सूचक है। आगामि, सञ्चित और प्रारब्ध, संस्कारों की ये तीन श्रेणी हैं। यह कथा पूर्व में कही गई है। मातृ लाभ अर्थात् आत्म साक्षात्कार होने के उत्तर एवं पूर्ववर्ती संस्कारों का क्रम से वियोग और विनाश हो जाता है, केवल प्रारब्ध शेष रह जाती है। उसका भोग के द्वारा ही विनाश होता है। आगामि संस्कार मा के "शिरसि" अर्थात् शिरो भूषण रूप से शोभा पाते हैं, सञ्चित संस्कार मा के "उरसि" अर्थात् वक्ष स्थल पर शोभा पाते हैं और बाकी रही प्रारब्ध। यद्यपि वह कुछ संस्कारों की समष्टिमात्र है, तथापि एक जन्म में ही उसका क्षय हो जाता है। इसी से प्रारब्ध कर्म्म संस्कारों को पङ्कज माला न कह कर, केवल पङ्कज कहा गया है, वह मा के हस्त स्थित लीला कमल रूप से शोभा पाता है। वास्तव में आत्म दर्शी के जीवन काल का प्रत्येक कार्य ही लीला मात्र है, कारण कि वह साधारण जीव की तरह राग द्वेष के वश हो कर कर्म में प्रवृत्त नहीं होता। मातृ-चरणों में कर्त्तृत्व अर्पण करके, मातृ हस्तचालित यन्त्र की भांति, जगत् के कार्य करता है; इसी से, यह पङ्कज मा के हाथ की लीला-कमल रूप कहा गया है। इस विषय में एक आत्म सम्वेदन भी है— "ब्रह्मात्म द्रष्टुर्व्यवहृल्लीलैव" जो आत्म दर्शी हैं, उनका व्यवहारिक जीवन लीला मात्र है ॥ २७ ॥

हिम वान वाहनं सिंहं रत्नानि विविधानि च।
ददाव शून्यं सुरया पान पात्रं धनाधिपः ॥२८॥

अनुवाद—हिमालय ने देवी का वाहन सिंह और नाना

प्रकार के रत्न, एवं धनपति कुबेर ने सर्वदा सुरा से भरा रहे, ऐसा पान पात्र दिया था।

व्याख्या—हिमवान्—घनीभूत देहात्म बोध। हिमालय-पर्वत स्थूलत्त्व अर्थात् जड़ात्म बोध का सर्व श्रेष्ठ आदर्श है। मनुष्य देह भी जड़ वा देहात्म बोध का चरम आदर्श है, जीव इस स्थूल देह को—"मैं" मान कर ऐसा बँध जाता है कि उसको हिमालयवत् चैतन्य-विमूढ़ कहे बिना रहा नहीं जाता।

सिंह—देवी का वाहन। प्रथम खण्ड में यह विषय विस्तार-पूर्वक लिखा जा चुका है। मनुष्य जब अपने देहात्मबोध की हिंसा करने लगता है तब ही वह सिंह धर्मी कहा जाता है। यह जीव भाव की प्रति हिंसा और ब्रह्मभाव जागरित करने का प्रयास, ये केवल मनुष्य शरीर में ही हो सकते हैं। इसी से मनुष्य जीव श्रेष्ठ है, सिंह भी पशु श्रेष्ठ है। मनुष्य जब अपने जीव भाव को मा के वाहन रूप से अर्थात् मातृ-शक्ति के परि-चालक एक यंत्र रूप से अनुभव कर सकता है तब ही यह सिंह का अर्पण सिद्ध होता है। जब तक अद्वैत तत्त्व का अनुभव न हो अर्थात् हमारा "मैं ही मा" है यह सम्यक् रूप से अनुभूत न हो, तब तक ही जीव-भाव पर हिंसा व सिंह भाव रहता है; किन्तु मा को पा लेने के बाद यह हिंसाभाव फिर नहीं रहता; तब से वह मा के वाहन रूप से चलता रहता है।

नाना प्रकार के रत्नों का अर्थ है अनेक वैचित्र्यपूर्ण कर्मफल। मनुष्यदेह ही यथार्थ कर्म-क्षेत्र वा कुरु क्षेत्र है। इसी देह में कर्म होता है, अर्थात् अनुष्ठान किये हुए कर्म्म यज्ञ रूप से मातृपूजा सम्पन्न करते हैं। अन्यान्य देह अर्थात देव अथवा पशुदेह भोग भूमि मात्र हैं। उन देहों से कर्म नहीं होता। साधक जब "प्रातः प्रभृति सायान्हं सायाह्नात् प्रातरन्ततः। यत्करोमि जगन्मातस्तद

देव तव पूजनम्" मन्त्र सिद्ध होता है अर्थात् जब साध
का प्रत्येक कार्य एकमात्र मातृपूजा रूप में और प्रति कर्म
मातृ तृप्ति रूप में परिणित होता है तब ही यह रत्न राजि अर्प
सिद्ध होता है। गीता में अर्जुन को उपलक्ष्य करके, हम जै
अशक्त जीवों के लिये स्वयं भगवान् द्वारा कर्मफल त्याग
जो अमूल्य उपदेश दिये गये हैं, देवी महात्म्य का यह हिम
द्वारा विविध रत्नों का मातृ चरणों में समर्पण ही उसका यथ
सफलतामय परिणाम है। इसी लिये पूर्व कहा गया है
गीता साधना है और चण्डी सिद्धि है। अस्तु, जिस प्रक
रत्नों के लोभ से मनुष्य जीवन को तुच्छ मानकर भी गंभ
समुद्र में डुबकी लगाते हैं। ठीक उसी तरह फल के लोभ से
जीव दुस्तर कर्म्म समुद्र में अवगाहन करते हैं। इस का
कर्मफल ही रत्न है। साधक! यह रत्न राजि मातृ चरणों
उपहार देकर कर्म बन्धन के हाथ से मुक्त हों।

यहां और एक विशेष जानने की बात यह है कि नि
समर्पण हुए बिना रत्न-अर्पण हो ही नहीं सकते। प्रथम जं
भाव को मातृ वाहन रूप से अनुभव करते हैं; तब देखा जा
है कि कर्मफल अर्पण अपने आप हो जाता है, इसके लि
पृथक कोई चेष्टा नहीं करनी पड़ती। साधक अपने जीव कर्तृ
भिमान को लेकर मातृ चरणों पर झुकादो, फिर देखोगे कि
की ओर ध्यान न रहने पर भी तुम बहुवैचित्र्यमय कर्म क
के यत्न स्वरूप हो गये हो।

धनाधिप जीवनी शक्ति। जीवन ही सर्वधनों का अधि
है। वह सदा विषयानन्द रूप सुरापान में ही मस्त रहता
अब तक समझ में नहीं आया था कि यह मदिरा कहाँ से अ
है। यह जो कामिनी काञ्चन के भोग से उत्पन्न तृप्ति रूप
है यह क्या है, इसको न जानने ही के कारण तो महिषासु

अत्याचार से स्वर्ग भ्रष्ट थे। अब तक के इस अत्याचार के फल से ही आज यह समझ में आया है कि यह मदिरा से भरा विषय रूप प्याला भी मा के सिवाय और कुछ नहीं है। बड़े सौभाग्य के उदय से मनुष्य इस प्याले को भी मा रूप समझ सकते हैं। विषयानन्द भी ब्रह्मानन्द के सिवाय और कुछ नहीं है। यह समझ सकने पर ही आज ब्रह्ममयी के ब्रह्मयज्ञ में विषयानन्द पूर्ण पान-पात्र की पूर्णाहुति देकर धनाधिपति धन्य हुए हैं ॥ २८ ॥

शेषश्च सर्व नागेशो महामणि विभूषितम्।
नाग हारं ददौ तस्यै धत्तेयः पृथिवीमिमाम् ॥ ६ ॥

(अनुवाद) इस पृथिवी को धारण करने वाले नागाधिपति शेष नाग (अनन्त) ने देवी का महामणि विभूषित नागहार प्रदान किया।

व्याख्या। शेष-अवशेषामृत-संस्कार बीज। योग की भाषा में इनको 'कर्माशय' कहा जाता है; कर्माशय से ही जीव की जाति, आयु और भोग सिद्ध होते हैं। पार्थिव देह से ही ये हो सकते हैं, क्योंकि कर्म्माशय ने सदा पृथिवी अर्थात् पार्थिव भावों को धारण कर रक्खा है; इसी से मन्त्र में "धत्तेयः पृथिवीमिमाम्" कहा गया है। हम ज्ञान से वा अज्ञान से जिन कर्मों का अनुष्ठान करते हैं वे सूक्ष्म बीजाधार रूप में कर्माशय से अंकुरित होते हैं। प्रति जीवन में नये नये कर्माशय बनते हैं इसी कारण प्रति जीवन में नये नये कर्म अनुष्ठित होते रहते हैं। कर्म की शेष अवस्था होने के कारण इन संस्कार बीजों को "शेष" कहा जाता है।

इन को सर्प और सर्व नागाधिपति क्यों कहते हैं ? कर्म्म कहने से ही एक प्रकार की शक्ति का स्फुरण समझ लेते। दर्शन

श्रवणादि प्रत्येक कर्म एक-एक प्रकार की शक्ति का स्फुरण मात्र है। ये शक्तियां जब अव्यक्त वा वीज अवस्था में रहती हैं तब इनका स्वरूप अनुभूत नहीं होता; कार्य रूप में प्रकाश होने से ही शक्ति की सत्ता अनुभव होती है। शक्ति जब प्रकाशित होती है, अर्थात् प्रवाह शील होकर कार्य्य रूप से अपना प्रकाश करती है तब उसकी गति सर्पवत् होती है। सृप धातु का अर्थ कुटिल गति है। कुटिल गति वाले जीव को ही सर्प कहते हैं। शक्ति प्रवाह कभी सरल गति से नहीं चलता। आधुनिक जड़ विज्ञान से भी यह अच्छी तरह प्रमाणित हुआ है। (परन्तु हमारी समझ में शक्ति जड़ नहीं है, शक्ति कहने से हम चित् या चैतन्य सत्ता ही समझते हैं) अस्तु। हमारी अनेक देव देवी मूर्तियां हैं जो सर्प भूपण वा सर्प परस्थित हैं। उनका भी रहस्य यही है, कि जो शक्ति घनी भूत होकर जैसी स्थूल मूर्ति में प्रकाशित होती है, उस शक्ति की प्रवाह मय अवस्था प्रकट करने ही के लिये, मूर्तियों का सर्पाभरण दीखता है। एवं इस सत्य के अनुसार ही जीव भाव वाली शक्ति को "कुल कुण्डलिनी" कहा है। वस्तुतः साधक जब विशिष्ट क्रियादि करते हैं, तब वे प्रत्यक्ष अनुभव भी करते हैं कि शक्ति प्रवाह मानो सर्प गति से प्रवाह मय होकर ऊपर की ओर उठता है, अथवा ऊपर से नीचे को उतरता है।

अस्तु, कर्म्माशय से ही छोटी बड़ी सब शक्तियों का विकाश होता है इसी से 'शेप' को 'सर्वनागेश' कहा जाता है। इन्होंने मा को महामणि विभूपित नागहार दिया। मोक्ष फल सुशोभित कुल कुण्डलिनी ही मणि विभूपित नागहार हैं। यद्यपि वास्तविक बन्ध या मोक्ष कुछ भी नहीं है, कारण कि परमात्मा नित्य मुक्त स्वरूप हैं; तथापि जीव भाव की अपेक्षा से बद्ध और मोक्ष दोनों ही हैं, क्योंकि सत्य सङ्कल्प ब्रह्म में ही

जीव भाव परि कल्पित है।

साधक ! मूलाधार ही कर्म्माशय है; इसी में जीव भाव स्थित है। जीव भाव का नाम ही कुल कुण्डलिनी है। कोई सर्प-कल्पना करके मार्ग मत भूल जाना। जीव की ही मुक्ति होती है, इसी कारण कुण्डलिनी के मस्तक पर मोक्ष रूप महामणि सुशोभित है। सर्पगति से जीव शक्ति ब्रह्माभिमुखी होती है, इसी से उसको सर्प कहा है। यह जीव शक्ति भी मा है, यह अनुभव कर सकने से ही नागहार अर्पण सिद्ध होता है। मूलाधार स्थिता सुपुसा भुजङ्गी रूपिणी मा से कहो मा ! तुम कब जागोगी ! कब ये जीवत्त्व की बेड़ी गिर जांयगी ? "मा ! जो योगी हैं, जो शमदमादि साधन बल सम्पन्न हैं, वे अनेक उपायों की सहायता से तुम को जाग्रत करने का प्रयास करते हैं। हमारे पास न तो कुछ बल है न साधना ही है मा !" तब क्या मा सदा सोती ही रहोगी ? एक बार जागो, एक बार परमेश्वरी मूर्ति से खड़ी होकर अपने इस पुत्र को आदर से गोद में लेलो।" इस भाव से सरल प्राण से प्रार्थना करो! तो देखोगे कि मा, कुल कुण्डिली जाग गई है और तुम्हारा जीवन मातृ-अङ्क में मुक्तिरूप-महामणि भूपित हाररूप से शोभायमान है और तुम मा में मिल गये हो।

अन्यैरपि सुरैर्देवी भूषणैरायुधैस्तथा।
सम्मानिता ननादोच्चैः साट्टहासं मुहुर्मुहुः ॥३०॥

अनुवाद। इस तरह अन्यान्य देवताओं द्वारा अनेक प्रकार भूषण और आयुध द्वारा सम्मानित होकर देवी बारम्बार अट्ट-हास और उच्चनाद करने लगी।

व्याख्या। प्रधान देवताओं की शक्ति समर्पण कह कर अन्यान्य देवताओं का भी हथियार भूषण आदि देने का विषय

उल्लेख कर के ऋषि ने यह प्रस्ताव समाप्त किया। ठीक ऐसा ही होता है—जीव जब सर्वतो भाव से मातृ-लिप्सु हो जाता है, तब उसके मन, बुद्धि, इन्द्रिय, अङ्ग-प्रत्यङ्ग यहाँ तक कि देह का प्रत्येक परमाणु तक मातृ नाम से झङ्कार उठता है। मातृ नाम से—प्रणवादि मन्त्र जाप से ऐसा ही अभ्यास हो जाता है, कि बिल्कुल अनमना भाव होने पर भी जप होता रहता है श्वास प्रश्वास की भांति बिना प्रयत्न के जप सिद्ध होता है। जप कहने से कोई माला व हाथ का जप न समझे। "तज्जपस्तदर्थभावनम्" मातृ स्वरूप या महत्त्व अनुचिन्तन ही यथार्थ जप है। योगयुक्त अवस्था ही जप का विशेष लक्षण है। अस्तु, इस तरह योग युक्त भाव घनीभूत होता है। क्रम से व्यष्टि शक्ति समष्टिभाव को प्राप्त हो कर संस्कारानुसार इष्ट-मूर्तिरूप प्रकाशित होती है अथवा विश्वव्यापी चैतन्यमय सत्ता का अनुभव होता है तब साधक अच्छी तरह समझ सकते हैं—यही एकमात्र कर्ता भोक्ता महेश्वर है। यह एक होकर भी सर्वभाव के अधिष्ठान और सब भावों में ओत-प्रोत हैं। अब तक जिनमें हम अभिमान करते थे, अर्थात् हमारी देह, हमारा मन, हमारी बुद्धि इत्यादि रूप इस अभिमान के दृढ़-बन्धन से बंधे हुए थे, वह हमारी अज्ञता थी। अब मातृ-कृपा से अनुभव कर सके हैं कि मैं और मेरा कहने वाला मा के सिवाय और कोई नहीं है। सर्वस्वरूपा मा, सर्वेश्वरी मा, एवं सर्व शक्तिमयी मा, इन तीन स्वरूपों में मा जीव, ईश्वर और ब्रह्मभाव में नित्य विराजती है। "मा के सिवाय कहीं भी कुछ नहीं है" इस महासत्य पर प्रतिष्ठित होना ही अभिमान का बन्धन कट जाना है। तब साधक जो कुछ पाता है, वस्त्र, आभूषण आदि इत्यादि सब मा के चरणों पर अर्पण करता रहता है। जिन वस्तुओं में अभिमान अर्थात् ममत्व बोध था, वे सब

निष्कपट भाव से मातृ-पूजा के उपकरण रूप से अर्पण करके मा को सम्मानित करता है। अरे फिर मा के असम्मान करने को है ही क्या, जो देवता लोग भूषण अस्त्रादि से मा को सम्मानित करें? नहीं जी यह बात नहीं; मा तो सम्मान असम्मान दोनों ही से ऊपर है, परन्तु देवता इस तरह पूजा करके आप ही पूजित व सम्मानित हुए थे. यद्यपि मान्धातु का अर्थ पूजा है और यहाँ सम्मानित शब्द सम्यक् प्रकार से पूजित है; (१) तथापि प्रचलित भाषा में जिसको मानना, मान लेना व स्वीकार करना कहते हैं हम यहाँ सम्मानित शब्द का वही अर्थ करेंगे। सम्यक् रूप से मान लेने पर ही मा सम्मानित होती है।

मा! केवल तुम्हारा अस्तित्व स्वीकार करने ही से तुम्हारा मान सम्मान हो जाता है, अपनी प्रियतम सन्तानों को यह बात समझा दीजिये। केवल "तुम हो" यह एक बात मन में रखकर जीव यदि जीवन यात्रा निर्वाह कर सके तो जीवन सार्थक हो जाय, हम मुख से कहते हैं "भगवान् है" किन्तु कर्म ठीक उसके विपरीत करते हैं। एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय पर्यन्त जितने कार्य करते हैं उनमें से कितने कार्य भगवान का अस्तित्व सामने रखकर करते हैं? हिन्दू के घर कुलीन स्त्रियों का स्वामी है या नहीं, यह जिस प्रकार जिज्ञासा करके नहीं जानना होता है, उनकी आकृति प्रकृति ही स्वामी का होना प्रकाश कर देती है; ठीक उसी तरह जिस मनुष्य ने जगत् स्वामी का अस्तित्व मान लिया है उसकी आकृति और उसका कार्य ही भगवान की सत्ता प्रकाश कर देता है। मा! हमने तो तुम्हारी सत्ता मानी नहीं, तब फिर कौन मुख से कहें कि 'हमें दर्शन दीजिये! जिसके अस्तित्व पर ही विश्वास नहीं उसके दर्शन की अभिलाषा कैसे हो सकती है? चाहे "मा, हमें दर्शन दीजिये" यह कहकर कितने ही रोयें, चाहे आँखों से आँसू बहाकर लोगों

की दृष्टि में भक्त और प्रेमी बनें, चाहे, उच्च कण्ठ से जय
करके अपने को ही कृतार्थ मान लें, परन्तु यह सचमुच तुम्हा
वास्तविक सत्ता मान लेना नहीं है। इसी से कहते हैं मा
तुम्हारा स्वरूप नहीं समझना चाहते, तुम्हारी अचिन्त्य
मोहन मूर्ति देखकर धन्य नहीं होना चाहते, केवल यह
दीजिये कि तुम हमारी मा हो, तुम्हारे सम्बन्ध में फिर कुछ
रहे वा न रहे, केवल तुम 'हो, इस अस्तित्व में विश्वास
करो अपनी सत्ता स्वीकार करा दीजिये, हमारा मन, बुद्धि, इन्द्रि
एक स्वर से कहने लगें "मा सत्य है"। स्त्री है, पुत्र है, गृहस्थी
देह है इनका होना कितने घन भाव से हृदय में फूट उठता है
परन्तु वास्तव में हम हैं को नहीं कहने में भी कुछ हानि नहीं
वह अज्ञान मात्र है और जो यथार्थ ही है, इसकी सत्ता इत
अधिक है कि उस सत्ता की ओर दृष्टि पड़ने से जगत की
छोटी-छोटी सत्तायें बिलकुल लोप हो जाती हैं; उस अस्तित्व
विश्वासी नहीं हो सकते, इससे अधिक दुखः का विषय
क्या हो सकता है ?

अनेक जन्म, अनेक युग, अनेक समय से यह जीवन
का असह्य पिसना सहते आते हैं, केवल तुम्हें न जानने
कारण ही हमारे जन्म, मृत्यु, रोग, शोक, दुःख, कष्ट सब
हैं। यह जो महिषासुर की पीड़ा, छोटी छोटी कामना वासना
का अत्याचार है, बहुत दिन हुए, मा इन के द्वारा जर्जरी
होते हैं, मा इन को अब नहीं सह सकते। अजी तुम अपनी स
छिपा रखती हो। इसी से तो हम तुम को मान नहीं सके
उसी के फल से इस तीन तापों की तपन से तप रहे हैं। कि
अब नहीं, एक बार प्रकाशित होकर देखिये तो सही कि तुम्हा
बड़ी साध की सन्तान आज संसार के सन्ताप से कित
पीड़ित है !

अब देखो साधक ! जिस घड़ी से तुमने मा की सत्ता मान ली है, जिस मुहूर्त से तुमने ठीक-ठीक समझा है कि तुम्हारी दुःख हारिणी मा "कोई" है, जिस मुहूर्त से तुम अपने को असुर द्वारा पीड़ित समझ कर अनजान सत्ता की ओर मोह से ढकी दृष्टि स्थापन कर कहते हो "आओ मा रे, हम बहुत पीड़ित हैं" ठीक उसी समय मा आविर्भूत हुई है। इसी से मन्त्र में कहा है—"उच्चैर्ननाद" "साट्टहासं मुहुर्मुहुः" मा ने हुङ्कार छोड़ी है, अट्टहास से दिशायें गूँज रही हैं, मा चण्डी मूर्ति से आविर्भूत हुई है। अरे कौन है ! पुत्रों पर अत्याचार ! डरो मत, मैं तुम्हारी मा आगई हूँ। अब तुम को पीड़ित नहीं होना होगा। सन्तान ! तुम्हारी पीड़ा ने मेरा क्रोध भड़का दिया है; मुझे चण्डी बना दिया है। अब कुछ डर नहीं, अब तुमको अनात्म भाव वा जड़त्व द्वारा मथित न होना होगा। मैं सब जड़ भावों (असुरों) का विनाश करूंगी। अब वे बच नहीं सकते।

साधक ! मा की यह अभय वाणी, यह उच्चनाद, यह अट्टहासि, प्रत्यक्ष करके जीवन सार्थक करो, इसे भाषा की झङ्कार वा भाव का उच्छ्वास मात्र न समझो। सचमुच तुम जिसदिन अपने को असुर के अत्याचार से जर्जरीभूत समझ सकोगे, मातृ अस्तित्व में विश्वासी होगे, "शरणागत दीनार्त-परित्राण परायणा" कह कर मा के आगमन की प्रतीक्षा में बैठे रहोगे, उसी दिन समझ सकोगे कि इस तरह परित्राण परायणा मूर्ति से मा का आविर्भाव कितना सत्य है। परन्तु यह दूसरी बात है।

बार बार विषयेन्द्रिय संयोग के कारण जो परिच्छिन्न चैतन्य का अनुभव होता है, जब वह समष्टि भावापन्न होकर एक अखण्ड चैतन्य रूप से अनुभव योग्य होता है, तब साधक

देखते हैं कि उस में किसी विशिष्ट धर्म का प्रकाश नहीं है, भी सर्व धर्म्म समान्वत एक अनिर्वचनीय आनन्द रूप प्रकट हो रही है। अब तक अन्धे को तरह विषय रूप लाठी सहारे अपनी सत्ता जाग्रत करते थे; किन्तुः—अब उसकी आवश्यकता नहीं। अधिष्ठान चैतन्य वा चित्समुद्र में अवगाह करके. सब तरह की सङ्कीर्णता परित्याग करके भी पूर्ण घन आत्म सत्ता में जाग्रत रह सकते हैं। देखिये, यह अपूर्व! लोभनीय अवस्था है? यद्यपि ऐसी अवस्था में काल अवस्थान नहीं किया जा सकता, तथापि जितना जाय उसकी मधुमयी स्मृति ही साधक को व्युत्थान काल आनन्दमय कर रखती है। फिर उस अखण्ड सत्ता में से अभीष्ट मूर्ति-दर्शन करके साधक कृतकृत्य होते हैं।

अस्तु, यहाँ देवताओं के तेज से उत्पन्न जिस विशिष्ट मू का विषय वैकृतिक रहस्य में कहा है यह महालक्ष्मी मूर्ति है यह मूर्ति समग्र ऐश्वर्य वीर्यादि समन्वित पूर्ण भोगमयी है इसी से इसका दूसरा नाम भोगमाया है। हम ने प्रथम अध्या के मधुकैटभ-निधन में तामसी महाकाली मूर्ति का आविर्भा दिखाया है, वह महाकाली वा योगमाया की मूर्ति है। विष्णु योग-निद्रा दूर करने के लिये ही उस मूर्ति का आविर्भाव हु था। और इस अध्याय में मा की असीम महिमामयी अन भोगमयी मूर्ति का आविर्भाव दिखाया है। समस्त देव-श सम्मिलित इस महालक्ष्मी मूर्ति से मा आविर्भूत होकर जैसे एक तरफ देवकुल का आनन्द बढ़ाती है वैसे ही दूसरी त असुर कुल का निधन कर के जीव का मुक्तिमार्ग निर्विघ्न कर है। क्रम से इसका रहस्य और भी खुलेगा ॥३०॥

तस्यानादेन घोरेण कृत्स्नमापूरितं नभः।
अमायतातिमहता प्रतिशब्दो महानभूत ॥ ३१ ॥

चुक्षुभुः सकलालोकाः समुद्राश्च चकम्पिरे ।
चचाल वसुधाचेलुः सकलाश्च महीधराः ॥ ३२ ॥

अनुवाद। उस (देवी) के घोर निनाद से समग्र आकाश मण्डल व्याप्त हो गया अपरिमेय अति महान् उस नाद की प्रति ध्वनि उठी। उससे सब लोक क्षुब्ध, समुद्र कम्पित हुए, पृथ्वी हिलने लगा, पर्वत डिगमिगा गये। ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

व्याख्या। जब व्यष्टि शक्ति समष्टिभाव को प्राप्त होती है तब व्यक्ति नाद भी समष्टि भाव को प्राप्त होता है। जिस तरह सृष्टि स्थिति और प्रलयात्मिका महाशक्ति प्रत्येक जीव के हृदय में रह कर जुदी-जुदी इन्द्रिय और भावाकार से प्रकाशित होने पर ही व्यष्टि भाव परिच्छिन्नता को प्राप्त होता है; ठीक उसी तरह एक महान् अव्यक्त नाद भी विशेष विशेष भाव का प्रकाश करता हुआ कण्ठ, तालु, जिह्वा, दन्त और ओष्ठ आदि यन्त्रों से टकरा कर जुदी-जुदी आवाज़ रूप से प्रकाशित होता है। जिस तरह शक्ति एक अखण्ड है उसी तरह नाद भी एक अखण्ड है। जब तक इस अखण्ड शक्ति नाद का पता नहीं पाया जाता, तब तक ही यह विभिन्नभाव और विभिन्न शब्द रूप से प्रकाश करते हैं। शक्ति अनिर्वचनीय है; उसका प्रथम प्रकाश नाद है। नाद और शक्ति एक दूसरे के बिना रह नहीं सकते। जहाँ शक्ति है वहीं नाद है। साधकगण मातृ कृपा से महती शक्ति का पता पाते ही इस महान् नाद का भी पता पा लेते हैं। इस जगत में जितने पदार्थ दीख पड़ते हैं अथवा अन्तर में जिन भावों का उदय होता है वे एक एक शब्द मात्र हैं। शब्द नहीं है तो भी पदार्थ व भाव है। ऐसा नहीं होता जीव अब तक एक एक विशिष्ट शब्द पर आसक्त था इसी से बहुत्व का बन्धन-महिषासुर का अत्याचार था। परन्तु

अनेक सुकृति के फल से आज अखण्ड नाद का सन्धान पाया है। यह मा का ही नाद है। अव्यक्त मा नादमयी मूर्ति से प्रकट हुई हैं। प्रथमतः यह अनाहत नाद रूप से प्रतीत होती है, समस्त आकाश मण्डल परिपूर्ण करके वह नाद उठता है; फिर शरीर के प्रति परमाणु में वह प्रतिध्वनित होने पर समस्त विश्व अखण्ड नाद के सिवाय और कुछ जान ही नहीं पड़ता। इस अखण्ड नाद में अहंता को मिलाकर साधक जो आनन्द भोग करता है वह भाषा में वर्णन नहीं किया जा सकता। वही मा का घोर नाद है, उससे सब लोक विक्षुब्ध, समुद्र कम्पित, वसुधा चलित और महीधर डगमगा जाते हैं।

लोक—दर्शनार्थक लुक धातु से लोक शब्द बना है। लोक्यते इति लोकः।" जो दर्शन किया जाता है, जाना जाता है, वही लोक है। अर्थात विशिष्ट भाव से नाम और रूप की सहायता से जो प्रकाशित होता है उसे लोक कहते हैं, अथवा ग्रहण और ग्राह्य पदार्थों का साधारण नाम लोक है। समुद्र—तीन गुणों के संयोग की विचित्रता के कारण सात भेद है, इसकी पूर्व व्याख्या हो चुकी है। वसुधा-पार्थिव देह। वसु को धारण करे अर्थात् अनन्त ज्ञान रत्न का आकर होने से इसे वसुधा कहते हैं। महीधर घनीभूत जड़त्वबोध। यही जड़ता की चरम परिणति है जो बोध उसको धारण करे अर्थात् जो चैतन्य जड़ाकार में प्रकाश पाते हैं उन्हें महीधर कहते हैं। ये सब ही क्षुब्ध, प्रकम्पित और प्रचलित होने लगे। यह क्षुद्रता, यह जड़ता, यह मायाकल्पित इन्द्रजाल फिर नहीं रहता! सच्चिदानन्दमयी का जो नाद उठा है उस नाद ने सब भावों (बहुत्व) को दलित मर्दित करके पूर्ण अखण्ड चैतन्य राज्य में मिला दिया अथवा जड़ता का अधिकार विलुप्त हो गया! इसी से इनमें क्षुब्ध भाव और कम्पन जो नाद महाशक्ति रूपिणी मा के कण्ठ से निकला

कर सात लोक भेद कर उठता है उस नाद का कैसा अपूर्व प्रभाव है।

साधक! क्या आपने कभी मातृ आह्वान माता का वह घोर आकर्षणमय कण्ठस्वर सुना है? जब तक मातृ-अस्तित्व में पूर्ण विश्वासी न होंगे, जब तक अपना निजत्व पूर्ण भाव से मातृ चरणों में अर्पण न करोगे तब तक क्या वह बुलाहट सुनाई पड़ेगी? सुन पड़ने पर भी तब तक क्या उसका महत्व अनुभव कर सकोगे? उस सच्चिदानन्द क्षेत्र का अपूर्व आह्वान अनिर्वचनीय नाद यद्यपि घोर, महान्, अप्रमेय है तथापि है बड़ा मधुर! वह ध्वनि प्राण को मत्त कर देती है। चण्डी के चण्ड स्वर की वह अभय वाणी यथार्थ ही अतुलनीय है। मा! तुम तो दिन रात अश्रान्त अनाहत नाद से हमारे हृदय में से पुकारती रहती हो, परन्तु जगत के कोलाहल, इन्द्रियों को विषय की तलाश में दौड़धूप करने की गोलमाल से तुम्हारी वह आवाज हमारे कानों में पहुंचती नहीं, मा! इसी से तो घर के बालक घर में नहीं जाते बाहर प्रचण्ड धूप में शोक दुःख की प्रचण्ड दावानल से झुलसे जाने पर भी मोह का खिलौना लेकर मत्त हैं। कितनी आंखें दिखाओ, क्रोध करके झिड़को, हमको पुकारो परन्तु हमारा यह दुर्निवार मोह किसी से दूर नहीं होता।

मा, हम तुम्हारा पुकारना क्यों नहीं सुनते? ऐसा क्यों नहीं पुकारती जो हम सुन सकें? मा इस तरह पुकारो कि जिससे हमारे बहिरे कान भी सुन सकें? सुना है कि जो तुम्हारी बुलाहट सुन लेता है वह कुल छोड़कर अकुल में बहने लगता है। मा! हमारे कानों में भी एक बार वह शब्द सुनाओ, जिस नाद से वृन्दावन में गोपियां लाजभय छोड़कर दौड़ती थीं, जिस नाद से पशु पत्नी व्याकुल होते थे जिस वंशी ध्वनि से यमुना का जल प्रवाह उलटा जाता था, मा, वही नाद, वही सुर, वही

सात छेद वाला मोहनवंशी का नाद; एक वार सिर्फ एक ही वार हमारे कानों को सुना दो। जिससे हमारी इस विषय रूप कुल को छोड़कर अकुल में श्यामकलङ्क सागर पर तैरने लगे, हम भी मा से बिछुड़े हुए बछड़े की तरह मा मा कहकर दौड़ने लगें।

मा के उस नाद में और इस नाद में भेद है। वह आकर्षक मधुर वंशी नाद है और यह पीड़ित सन्तान के भय को दूर करने वाला निवारक घोर नाद है। नाद एक ही है, किन्तु देश काल और पात्र भेद से विभिन्न भाव में प्रकाशित होता है। जो पुत्र के लिये मोहन आकर्षण मन्त्र है वही पुत्र के वैरी के संहार में घोर अभिचार-मन्त्र रूप से प्रकट होता है। मा चण्ड मूर्ति में आविर्भूत है, असुर कुल का नाश करने के उद्देश्य से विराट ऐश्वर्य सामिग्री और समग्र विश्व शक्ति के समवाय से, मातृ देह विभूषित है। यद्यपि पुत्र की दृष्टि में यह मूर्ति अभया-आनन्ददायिनी है। तथापि शत्रु की दृष्टि में वह अत्यन्त भीषण भीतिदायिनी है। इसी से यहाँ मातृ हुङ्कार घोर सुमहान है क्रम से यह स्पष्ट होगा।

साधक ! तुम भी जब मा का नाम लेकर सिंह नाद करोगे सत्य मन्त्र से दीक्षित होकर, सत्य भाव से जाग्रत होकर, सब तरह की दुर्बलता के हाथ से परित्राण पाने के लिये जय मा नाद छोड़ोगे। तब उस नाद से मानो समस्त आकाश मण्डल कांप उठा, तुम्हारी जड़ देह मानो सत्यनाद से सञ्जीवित होने लगी, प्रत्येक परमाणु मानो सत्य के सम्वेदन से जाग्रत होकर झङ्कार ने लगा है। सत्य केन्द्र पर खड़े हो कर "जय मा जय मा" कह कर ऐसी जय ध्वनि करो जिससे समग्र विश्व स्थावर जङ्गम, तुम्हारे उस नाद से कम्पित होने लगे जिससे यह जगत् जड़त्व छोड़ कर प्राणमय भाव धारण करे। ऐसे भाव से "मा—मा" कह कर पुकारो। जिससे उस पुकार

इन्द्रिय वृत्तियों के मर्म्म में भय का सञ्चार हो, ठीक उसी तरह असुर कुल के प्राण में भीति उत्पादन करके निर्भय निश्चिन्त साहसी पुत्र की तरह, एकबार मा कह कर बुला देखो! अजी! एक दिन समग्र विश्व मानव मण्डली मिलकर एक ही स्वर से मा—मा कह कर पुकारेगी तो वह घनीभूत ध्वनि स्वर्ग मर्त्य एकत्र कर देगी! और हम दूर खड़े-खड़े वह दृश्य देख कर अपने आपे को भूल जायंगे। आवेगा—वह दिन भी—आवेगा।

अस्तु, यहां नादतत्त्व के सम्बन्ध में कुछ आलोचना आवश्यक है। नाद ही ब्रह्म है। नाद तत्त्व में अवगाहन कर सकने से ही, ब्रह्म दर्शन वा मा की गोद में बैठा जाता है। यह कैसे हो सकता है? प्रथम यह स्मरण करो कि यह जगत् ब्रह्म की कल्पना मात्र है। श्रुति भी कहती है—"यथा पूर्वमकल्पयत्"। कल्पना मन का धर्म्म है। "संकल्पः कर्म्म मानसम्"। सङ्कल्प वा कल्पना ही मन का कर्म्म है। मन में जो कल्पित होता है वह कुछ शब्दों की समष्टि मात्र है। शब्द बिना कल्पना नहीं होती। यदि जगत् में शब्द न रहता तो कल्पना कहने को कुछ नहीं रहता। मन ही मन कुछ शब्दों का अनुचिन्तन करना कल्पना है। अतएव ब्रह्म कल्पना करने का मतलब है कुछ शब्द कल्पित कर लेना। जैसे सूर्य, चन्द्र, वृक्ष, लता, मनुष्य, पशु, जगत् इत्यादि। इस तरह शब्द मय मानस कल्पना में ही यह परिदृश्यमान् जगत् है। अतएव यह जगत् शब्दमय है।

फिर दूसरी तरफ से भी यह समझा जा सकता है कि जगत् की वस्तुओं का साधारण नाम पदार्थ है। व्याकरण शास्त्र में सुबन्त और तिङन्त शब्द को पद कहते हैं। पद का जो अर्थ है वही पदार्थ है। पद कुछ वर्णों की समष्टि है। वह भी शब्द मात्र है। प्रत्येक पद वा शब्द का एक एक अर्थ है। यह अर्थ ऐश्वरिक

संकेत विशेष है "इस शब्द से इस तरह अर्थ प्रतीति हो" ऐसा एक अनादि सिद्ध संकेत है। "वृक्ष" एक शब्द है। कई एक वर्णों की समष्टि है। मन में वा मुख से वह ध्वनि प्रकाशित होती है। अतएव व्याकरण के मत से जो शब्द वह केवल वर्णों की समष्टि नहीं है ध्वनिस्वरूप है। अस्तु "वृक्ष" पद का अर्थ वा अनादि सिद्ध एक संकेत है। शाखा पल्लवा विशिष्ट एक वस्तु ही वह संकेत है। क्योंकि वृक्ष शब्द उच्चारण करते ही ऐसी एक वस्तु की प्रतीति करा देता है। एवं सर्वत्र चाहे किसी वस्तु को अवलम्बन करके कुछ धीर भाव से समय के मानस व्यापार पर लक्ष्य करने से सब ही सम सकेंगे कि सब पदार्थ एक शब्द मय भाव के सिवाय और कुछ नहीं है। श्रुति भी कहती है "वाचारम्भणं नामधेयं विकार पदार्थ रूप से जो कुछ प्रतीत होता है वह वाक्य अर्थात् शब्द द्वारा ही गठित है। अतएव यह जगत कुछ शब्दों की समष्टि है, इसमें कुछ सन्देह नहीं। वेदान्त मत से जगत् नाम रूपम है। नाम वस्तुतः शब्द वा नाद के सिवाय और कुछ नहीं।

यह नाद दो तरह का है। ध्वन्यात्मक और शब्दात्मक शङ्ख मृदङ्गादि से जो नाद उठता है वह ध्वन्यात्मक है। उस भी जीव को हर्ष विषाद क्रोध आदि की उद्दीपना होती है; नित्य प्रत्यक्ष है कुरुक्षेत्र युद्ध में पाण्डव पक्षीय शङ्ख नाद धार्तराष्ट्रों के हृदय विदीर्ण किये थे। जब जड़ यन्त्रादि से निक हुए नाद की यह सामर्थ्य है तब चेतन यन्त्र अर्थात जीव क से निकला हुआ शब्दमय नाद जो जगत की सृष्टि स्थिति विकाश कर सके, तो उसमें फिर विचित्रता ही क्या ? दुर्यो ने कहा—"सूच्यग्रे भू न दातव्यं विना युद्धेन केशव" इस ही वाक्य से भारत के सब राजाओं ने स्वेच्छा पूर्वक प की भांति समरानल में आत्माहुति दी थी। ऐसे दृष्टान्त अ

में अनेक हैं। पक्षान्तर में फिर एक ही शब्द केवल, उच्चारण के भेद से अर्थात् कण्ठस्वर के तार तम्य से श्रोता के मन में जुदे जुदे भाव उत्पन्न करता है। सहधर्मिणी के सहोदर को व्यङ्ग कण्ठ से 'साला' कहने से उसके ओष्ठाधर पर मधुर हँसी प्रकाशित होती है और वही शब्द कर्कश कण्ठ से प्रयोग किया जाय तो वह भी कठोर शब्द से वही शब्द ब्याज सहित प्रयोग करने वाले को लौटा देता है। यही जगत् का नियम है। केवल कुछ शब्दों द्वारा यह जगत रचा गया है, कुछ शब्दों द्वारा ही चल रहा है और कुछ शब्दों द्वारा ही इसका प्रलय होता है। यह जगत कुछ शब्दों के सिवाय और कुछ भी नहीं है।

प्रत्येक परमाणु का एक स्वाभाविक शब्द है। इस स्वाभाविक शब्द से ही आणविक स्पन्दन निर्वाहित होते हैं। स्पन्दन के संयोग वियोग की विचित्रता के कारण यह विचित्र जगत् विकाश को प्राप्त हुआ है। वह स्वाभाविक शब्द हमारे अकार अक्षर की भांति है। कुछ 'अकार' एक सुर में, एक तान से दीर्घ प्लुतभाव से उच्चारित होने पर जैसा होता है इस जगत् का मूल वा स्वाभाविक नाद भी वैसा ही है। वही आदिम शब्द है। श्री भगवान् ने भी कहा है—"अक्षराणामकारोऽस्मि" अक्षरों में मैं अकार हूं, ब्रह्म में जब जगत् सृष्टि विषयक कल्पना होती है, तब वह 'अकार' विशेष भाव से स्पन्दित वा गति को प्राप्त होता है। तब वह दीर्घप्लुत 'उ' कार की तरह ध्वनित होता है सृष्टि कल्पना जब परि समाप्त होती है, तब उससे उत्पन्न गति वा स्पन्दन भी शुद्ध हो जाता है, उस समय वह "म् म् म्" इत्याकार शब्द में बदल जाता है। यही "अउम्" वा "ओं" सृष्टि का सब से पहला नाद है। साधक कर्ण वृत्ति रोक कर, अथवा अन्य प्रक्रिया द्वारा यह नाद, अनाहत केन्द्र (हृदयदेश) से सुन सकते हैं। जगद् व्यापी वह नाद आकर्षण

मय है। उस प्राण को मत्त करने वाले "अउम्" "ओ३म" श
से ऐसा जान पड़ता है कि—"आओ मा, आओ मा" कह क
मा प्रबल स्नेह की ताड़ना से पुकारती है। वह कैसा अ
स्वर है, उसे व्यक्त नहीं किया जाता। सचमुच मानो "कोई क
के भीतर मर्म में प्रवेश कर मेरे प्राणों को आकुल करता है"
अस्तु, जिस तरह कोई स्वर यन्त्र का मौलिक स्वर हो, औ
बजाने वाले की अङ्गुली चलाने की विचित्रतावशतः उससे अने
प्रकार के स्वर निकलते हों ? उसी तरह यह मौलिक प्रणवनाः
तीन गुण रूप तीन अङ्गुलियों के संयोग वियोग के तारत
वश, यह विभिन्न नाद मय विचित्र जगत् प्रकाशित हुआ है

प्रथम खण्ड में कहा है—कि शक्ति का स्पन्दन ही ज
जगत् है। अखण्ड ज्ञान वक्ष पर जो महती शक्ति विराजती है
उसी का विभिन्न स्पन्दन—रूप रसादि विषयाकार में प्रक
होता है। स्पन्दन-शब्द मूलक हैं। अर्थात् नाद से ही स्पन्द
प्रकाश पाता है। इसकी परीक्षा सब कोई कर सकता है
हमारे हाथ पैर आदि अवयवों की मांस पेशियों का जो सङ्कोच
प्रसार रूप स्पन्दन है, वह भी कुछ शब्दों के आश्रय से ह
निष्पन्न है। काम क्रोधादि वृत्तियों के उदय से भिन्न-भि
अवयवों में स्थित मांस पेशियां किस तरह अस्वाभाविक भा
से स्पन्दित होती हैं ! ऐसे स्पन्दन का हेतु-उस तरह की वृ
का उत्तेजना मूलक नाद वा शब्द मात्र है। मन से वा मुख
जब काम क्रोधादि विषयक शब्द उच्चारित होते हैं, तब ह
भिन्न-भिन्न अवयवों में ऐसा वाह्यिक स्पन्दन प्रकाशित होता है
इसी तरह भगवद्भाव के उद्दीपक शब्द भी अनेक समय साध
के अङ्ग विक्षेप के हेतु होते हैं। इस विषय की विशेष आलोच
आगे की जायगी। अस्तु, हमारी चिन्ता तरंगें वा भाव ना
मय हैं, एवं वह नाद ही इस महती शक्ति के विभिन्न स्पन्दन रू

से प्रकाश पाता है, यह अविसम्वादि-सिद्धान्त है।

पूर्व काल के त्रिकालज्ञ ऋषि इस नाद और स्पन्दन तत्व में इतने पारदर्शी हुए थे कि केवल शब्द की सहायता से विभिन्न शक्तियों का स्फुरण करके अभीष्ट सिद्ध कर सकते थे। वैदिक और उस परवर्ती काल के तान्त्रिक मन्त्र इस नाद और स्पन्दन तत्व विषयक ज्ञान के अद्भुत आविष्कार हैं। इन मन्त्रों की सहायता से आज कल इस अविश्वासी सत्यज्ञानहीन युग में भी, अनेक अलौकिक, प्रत्यक्षफल प्राप्त होते हैं। अब भी इस देश के निरक्षर ओझा (विषवैद्य) लोग केवल मन्त्र पढ़कर कठिन रोगों से निरोग कर देते हैं। हाथ चलाना, कटोरी चलाना नल चलाना आदि अनेक प्रकार की अलौकिक घटनाओं द्वारा लोगों को चकित कर देते हैं।

थोड़े दिन हुए—हमारे गांव में एक पश्चिम देशीय नौकर की सर्पाघात से मृत्यु हुई जान पड़ी, यहाँ तक कि डाक्टरों ने उसकी देह परीक्षा करके मृत्यु होना स्थिर कर दिया, उसके कुटुम्बी लोग सन्ध्या के समय उसकी लाश जलाने के लिये श्मशान घाट ले जा रहे थे, मार्ग में मृत मनुष्य के परिचित किसी मित्र से भेट हो गई, उस मित्र ने इसकी सर्पाघात से मृत्यु होना सुनकर उसका दाह करने से निषेध किया और स्वयं श्मशान घाट पर जाकर उस मृत पुरुष के पैर की अंगुली से रस्सी बांधकर, कुछ मन्त्र पढ़कर रस्सी खींचने लगा और बीच बीच में सिर पर चपत लगाने लगा। इस तरह तीन घण्टे कठोर यत्न करने के फल से मृत देह में जीवन के लक्षण प्रकाशित हुए। रात भर इसी तरह मन्त्र पढ़कर चेष्टा करने से वह पुनर्जीवन पाकर घर लौट आया। उस नौकर ने यह कहानी स्वयं हमसे कही थी, उस दिन तक उसके पैर का क्षत कुछ कुछ मौजूद था।

ग्रन्थकार ने भी किसी तरह की योग शक्ति प्रयोग करा केवल मनन शक्ति के प्रभाव से कुत्ते के काटे हुए अनेक रों अच्छे किये थे, इसी तरह कामला आदि रोग भी मन्त्र शक्ति प्रभाव से आरोग्य किये जाते हैं।

अस्तु यह मन्त्र ही नाद है। इस नाद के साथ, रोगां आरोग्यकारिणी विभिन्न शक्तियों का जो घनिष्ट सम्बन्ध है जिन्होंने प्रथम आविष्कार किया था, धन्य है उनके ज्ञान विज्ञा के अनुशीलन और दया को। मारण, उच्चाटन, वशीकरा आदि षट् कर्म्म, अभीष्ट मूर्तिदर्शन इत्यादि व्यापार केव मन्त्रशक्ति के प्रभाव से सिद्ध हो सकते हैं। नाद की एं अद्भुत शक्ति को आजकल अनेक जन स्वीकार करते हैं परन्तु ऐसे लोग बहुत कम हैं जिन्होंने यथार्थ नाद तत्व प्रवेश कर उसकी शक्ति को वश में किया हो।

अस्तु, अव्यक्त प्रकृति से जिस तरह स्थूल जगत् प्रकाशि होता है, उसी तरह अव्यक्त नाद से ही स्थूल वा व्यक्त नाद प्रकाश पाता है। तीन गुणों की साम्य अवस्था का ना प्रकृति है। उस अवस्था में भी नाद रहता है, नहीं तो ती गुणों में क्षोभ यानी उथल पुथल हो नहीं सकती; पूर्व कहा कि जहाँ स्पन्दन या शक्ति है वहीं नाद मौजूद है। परन्तु य नाद अतीन्द्रिय है, इसी से इसे शास्त्रकार " परा " कहते हैं प्रकृति का जिस तरह परा नाम है, ब्रह्म को जिस तरह 'पर' कहा जाता है उसी तरह इस अव्यक्त नाद को भी परावा कहते हैं। प्रकृति का प्रथम परिणाम वा स्पन्दन महत्तत्व है ये सब वैषयिक प्रकाश के क्षेत्र हैं, यहाँ जो नाद है उसका ना पश्यन्ती कहते हैं। केवल योगी लोग अर्थात जो महत्तत्व आत्मबोध लेजा सकते हैं वे ही इस नाद की सत्ता अनुभव क सकते हैं, यह श्रवणेन्द्रिय ग्राह्य न होने से, इसको पश्यन्

कहते हैं। इसके बाद मध्यमा, यह मनोमय क्षेत्र में अनुभव होता है। थोड़ा स्थिर होकर अपने सङ्कल्प विकल्प भावों की ओर लक्ष्य करने से मनुष्य मात्र इस नाद को प्रत्यक्ष कर सकते हैं। यह ध्वनि न होने पर भी शब्द है। अनन्तर, भाव कुछ घनीभूत होने से ही, कण्ठ, तालु, ओष्ठ आदि स्थानों में एक एक स्पन्दन प्रकाश पाता है। उसी के फल से व्यक्त वा स्थूलनाद प्रकाशित होता है। शास्त्रकार इसे वैखरी कहते हैं। यह सब प्राणियों को साधारण और श्रवणेन्द्रिय ग्राह्य है। प्राचीन आचार्यों ने "नाद" शब्द का व्यवहार न करके "वाक्" शब्द का प्रयोग किया है। वाक् और नाद अभिन्न हैं। यहाँ वाक् शब्द इन्द्रिय अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। वाक्-स्त्रीलिङ्ग शब्द है इसीलिये मा परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी ये चार संज्ञा स्त्रीलिङ्ग हुई है। वैखरी वाक् के फिर उदात्त, अनुदात्त और स्वरितनाद से तीन प्रकार के भेद हैं, उनकी आलोचना यहाँ आवश्यक नहीं।

आर्यशास्त्र की और एक विशेषता यह है कि वाक् वा नाद प्रकाशक वर्णमाला का नाम अक्षर है। गीता में यह कहा है—"अक्षरं परमं ब्रह्म (८।३)" अक्षर शब्द से परंब्रह्म समझा है। जो अक्षर शब्द परब्रह्म के वाचक हैं, वे ही इस देश की वर्णमाला के वाचक शब्द हैं। इससे उच्चविज्ञान नाद तत्व के विषय में आज तक पृथिवी के किसी देश में कुछ भी आविष्कृत नहीं हुआ। और भी एक जानने योग्य बात यह है कि 'अ' से 'क्ष' पर्यन्त स्वर व्यञ्जन मिलित पचास वर्णमाला का नाम "मातृका" है। सृष्टि स्थिति प्रलयङ्करी महाशक्ति रूपिणी महामाया मा वर्णमयी नादमयी होकर नित्य प्रकाशित हो रही है। मातृका के ध्यान में है :—

"पञ्चाशल्लिपिभिर्विभक्त मुखदोः पन्मध्य वक्षस्थलाम्"

पचास वर्ण द्वारा ही मा के मुख हाथ पैर मध्य देश

वक्षस्थल आदि अवयव बने हैं। साधक! तुम कहां मा को तला
करने जाते हो ? देखो तुम्हारे कण्ठ से निकले हुए प्रत्येक श
रूप में ही मा है, इस जगत में जो अनेक प्रकार के शब्द सु
हो, वे, ही मा हैं। तुम्हारा इष्ट मन्त्र मा ही तो है। मन ही
जो अप्रकाशित वाक् उच्चारण करते व चिन्ता करते हो व
मा ही तो है. तुम मा कहकर पुकारो, वह मा शब्द ही मा है
अजी नाम और नामी में भेद नहीं है। तुम मा को देखना न
चाहते, इसी से देख नहीं पाते, मा तो सर्वत्र नाद रूप से सुप्रका
रूपा है! केवल इच्छा का अभाव होने से मा को नहीं पाते
परन्तु वह दूसरी बात है।

प्रत्येक जीव देह–प्रत्येक पदार्थ उस पञ्चाशद् वर्ण रूपि
मातृ का द्वारा रचा गया है, तान्त्रिक न्यास भी (मातृका न्या
वर्ण न्यास, पोढ़ा न्यास इत्यादि) इस सत्य के ऊपर ही प्रतिष्ठि
है। अनेक लोग "अं नमोललाटे" "आंनमः शिरसि" इं न
दक्षिण चक्षुपि' ईं नमो वाम चक्षु पि, इत्यादि मन्त्र पढ़कर उ
स्थानों पर अंगुली स्पर्श कर न्यास समाप्त करते हैं। किन्तु हा
उससे क्या न्यास का जो यथार्थ फल है वह प्राप्त होता है
जिस उद्देश्य से ये विधान हैं. उसकी ओर लक्ष्य हीनता के कार
ऐसा अनुष्ठान-अङ्ग सञ्चालनादि रूप एक कसरत मात्र हो जा
है। यहाँ इसका कुछ आभास दिया जाता है, यदि एक आद
भी आगे बढ़ेगा तो उद्देश्य सफल हो जायगा। ललाटादि विभि
अंग प्रत्यंग में बोध शक्ति अर्थात् अनुभूति ले जाते हैं, औ
जब तक प्रत्यक्ष स्पन्दन अनुभूत न हो तब तक अं इत्यादि भि
भिन्न मन्त्र धीरे धीरे (वाक्यन्त्र जिससे अधिक कम्पायमान
हो) उच्चारण करते हैं। मानस उच्चारण ही श्रेष्ठ है। प्र
अभ्यास करते समय इसमें कुछ असुविधा और कष्ट उ
पड़ता है, कुछ दिन बाद वह कष्ट फिर नहीं रहता, फिर

इच्छा मात्र से अनुभूति परिचालन करने की सामर्थ्य हो जाती है। साथ ही साथ वे बीज उच्चारण करते रहने से, अनुभूति स्पन्दन और बीज मानो एक हो गये हैं ऐसा जान पड़ता है। इसी तरह मन्त्र, स्पन्दन और अनुभूति तीनों जब एक सुर में बज उठते हैं, अर्थात् एक साथ अभिन्न रूप से बोध होते रहते हैं; तब ही समझना कि न्यास सिद्ध हो गया है। इसी तरह चैतन्यमय न्यास करते समय ही कुछ अभूतपूर्व सुखमय अनुभूति होती है। इसका और भी विशेष फल है कि मैं जो देह विशिष्ट एक जड़ पदार्थ मात्र हूं, यह बोध तिरोहित हो जाता है। देहात्म बोध बिलकुल शिथिल हो जाता है। शारीरिक व्याधि नाश करने के पक्ष में भी यह अव्यर्थ उपाय है। इसके सिवाय ठीक ठीक न्यास पुटित साधक को अनेक अलौकिक शक्तियाँ भी प्राप्त होती हैं॥ ३१॥

जयेति देवाश्च मुदा तामूचुः सिंहवाहिनीम्।
तुष्टुवुर्मुनयश्चैनां भक्ति नम्रात्ममूर्तयः ॥३३॥

अनुवाद—देवता आनन्द से उस सिंह वाहिनी को लक्ष्य करके जय ध्वनि और मुनि जन भक्ति विनम्र अन्तः करण और अवनत शरीर से स्तुति करने लगे।

व्याख्या—इतने दिनों में देवताओं की आशा पूर्ण होने का श्री गणेश हुआ है। इससे पूर्व व्यष्टि शक्तियाँ अपने को महती शक्ति से पृथक समझती थी। इसी कारण असुर के अत्याचार से यत्न करने पर भी नहीं बच सके थे। किन्तु अब वह भाव दूर हो गया है। विच्छिन्न शक्तियों ने महती शक्ति में आत्म समर्पण किया है। इसी से देवता आनन्द में आकर जय ध्वनि करते हैं। सार यह है कि महत्तत्त्व वा विज्ञानमय कोष में आत्मबोध संस्थित होने पर ही अस्मिता का पता

लगता है। इस अवस्था में विभिन्न इन्द्रियों के प्रकाश व विभि
वैषयिक प्रकाश की फिर पृथक् सत्ता नहीं जान पड़ती। स
ही एक मात्र अस्मिता के विशेष विशेष व्यूह रूप प्रतीत हो
लगते हैं। तब देवताओं (इन्द्रियाधिष्ठित चैतन्य वर्ग) क
फिर अलग कर्तापन नहीं रहता, एक महत कर्तव्य में सब
कर्तत्व समाप्त हो जाता है। महती शक्ति रूपिणी मा भी क
सिंह वाहिनी मूर्ति से प्रकट होती है। जीवत्व हनन करने
इच्छा वाला साधक ही सिंह है। तब साधक यथार्थ ही अप
जीव भाव की हिंसा करना आरम्भ करता है। इसी से सा
रण लोग उसे नरश्रेष्ठ रूप से स्वीकार करते हैं। तब उस
देह मातृ शक्ति के परिचालक यन्त्र व वाह्य रूप में परि
होता है। कैसा अभूतपूर्व संयोग है। इस अवस्था में मा
घोर नाद अत्युच्च अभयवाणी एक तरफ़ जैसे एक असुर कुल
भयभीत करती है वैसे ही दूसरी तरफ़ देवताओं के हृदय
अपार आनन्द की हिलोर उठा देती है। इसी से मन्त्र में क
है कि देवता आनन्द से "जय मा, जय मा" ध्वनि से दिग्मण्ड
मुखरित करने लगे। फिर मुनिजन जो अबतक मौनभावा
थे, वे सात्विक प्रकाशोपयुक्त अवसर पर मौन व्रतभङ्ग क
मा की स्तुति मङ्गलगान करने लगे। भक्ति पूर्वक स्तोत्र
पाठ करते-करते उनका देह, मन मातृ चरणों में विल
अवनत हो गया।

साधक! तुम भी जब अन्तर ही अन्तर मातृ-आवि
अनुभव करो, तब पूर्ण विश्वास से पूर्ण आनन्द से जय
करना। जिस मुहूर्त में देखो कि सत्य का कुछ आभास पा
विन्दुमात्र मातृ करुणा का प्रमाण पाते हो उसी मुहूर्त में ह
के सब प्रकार के अविश्वास, सन्देह, दुर्बलता को दूर कर
लिये, आनन्द से जय ध्वनि करने लगो और भक्ति विनम्र

करण से स्तोत्रपाठ करते रहो। कुछ दिन ऐसा करने पर देखोगे कि दिन दिन तुम्हारा अन्तः करण निर्मल से निर्मलतर होता जाता है और हृदय मातृ सिंहासन रूप में परिणत हुआ है, चित्त शुद्धि करने के लिये इससे बढ़कर सुगम उपाय, अब तक आविष्कृत नहीं हुआ है, उपनिषद् के युग में ऋषि लोग इसी उपाय से चित्त शुद्धि का उपदेश देते थे।

दृष्ट्वा समस्तं संक्षुब्धं त्रैलोक्यममरारयः।
सन्नद्धाखिलसैन्यास्ते समुत्तस्थुरुदायुधाः ॥३४॥

अनुवाद—तब असुर लोग तीनों लोकों को व्याकुल हुए देखकर हथियारों से सजी हुई अगणित सेना लेकर युद्ध के लिये तैयार हुए।

व्याख्या। महर्षि मेधस के देव पक्ष का आयोजन वर्णन करके, राजा सुरथ को एक बार असुर कुल की ओर दृष्टिपात करने का संकेत किया। देखो साधक! मा का घोर नाद, देवताओं के जय नाद और मुनियों के स्तोत्र नाद ने एकीभूत होकर तीनों लोकों को कम्पित कर डाला है। भूः भुवः स्वः तीन लोकों—मूलाधारादि, तीनों चक्रों में, उस नाद से खलबली मच गई है! ये तीन केन्द्र ही असुर भावों के विकाश स्थान हैं। अमरारिगण—अमरत्त्व का विरोधि दल, अर्थात् जो बार बार जन्म मृत्यु का हेतु है, वह भी इस उद्यम के प्रतिकूल सज कर अपने-अपने अस्त्र शस्त्र सहित युद्ध के लिये तय्यार हुआ। असुरों ने इससे पूर्व बार बार देव शक्ति को मथित किया है। इसी से इस बार भी पूर्व संस्कार वश जय पाने की आशा से ही उनकी यह तैयारी है। किन्तु हाय! असुर कुल यह नहीं जानता कि अब की बार देवता नहीं है, स्वयं मा समराङ्गण में अवतीर्ण है।

आः किमेतदिति क्रोधादाभाष्य महिषासुरः।
अभ्यधावत तं शब्दमशेषैरसुरैर्वृतः॥ ३५॥

अनुवाद। आः यह क्या! क्रोध पूर्वक यह कह कर महि-
षासुर अगणित असुरों को साथ ले, उस शब्द की ओर चला।

व्याख्या—इतने दिनों में सन्तान की आनन्द ध्वनि से
मिली हुई मातृ हुङ्कार ने महिषासुर के प्राण में भय और
अशान्ति पैदा करदी है। आः शब्द, कोप और पीड़ा को
समझाने में प्रयोग होता है। सञ्चित कर्म्म संस्कारों के मूलीभूत
रजोगुण का मर्म्मस्थल पीड़ित करके मातृ नाद उठा है। पहले
कहा गया है, कि तीन गुण परस्पर आश्रय और आश्रित, स्व-
भाव वाले हैं; सत्त्वगुण प्रगट होने से दूसरे गुण दब जाते हैं।
फिर वे गुण भी अपने को दबा हुआ देखकर सतोगुण को
दबाने की चेष्टा करते हैं, इस तरह सदा उथल पुथल हुआ
करती है। यहां वही वर्णित होरहा है। सत्त्व गुण का प्र-
भाव लक्ष्य करके ही आज रजोगुण भी सत्त्व प्रकाश के विरुद्ध
तय्यार हुआ। अकस्मात् तीनों लोकों को चलायमान करने
वाली जय ध्वनि सुन कर महिषासुर अपने सहायकों से
"यह नाद-आवाज कहां से आरही है, उसकी खोज
जल्दी से चला। सहायक असुरों के नाम आगे (३६,
श्लोकों में) लिखे हैं। साधक तुम भी देखो—जब तुम म-
जप, स्तोत्र पाठ अथवा मातृ महत्त्व कीर्तन आदि किसी
की साधना करते हो, तब ही सञ्चित वैषयिक संस्कार अर्ला-
भाव से तुम्हारी उस साधना के प्रतिकूल आ खड़े होते हैं॥३५॥

स ददर्श ततो देवीं व्याप्त लोक त्रयां त्विषा।
पादाक्रान्त्या नतभुवं किरीटोल्लिखिताम्बराम्॥३६॥

क्षोभिताशेषपातालां धनुर्ज्यानिःस्वनेन ताम् ।

दिशोभुज सहस्रेण समन्ताद्व्याप्य संस्थिताम् ॥३७॥

अनुवाद। तब महिषासुर ने देखा कि एक देवी विराजमान हैं, उसकी क्रान्ति तीनों लोकों में व्याप्त होरही है, पैरों के भार से पृथ्वी धसकी जाती है, किरीट आकाश को छू रहा है, धनुष की टंकार से पाताल में खलबली मच गई है, और सहस्रभुजायें दिङ्मण्डल में व्याप्त होरही हैं।

व्याख्या। इससे पूर्व महिषासुर ने जितनी बार देवताओं से युद्ध किया, तब यह देखा था कि एक एक व्यष्टि शक्ति अपने अधिकार से उसके विरुद्ध युद्ध के लिये उपस्थित हुई है। अतएव प्रतिवार असुर विजय पा जाते थे, परन्तु अबकी बार देखता है कि एक देवी (द्योतनशीला) मूर्ति, स्व प्रकाश रूपिणी महती चित् शक्ति है। उस पर दृष्टि पड़ते ही समझ लिया, कि यही "व्याप्त लोक-त्रयांत्विषा" है। इसी के प्रकाश से तीनों लोक प्रकाशित हो रहे हैं। स्वयं महिषासुर भी उसी के प्रकाश से प्रकाशित हो रहा है। देवी की कान्ति-प्रकाश शक्ति ऐसी ही है। "तमेव भान्त मनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्व मिदं विभाति।" कान्ति ही सर्व लोक प्रकाशक नहीं है बलिक इस के चरण स्पर्श से भूतल झुक गया है। भूतल-जड़त्व। चिन्मयी के पादाक्रमण (गति शक्ति के प्रभाव) से सर्वत्र गामिनी अचिन्तनीय शक्ति के प्रभाव से क्षितितत्त्व वा जड़त्व अवनत (अप्रकाश प्राय) हो गया है। चैतन्यमयी मातृ-शक्ति के प्रकाश से फिर किसी वस्तु में जड़ की प्रतीति नहीं होती। इसी से मा "पादाक्रान्ता नत भुवम्"। प्रकाश वस्तु गति-विशिष्ट होने से ही गमनार्थक पाद शब्द का प्रयोग है। फिर पाद शब्द का अर्थ किरण भी है। चिन्मयी मा की सर्व्वतो भेदी

प्रकाश सत्ता के उदय से, भू अर्थात् क्षितितत्त्व वा जड़ वस्तु की सत्ता विलुप्त प्राय हो जाती है। इस विलुप्त भाव को लक्ष्य करके ही, "नत भुवम्" कहा गया है। उसके बाद किरीट मस्तक भूषण-विशुद्ध बोध ने अम्बर स्पर्श किया है। बोध भी आकाश वत् निर्लिप्त और सर्व व्यापी है। परन्तु आकाश जड़ है और बोध चैतन्य स्वरूप है। इसी से शास्त्र में कहा है—"ब्रह्म व्योम्नोर्न भेदोऽस्ति चैतन्यं ब्रह्मणोऽधिकम्"।

मा के धनुष की तांति (रोदा) की ध्वनि (टङ्कार) से सप्त पाताल हिल गया। धनुष की ज्याध्वनि-प्रणवध्वनि है। श्रुति कहती है—"प्रणवो धनुः शरोह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।" प्रणवध्वनि से अज्ञान की सात भूमिकायें (बन्ध, बन्धतर, बन्धतम, मूढ़, मूढ़तर, मूढ़तम, और जड़) ये ही क्रम से अतल, वितल ... सात पाताल कहे गये हैं। चैतन्यमयी मा के आविर्भाव में चैतन्यमय प्रणवादि मन्त्र की ध्वनि से सब अज्ञान भूमिकायें असुर निवास वा नाग लोक प्रकम्पित होने लगा। जिस तरह सात अज्ञान भूमि का सात पाताल नाम से कही गई हैं उसी तरह सात ज्ञान भूमिकायें, सात स्वर्ग के नाम से प्रसिद्ध हैं। अप्रासङ्गिक होने पर भी यहां संक्षेप से सात स्वर्गों का विवरण कहते हैं—मुमुक्षु, मुमुक्षुतर, मुमुक्षुतम, ब्रह्मविद्, ब्रह्मविद्वर, ब्रह्मविद्वरीयान् एवं ब्रह्मविद्वरिष्ठ ये ज्ञान की सात भूमिकायें सात स्वर्ग हैं।

मा की सहस्र (असंख्य) भुजाओं से दिङ्मण्डल पर्यन्त व्याप्त हो गया है। साधारणतः माना जाता है कि दिशा शून्य वा आकाश मात्र हैं; किन्तु मातृ आविर्भाव से दिक् देश की प्रतीति कुछ नहीं रहती। सब ही मातृमय हो जाते हैं; सर्व व्यापी घन चैतन्य सत्ता प्रकाशित होने लगती है। तब फिर शून्य कहने को कुछ नहीं रहता सब ही पूर्ण बोध होता

रहता है। अथवा यों कहिये कि मातृ आविर्भाव से जो जो लक्षण प्रकाशित होते हैं वे ही इस मन्त्र में कहे गये हैं। साधक जब मातृ लाभ करता है अर्थात् मा को देखता है, तब उसमें ये लक्षण प्रकाशित होते हैं—उसको चैतन्य वा शुद्ध 'मैं' तीनों लोक में परिव्याप्त प्रतीत होता है, जड़त्व तिरोहित हो जाता है, आकाश की भांति बोध सर्वत्र फैल जाता है, शब्द रहित प्रणवध्वनि से अज्ञान संशय और जड़ता भाग जाती है एवं एक मात्र चैतन्य सत्ता ही सर्वत्र ओत प्रोत भाव से अवस्थित है उसका सम्यक् अनुभव कर सकता है।

जब तक इस भाव से मा को न देखा जा सके। तब तक समझलो कि साधना आरम्भ हुई ही नहीं। यहीं खड़े होकर साधना अर्थात् ब्रह्म के उद्देश्य से आत्म शर छोड़ा जाता है। जब मा इस प्रकार अपना प्रकाश करती हैं तब ही असुर का अत्याचार दूर होता है।

ततः प्रववृते युद्धं तया देव्या सुरद्विषाम्।
शस्त्रास्त्रैर्बहुधा मुक्तैरादीपितदिगन्तरम् ॥ ३८ ॥

अनुवाद। अनन्तर उस देवी के साथ असुरों का युद्ध आरम्भ हुआ, दोनों तरफ के चलाये हुए अस्त्र शस्त्र के तेज से दिशायें दीप्तिमय होने लगीं।

व्याख्या—अब असुरों के साथ मा का युद्ध आरम्भ हुआ। यदि! कहो कि मा का युद्ध क्या? उसके तो सङ्कल्प मात्र से ही असुर निहत हो सकते हैं; तब फिर युद्ध का प्रयोजन क्या? उसके उत्तर में कहते हैं—हां युद्ध की आवश्यकता है। माता पुत्र की आनन्द क्रीड़ा ही यह युद्ध है। माता पुत्र का रण अति विस्मय कर बड़ा मनोहर है। पुत्र, विषय में विमुग्ध रहना चाहता है और मा बलपूर्वक विषम छुड़ाकर गोद में उठा लेना चाहती

है। उसी समय माता पुत्र का जो यह लीलाभिनय होता है, व
वाहर युद्धरूप से प्रतीत होता है। साधक पुत्रों को इस
की अपेक्षा और कुछ स्पष्ट कहने की आवश्यकता नहीं है।

गीता में देखते हैं कि अर्जुन ने भगवान् से पूछा—

"तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥"

ऐसी एक बात निश्चित्य कर कहो। वहां भी जिससे
श्रेयोलाभ करूं, ऐसा भाव था। इसी से मा ने सारथि रूप से
रूप से अवस्थान करके अर्जुन का कर्तव्य ठीक बनाये रहते
उसके द्वारा ही भीष्म, द्रोणादि का निधन कराया था;
चण्डी में देखते हैं कि पुत्र मा की गोद में बैठा हुआ नग्न
है और अपना कर्तव्य सर्वतो भाव से मातृ चरणों में समर्पित
मैं रूप से पृथक् कोई जन नहीं है, और रहने पर भी वह
का खिलौना मात्र है। यहां सुख दुःख में मा हर्ष विषाद
मा, काम क्रोध में मा, दया क्षमा में मा, हिंसा द्वेष में मां
यहां पुत्र मा के सिवाय और कुछ रहना ही नहीं चाह
अतएव अगत्या मा को ही समर क्षेत्र में अवतीर्ण होना पड़
है। मा स्वयं अनेक प्रकार के अस्त्र शस्त्र से सुसज्जित हो
पुत्र का मङ्गल साधन के उद्देश्य से असुरों का अत्याचार नि
रण करने के लिये खड़ी है। यद्यपि मा की इच्छा मात्र ही
यह असुर निधन व्यापार सुसम्पन्न हो सकता है। तथापि
सन्तान की इच्छानुरूप संस्कार के साज से सज कर
करने को बाध्य हैं।

अरे, असुर कुल भी तो मा की सन्तान है। हमारा
जीवभाव है वही तो यथार्थ असुर है, हमारे मुख से यथार्थ
आह्वान निकला होगा तब ही तो मा ने असुर अत्याचार
(अन्याय रूप से) उत्साहित किया है। हमने मा कहकर पुका
है शोक दुःख में उत्पीड़न आनन्द में, चाहे किसी भाव से

सचपुच एक बार मा कहा है; अब क्या मा स्थिर रह सकती है। हमको गोद में उठा लेगी, हमारी संस्कार श्रेणी वा असुरों को एक एक करके विनाश करेगी, और हम उसे देखकर बड़ी खुशी से "जय मा" ध्वनि से दिङ्मण्डल मुखरित करेंगे। आओ मा की सन्तान, हम कोटि कण्ठ से एक बार सत्य ही मा-मा कहकर पुकारें।

अजी! किस तरह भाषा में समझावें कि मा स्वयं युद्ध करती है। सांख्य की भाषा में जो इसको प्रकृति कहते हैं वे विचार देखें कि यह प्रकृति ही जब तक अपवर्ग मुखी न हो, तब तक मुक्ति की आशा नहीं है। प्रकृति जब विशेष भाव से पुरुषाभिमुखी गति पाती है, तब ही भूत और इन्द्रियां आदि तत्व क्रम से क्षीण से क्षीणतर होकर प्रलयाभिमुखी होते हैं। यही भक्तों की भाषा में माता पुत्र की रण क्रीड़ा है। जो योग की सहायता से बहिर्मुखी चित्त वृत्तियों को निरुद्ध करके समाहित होना चाहते हैं, वे भी देखेंगे कि किस तरह अन्तर्मुखी आकर्षणी महाशक्ति बहिर्मुखी वृत्तियों को क्षीण से क्षीणतर करके प्रलयाभिमुखी करती है। पुत्र की भाषा में यही मा की समर लीला है। फिर जो वेदान्तवादी हैं, वे इस जगत को अज्ञान कल्पित अध्यासमात्र कहें तो क्षति नहीं है; वह अज्ञान वा माया जब तुम्हारे समुज्वल ब्रह्मज्ञान में विलीन होती रहती है, जब आकाशादिभूत, चक्षुरादि इन्द्रियाँ, एवं प्राण अपान आदि प्राणवर्ग, ब्राह्मी प्रज्ञा में लीन होते रहते हैं, तब देखोगे कि प्रज्ञा का स्वप्रकाशकत्व, माया कल्पित वैषयिक प्रकाश को क्रम से क्षीण से क्षीणतर करके प्रलयाभिमुखी कर देता है, यही चण्डी की भाषा में मातृ-समर है। हम अब माया वा प्रकृति को मिथ्या वा जड़ नहीं कहना चाहते; माया ही ब्रह्म है, अथवा ब्रह्म ही माया है। मायाहीन ब्रह्म अथवा प्रकृति सम्बन्धहीन पुरुष, साध्य साधनादि

सर्वभाव के अतीत है। जब अग्रया बुद्धि द्वारा, अर्थात् निर्म बुद्धि सत्त्व द्वारा ब्रह्म विषयिणी प्रज्ञा प्राप्त हो तब तक भी ब्र मायायुक्त है। इतना होने से ही मनुष्य का यत्न और जीव सार्थक होता है! और यहां तक जा सकने से उसके परे का स्वरू अर्थात् मायाहीन ब्रह्म वा प्रकृति के सम्पर्क रहित पुरुष अपने आप अधिगत वा प्रकाशित होता है। ये बातें पूर्व अनेक बा कही गई हैं। अस्तु हम जानते हैं कि मा स्वयं ही युद्ध करती हैं साधक तुमने "प्रकृतिस्त्वञ्चसर्वस्य गुणत्रयविभाविनी" इस मन्त्र की व्याख्या पहले खण्ड में पढ़ी है ? क्या तुम अपनी प्रकृति को मा कह कर समझ सकते हो ? क्या अपनी प्रकृति को आह करते भक्ति पुष्पाञ्जलि देने का अभ्यास किया है ? क्या म कहते ही उनकी याद आती है ? यदि ऐसा हो तो समझों प्रत्यक्ष करोगे कि यथार्थ ही मा स्वयं युद्ध करती है। अस्त्र शस्त्र प्रयोग रहस्य आगे व्याख्यात होगा।

महिषासुरसेनानीश्चिक्षुराख्यो महासुरः।
युयुधे चामरश्चान्यैश्चतुरङ्गबलान्वितः ॥३६॥

अनुवाद। महिषासुर के सेनापति चिक्षुर और चाम अन्यान्य असुरों के साथ चतुरङ्गिनी सेना लेकर युद्ध करने लगे

व्याख्या। महिषासुर के दो प्रधान सेनापति हैं। चिक्षुर और चामर। देवी भागवत में इनका रण वर्णन बड़े विस्तारपूर्वक कहा है। चिक्षुर—विक्षेप शक्ति है। विक्षेपार्थक चिक्ष धातु से चिक्षु शब्द बना है। चामर आवरण शक्ति। भक्षणार्थक चम् धातु से चामर शब्द निष्पन्न हुआ है। ये विक्षेप और आवरण एक तरफ जैसे ब्रह्ममयी मा से सन्तान को विच्युत कर देते हैं। वैसे ही दूसरी तरफ मा को आवृत कर रखते हैं। मा को आत्मा में

मुझको क्यों नहीं देखते ? दिन रात जागृतादि तीन अवस्थाओं में जीव किसको देखता है ? आत्मा को. मुझको, मा को। परन्तु हम देखकर भी क्यों नहीं देखते, समझ कर भी क्यों नह समझते ? यह चिक्षुर और चामर का अत्याचार है। एक तरफ जैसे चञ्चलता वा विक्षेप शक्ति, मा को क्षणमात्र देखने का सुयोग नहीं देती, वैसे ही दूसरी तरफ आवरणशक्ति ने मा का स्वरूप ढक रक्खा है। यह बात और भी स्पष्ट करते हैं।

तुमने एक वृक्ष देखा। वस्तुतः वह वृक्षाकार से आकारित चित् वा आत्मा है। किन्तु तुम आत्म दर्शन न करके "वृक्ष" यह नाम और उसकी आकृतिमात्र प्रत्यक्ष करते हो। जो तुमको उस यथार्थ आत्म वस्तु से विक्षिप्त करके नाम और रूप में आकृष्ट करता है उसी का नाम चिक्षुर है। फिर उस नाम और रूप वा विषयज्ञान ने यथार्थ चित् वस्तु वा आत्मा को आवृत्त कर रक्खा है—देखने नहीं देता, उसी का नाम चामर है। अथवा तुम बरफ का टुकड़ा देखते हो। यद्यपि तुम उसको घनीभूत जलरूप जानते हो तथापि तुम्हारे ज्ञान में एक सफेद पत्थर के टौल की भांति एक वस्तु मात्र ही प्रकाशित होती है। जल वाले परमाणुओं की ओर दृष्टि निबद्ध करने पर भी तुम्हारी उस दृष्टि को विक्षिप्त करके जो विशिष्ट रूप की ओर ले जाता है उसी का नाम महाऽसुर चिक्षुर है। वही महिषासुर का प्रधान सेनापति है और साथ ही उसके आवरणकर्ता चामर है; जो नाम और रूप के सौन्दर्य पर मुग्ध करके तुमको यथार्थ स्वरूप से वंचित करता है। और भी देखिये चीनी का खिलौना हाथी, घोड़ा, मठ इत्यादि अनेक नाम और रूप हैं। वस्तुतः वह चीनीमात्र है और कुछ नहीं है, यह जानकर भी जानना नहीं चाहते, केवल नाम रूप पर मुग्ध होते हो वस्तु के यथार्थ रूप से वंचित होते हो। यही पूर्वोक्त असुर का [illegible] है।

अब इस अत्याचार का परिमाण अच्छी तरह सम
लीजिये। तुम सुरथ हो, तुमको गुरु प्राप्त हुआ है। यद्यपि मे
का वाक्य है, श्रद्धापूर्वक श्रवण और मनन करने के फल
अच्छी तरह समझ सके हो—जगत् मा या आत्मा के सिवा
और कुछ नहीं है; किन्तु हज़ार बार समझ कर सहस्र उप
सुन कर, सहस्र बार मनन और अनुभव करके भी जगत् दे
ही जो जगत् ज्ञान होता है, यह किसका अत्याचार है?
चिक्षुर और चामर का। आवरण और विक्षेप शक्ति
से दूर न होने के कारण इस जगत् को आत्मा मा मान
परिग्रह नहीं कर सकते। केवल जिस समय तुम विशेष
करके, ज़ोर करके, इसको मा कह कर पकड़ो, केवल तब
वे दबे रहते हैं, किन्तु क्षणभर में फिर उनका कार्य
लगता है। इसी तरह एक दो दिन नहीं, बहुत दिन तक
अत्याचार चलता है। इसी से प्रथम कहा गया है कि
शतवर्ष व्यापी देवासुर संग्राम हुआ था, तो भी असुरों
बलक्षीण नहीं हुआ। किन्तु अब भय नहीं है। अब की
मा स्वयं समरक्षेत्र में अवतीर्ण है। जिसने विक्षेप और आ
रण रूपिणी होकर अब तक प्रकाश पाया था, वही
उन्हें विलय करने को उद्यत है। अतएव अब आशंका क्या?

साधक! एक दिन तुमने आनन्द के मोह से यही
था; आँखें बांध कर, इधर उधर दौड़ धूप किये बिना तु
आनन्द क्रीड़ा का रस भोग नहीं होता; इसी से मा
स्नेह के पीड़न से बाध्य होकर आवरण शक्ति रूप से तुम्हा
आंखें बांध दी हैं, और विक्षेप शक्ति रूप से बहुत्त्व की
मिटा दी है। अनेक जन्म व्यापी इस बहुत्त्व का खेल कर
आज फिर शिशु की तरह कहने लगे हो, नहीं मा, अब बहु
नहीं चाहिये, बहुत्त्व में आनन्द नहीं है। इसी से मा की

से मधु और कैटभ निहत हुए हैं। किन्तु जो वहुत्त्व पहले चाहते आये हो, जिसका अभी भोग नहीं हुआ है उन सञ्चित कर्मों की मूजीभूत विक्षेप और आवरण शक्ति को विलय करने के लिये अब मा से प्रार्थना करते हो! जो तुमने आप ही इच्छा करके अब तक मा से चाह लिया था, आज उसी के विलय करने को कहते हो! सो भी क्या कह सकते हो? एक बार कहते हो और क्षणभर बाद उसका विलय नहीं चाहते। इसी से तो मा एक बार तुम्हारे मुख की ओर देखती है—क्या तुम सचमुच चाहते हो कि तुम्हारी आवरण और विक्षेप शक्ति सदा के लिये दूर हो जाय? आंखें बांधकर इधर उधर की दौड़धूप सदा के लिये बंद हो जाय? क्या तुम यह सच कहते हो? नहीं, झूठ बात है; तुम नहीं चाहते। तुम चाहते हो कि मा और जगत् दोनों ही रहें, तुम चाहते हो कि—"मा को लेकर खूब आनन्द से जगद्भोग करें" इसी से तो वह स्वयं युद्ध करने को अग्रसर नहीं होती! किन्तु जो पुत्र सचमुच कहते हैं—"मा! अब हमें जगत् नहीं चाहिये, रूप रसादि विषय, देहेन्द्रिय मन बुद्धि नहीं चाहिये। अब तो नित्य स्थिर निर्विकल्प या केवल तुमको ही चाहते हैं।"

जो पुत्र सरल प्राण से यह कह सकते हैं, केवल उन्हीं के लिये चिक्षुर और चामर को निहत करती हैं तुम भी कहो साधक! तुम सुरथ हुए हो, समाधि तुम्हारा सङ्गी है! ब्रह्मर्षि गुरु तुम्हारा सहाय आश्रय है, तुमभी एक बार कहो सचमुच जगत् नहीं चाहते, तब मा तुम्हारे लिये युद्ध करेंगी और तुम देखोगे।

अस्तु इस मन्त्र में चिक्षुर और चामर के चतुरङ्ग बल का उल्लेख है, अब हम उसे समझने की चेष्टा करें। हाथी, घोड़ा, रथ और पैदल, ये ही सेना के चार अङ्ग हैं। विक्षेप और आवरण

शक्ति से ही जीव के क्लेश, कर्म, विपाक और आशय संचि होते हैं। हाथी के स्थान पर क्लेश, घोड़े के स्थान पर कर्म, पैद के स्थान पर विपाक और रथ के स्थान पर आशय हैं। इस चतुरङ्ग सेना से सज्जित होकर ही, महिषासुर के दो सेनापति समर क्षेत्र में अवतीर्ण हुए हैं। जीव ने प्रथम उन दो सेनापति आवरण और विक्षेप का पता नहीं पाया था। केवल चतुरङ्ग सेना का अत्याचारमात्र समझ सका था।

प्रथमतः क्लेश—चित्त की वृत्तिमात्र ही क्लिष्ट हैं, जग में जो सुख कहा जाता है, विवेक दृष्टि से वह भी दुःख व क्लेशमात्र ही है, कारण पार्थिव सुख, दुःख का मुकुट पहन कर ही आता है। एक तरफ जैसे वह अति अल्पक्षण स्थायी है दूसरी तरफ वैसे ही भविष्यत् में उसके नाश की आशङ्का रहती है। पार्थिव सुख का भोगकाल भी दुःखदायक होता है। द्वितीयतः कर्म क्लेश का मूल ही कर्म है। कर्म से ही क्लेश उत्पन्न होता है। कर्म के तीन स्वरूप पूर्व विशेष भाव से व्याख्यात हुए हैं। तृतीयतः विपाक। विपाक शब्द का अर्थ है परिणाम; चित्त का वृत्ति प्रवाह रूप कर्म्म सदा ही परिणामशील है। चौथा आशय—इसको कर्माशय कहते हैं कर्म के संस्कार सूक्ष्म भाव से इसमें सञ्चित रहते हैं। पूर्वोक्त आवरण और विक्षेप शक्ति द्वारा ही ये परिचालित होते हैं। यही जीव का स्वरूप है। आवरण और विक्षेप शक्ति द्वारा परिचालित क्लेश कर्म्म विपाक और आशय ही जीव कहे जाते हैं।

और भी खुलासा कहते हैं—जीव ! देखो तुम कौन हो! सबसे प्रथम तुमने अपनी आंखें आप ही बांधी हैं। मैं कौन हूँ! इसे नहीं जानते, यह एक अज्ञान स्वीकार कर लिया है। यही मूल आवरण है। उस अज्ञान रूप आवरण पर अवस्थान करके सदा तुम रूप रसादि विषयों में दौड़ते हो, यही विक्षेप

है। इसके फल से तुम्हें सुख और दुःख नामक जन्म जन्मान्तर व्यापी क्लेश भोग होता है। उस क्लेश से कर्म्म वा बार बार विषयेन्द्रिय संयोग सिद्ध होता है। कर्म समूह ही क्रम से विपाक वा परिणाम को व्याप्त होकर फिर क्लेश के बीज तैयार करते हैं बीज फिर सूक्ष्म भाव से कर्मांशय गठन करते हैं। धीर चित्त से विचार देखो यही तुम्हारा जीवत्व है। एक बार यदि इस चतुरङ्गिनी सेना के हाथ से परित्राण पा सको, अर्थात् क्लेश, कर्म, विपाक और आशय द्वारा अपरामृष्ट पुरुष विशेष वा परमेश्वर का साक्षात् प्राप्त कर सको, तब ही तुम जीवत्व के हाथ से परित्राण पाओगे। परमेश्वरी मा तुमको इस जीवन रूप अच्छेद्य बन्धन से चिरमुक्त करेगी, इसी से चतुरङ्ग समन्वित चिक्षुर और चामर को निहत करने का उद्योग किया है ॥३०॥

रथानामयुतैः षड्भिरुदग्राख्यो महासुरः।
अयुध्यतायुतानाञ्च सहस्रेण महाहनुः ॥ ४० ॥

अनुवाद। उदग्र नामक महासुर ने छः अयुत (साठ हजार) और महा महाहनु असुर ने एक करोड़ (हजार अयुत) रथों को लेकर युद्ध किया।

(व्याख्या) अब क्रम से असुरों का बल कहते हैं। चिक्षुर और चामर के बाद उदग्र, महाहनु आदि और भी अनेक महा असुर युद्ध क्षेत्र में अवतीर्ण हुए थे। क्रम से इनके नाम और बल का परिचय मिलेगा। उत्-ऊपर की ओर, अग्र अर्थात् मस्तक है जिसका, वही उदग्र है। अहं कर्तृत्व अभिमान ही उदग्र असुर है। वह किसी तरह शिर झुकाना नहीं चाहता। एक मात्र मा के सिवाय और कोई कर्ता नहीं है वा रह नहीं सकता, यह बात लाख तरह से प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण द्वारा समझ सकने पर भी "मैं कर्ता हूँ" ऐसे अभिमान का

उच्च शिर जीव किसी तरह नीचा कर नहीं सकता न करना चाहता है। साधक ! इस भाव को उदग्र असुर समझें, आशा हो सकती है, पूर्व कहा गया है कि जीव के अपना कर्तृत्व मातृ चरणों में अर्पण करने के बाद, मा स्वयं युद्ध क्षेत्र में अवतीर्ण होती है। तब फिर अहं कर्तृत्वाभिमान रूप ग्र असुर कहां से आया ? इसका उत्तर प्रथम ही दिया जा चुका है कि अनुलोम और विलोम भेद से प्रकृति की गति दो प्रकार की है। अनुलोम गति के कारण जीव भावीय कर्तृत्वाभिमान विद्यमान रहने पर भी, अन्तर्मुखी आत्म समर्पण भाव प्रकाशित होता है, परन्तु सर्वतो भाव से आत्म समर्पण होने पर तो मुक्ति अवश्य हो ही जाती है। युद्ध रहता नहीं। जब तक युद्ध चलता रहे, तब तक समझ लेना चाहिये कि सम्यक् रूप से आत्म समर्पण वा आत्मज्ञान हुआ ही नहीं; जीव जब मातृ कर्तृत्व अनुभव करके आत्म समर्पण करने को तत्पर होता है तब भी वह उन्नति नहीं कर सकता, अनादि कर्तृत्वाभिमान उसको बाधा देता है, तब अगत्या मा के समीप रोकर कहता है—"मा" मैं तो अब आत्म समर्पण कर नहीं सकता, तुम मुझे आत्म समर्पण के योग्य करलो।" यह भाव जब ठीक ठीक आ जाता है अर्थात् किसी तरह का कपट भाव नहीं रहता, यथार्थ ही सरल प्राण शिशु की तरह आत्म समर्पण की योग्यता पाने के लिये, मा से प्रार्थना किया करता है, तब ही मा इस उदग्र असुर के वध की तय्यारी करती है।

अस्तु, इस असुर की शक्ति भी कम नहीं है, साठ हजार रथ सहित इसका युद्ध वा रोकने की क्रिया चलती रहती है। छः अयुत रथ क्या ? श्रुति में कहा है कि देह ही रथ है। देह में छः कोष हैं—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, ज्ञानमय, विज्ञानमय और आनन्दमय; इन छः कोषों द्वारा मानो परमात्म

आच्छादित है। यह छः देह ही उदग्र असुर के रथ हैं। वेदान्त के अनेक स्थलों में पञ्च कोषों का उल्लेख रहने पर भी ज्ञान और विज्ञान भेद से विज्ञानमय कोप के दो भेद करके षट्-कौशिक देह का उल्लेख भी शास्त्रसिद्ध है। ज्ञानमय कोष को बुद्धि और विज्ञानमय कोप को महदात्मा कहा जाता है।

अन्नादि खाद्य द्रव्य के विकार से जो कोष बनता और पुष्ट होता है, उसे अन्नमय कोष वा स्थूल देह कहते हैं। यही उदग्र का प्रथम रथ है। जीव प्रथमतः इस स्थूल देह को ही 'मैं' समझता है। यही जीव कर्तृत्वाभिमानी का प्रथम आश्रय है। जब तक देह रहती है तब तक कुछ न कुछ अभिमान रहता ही है; जिस समय देहाभिमान बिलकुल विलय हो जाता है, उसी समय देह पात हो जाता है। समाधि के कितने ही उच्च-स्तर पर क्यों न जाओ, कुछ बीज रह ही जाता है, इसी से फिर देह बोध में लौट आना होता है। परन्तु साधारण जीव के देहाभिमान और आत्मज्ञ पुरुष के देहाभिमान में आकाश पाताल का भेद है, इसमें कहना ही क्या है। आत्मज्ञ पुरुष मृत्यु भय से सदा विमुक्त है, इसी एक लक्षण द्वारा जाना जा सकता है कि उसे देहाभिमान नहीं है। किन्तु साधारण जीव मृत्यु भय से डरता है, अतएव देहाभिमानी है। आत्मज्ञ पुरुष जो कुछ देहाभिमान रखते हैं उसको प्रारब्ध क्षय कहो, चाहें दया परवश होकर जगत् का अन्धकार दूर करने की इच्छा कहो। अथवा कुछ प्रियतम अन्तरङ्ग को बन्धन से छुड़ाने की इच्छा कहो, कुछ क्षति नहीं; परन्तु वह दूसरी बात है।

उदग्र का दूसरा रथ है, प्राणमय कोष। जिसके द्वारा यह स्थूल देह क्रियाशील रहता है। वह जीवनी शक्ति ही प्राणमय कोष नाम से प्रसिद्ध है। साधारण भाव से इसको प्राणादि पञ्चवायु कहा जाता है। वस्तुतः यह स्थूल वायुमात्र नहीं है।

जीवनी शक्ति ही यथार्थ प्राणमय कोष है। इसमें भी जीव का अहंबोध बँधा रहता है। तृतीय मनोमय कोष वा इन्द्रिय से मिला हुआ मन है। इस स्थान में भी मैं मनोमय हूँ, मैं इन्द्रियमय हूँ, ऐसा बोध रहता है। चौथा बुद्धिमय वा ज्ञानमय है। यह कोष सब तरह के स्थूल विषय प्रकाश करने का आश्रय है। मैं ज्ञानमय हूँ, स्थूल विषय मैं जानता हूँ, इस कोष में ऐसा अभिमान रहता है। फिर विज्ञानमय कोष है। इस स्थान में सूक्ष्म और स्थूल दोनों प्रकार के विषय पूर्ण प्रकाशित होते हैं। यह अभिमान का पांचवाँ स्थान है। सब से अन्त में आनन्दमय कोष है। मैं आनन्द स्वरूप हूँ, यह छठा अभिमान का स्थान है। ये छः विशिष्ट रथ हैं, फिर स्थूल, सूक्ष्म असंख्य नाम रूपादि विषय भेद से, अनगणित भेद होते हैं। इसी से मन्त्र में असंख्य बोधक अयुत शब्द का प्रयोग हुआ है। अथवा अयुत शब्द का अर्थ (अ+युत) अमिलित अर्थात् परमात्मा के साथ भेद विशिष्ट। एक मात्र मा ही यथार्थ अहं पद का वाच्य वा लक्ष्य है, यह बात भूल कर जीव अन्नमयादि षट्कौषिक देह में अभिमान से बँध जाता है। उदग्र असुर के छः अयुत रथों का यही आध्यात्मिक रहस्य है।

महाहनु—जीव भावीय शारीरिक वा मानसिक बल। साधारणतः पुरुषकार शब्द से जो समझा जाता है उसी का महाहनु कहते हैं। जब तक पुनः पुनः दैव-प्रतिकूलता द्वारा, यह जीव भावीय पुरुषकार खण्डित न हो, तब तक यह—अमित बलशाली है। "मैंने परिश्रम करके ज्ञानार्जन किया है, धन उपार्जन किया है; कठोर तपस्या करके ब्रह्मविद्या प्राप्त की है" इत्यादि। ऐसा भाव ही महाहनु है। इसके सहस्र, अयुत रथ हैं। इन स्थानों में सहस्र शब्द असंख्य बोधक है। विषयेन्द्रिय संयोग रूप कर्म्म—संख्यातीत हैं। इस असंख्य अर्थ में

ही यहां असंख्य शब्द का प्रयोग है। अयुत शब्द का अर्थ अमिलित है; यह पूर्व कहा गया है। पुरुषकार का पुरुष ही मा है, यह न समझ कर सब इन्द्रिय व्यापार निष्पन्न करने रूप पुरुषकार प्रयोग ही महाहनु नामक असुर को सहस्र अयुत रथ सहित युद्ध का आध्यात्मिक रहस्य है ॥ ४० ॥

पञ्चाशद्भिश्च नियुतैरसिलोमा महासुरः।
अयुतानां शतैः षड्भिर्बाष्कलो युयुधे रणे ॥४१॥

अनुवाद—महाअसुर असिलोमा एवं बास्कल, रणक्षेत्र में यथाक्रम से पचास नियुत और छः सौ नियुत रथों को साथ लेकर युद्ध करने लगे।

व्याख्या—असिलोमा तलवार की तरह रोम हैं जिसके। जिसके गात्र स्पर्श से अर्थात् संसर्ग में आने से ही क्षत विक्षत होते हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से इसको द्वेष कहा जाता है। द्वेष यथार्थ ही असिलोमा है। यह केवल दूसरे को ही क्षत विक्षत नहीं करता बल्कि जिसके आश्रय रहता है उसको भी हुताशन की भांति विनाश करता है। ईर्ष्या, असूया आदि इस द्वेष के ही अन्तर्गत हैं। पर गुण में असहिष्णुता आदि भाव मनुष्य को अत्यन्त सङ्कीर्ण और सन्तप्त करते हैं। पराये दुःख से दुखी हो कर—दूसरे की आंखों में आंसू देखकर, आंसू बहाने वाले जगत् में अनेक मिलते हैं, किन्तु पराये सुख से यथार्थ आनन्दित हो पराभि हँसी में सरल प्राण से अपनी हँसी मिला दें, ऐसे लोग इस जगत् में अति दुर्लभ हैं। क्यों ऐसा होता है? यह असिलोमा असुर का अत्याचार है।

फिर दूसरी तरफ जो इच्छापूर्वक जोर करके विषयों में विद्वेष का अभ्यास करते हैं, अर्थात् जो भगवत्प्राप्ति के उद्देश्य से वैराग्य साधन का उपाय स्वरूप—विषयों पर विद्वेष भाव

पोषण करते हैं, समझना चाहिये कि वे भी इस असिलोमा असुर द्वारा पीड़ित हो रहे हैं; क्योंकि अनुराग और विद्वेष दोनों ही तुल्य बन्धन हैं; जैसे सोने की बेड़ी और लोहे की बेड़ी। विषयों पर अत्यन्त अनुराग जिस तरह भगवत्-प्राप्ति में अन्तराय है, ठीक उसी तरह विषय-विद्वेष भी प्रबल अन्तराय है। किन्तु अनुराग की परिसमाप्ति किसी न किसी दिन भगवान् में ही होती है, किन्तु विद्वेष की परिसमाप्ति भगवान् में होना अत्यन्त दुरूह है। हां! विद्वेष किया था, कंस, शिशुपाल, दन्तवक्र आदि ने। उनके विद्वेष ने भगवान् में पर्यवसित होकर महामोक्ष प्राप्त करा दी थी। किन्तु साधारण मनुष्य के पक्ष में वह बिलकुल असम्भव है, कारण कि उनका चित्त अत्यन्त दुर्बल है।

अस्तु, इस असिलोमा असुर की रथसंख्या, पचास नियुत वा पांच सौ लाख है। रूप रसादि पांच विषयों को आश्रय करके विद्वेष भाव प्रकाशित होता है। उनके अवान्तर असंख्य भेदों को लक्ष्य करके शत लक्ष आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं। अथवा निःयुक्त शब्द का अर्थ अ-मिलित है, आध्यात्मिक भाव से अयुत और नियुत शब्द परमात्म योग शून्य भाव को ही समझाते हैं। हमारी चक्षुः आदि पांच ज्ञानेन्द्रियों एवं वाक् पाणि आदि पञ्च कर्म्मेन्द्रियों के साथ, सदा रूप रसादि विषयों का संयोग होता रहता है, उनमें कुछ संयोग हमारे अनुकूल और कुछ प्रतिकूल होते हैं। प्रतिकूल संयोग से चित्त का जो विकार होता है उसका नाम विद्वेष है, वह ज्ञान और कर्म्म दोनों तरह की इन्द्रियों के आश्रय से ही प्रकाशित होता है। अतएव दश इन्द्रियों को पांच विषयों के साथ गुणा करके विद्वेष के पंचास प्रकार स्थूल भेद होते हैं। इसी से मन्त्र में पंचास नियुत शब्द का उल्लेख है। जब तक

अनात्म-वस्तु का बोध रहता है अर्थात् मा के सिवाय और कुछ है, ऐसा बोध रहता है, तब तक यह विक्षेप-भाव-पूर्ण रूप से दूर होना बिलकुल असम्भव है।

वास्कल शब्द का अर्थ भोगाभिलाप है। इस असुर का अत्याचार ही हमारे निकट बार-बार जन्म मृत्यु रूप से आता है। किस अनादि काल से जगद्भोग में अभ्यस्त हुए हैं; कितने जन्म जन्मान्तर से एक ही जगत को अनेक भाव से भोग करते आते हैं; परन्तु किसी प्रकार अभिलाषा की निवृत्ति नहीं होती। यह असुर ऐसा ही दुर्दान्त और दुर्जय है, इसकी रथ संख्या छः सौ अयुत अर्थात् छः नियुत है। भोगायतन क्षेत्र देह ही भोगाभिलाप रूपी वास्कल असुर की युद्ध-सामग्री वा आश्रय स्थान है। उसमें—"जायते, अस्ति, वर्द्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, नश्यति" ये छः विकार संघटित होते हैं। इस षड्भाव विकारयुक्त देह को आश्रय करके भोगाभिलाप की प्रबल प्रेरणा से लाखों योनियों में भ्रमण करते हैं, जिसकी चिन्ता करने पर भी स्तब्ध होना पड़ता है। नियुत शब्द का अर्थ दश लाख और अयुत शब्द का अर्थ दश हज़ार है।

गजवाजिसहस्रौघैरनेकैः परिवारितः ।
वृतो रथानां कोट्या च युद्धे तस्मिन्नयुध्यत ॥ ४२ ॥

अनुवाद—परिवारित नामक असुर उस युद्ध-स्थल में, हज़ारों हाथी घोड़े और करोड़ों रथों को साथ लेकर युद्ध करने लगा।

व्याख्या—परिवारित–परिवार प्रतिपालन विषयक कर्तव्य बुद्धि। यह भी असुर विशेष है। साधारण भाव से यह बात अनेक लोगों को ना पसन्द हो सकती है, क्योंकि समाज-नीति और धर्मनीति का अनुशासन मान कर जो चलते हैं उनके लिये

पोष्य वर्ग का भरण पोषण करना परम आवश्यक है।
करने से अधर्म्म होता है, समाज-शृंखला नष्ट होती
प्रत्यवाय होता है। यह मनु संहिता आदि वेदानुगामी
द्वारा बार बार उपदेश हुआ है। किन्तु जिन्होंने चण्डीतत्त्व
प्रवेश किया है, गीता-रहस्य जिनके हृदय में प्रकाशित हुआ
अर्थात् जो मोक्ष-कामी हैं; अर्थात् धर्म्म अधर्म्म दोनों से
अवस्था में जाना चाहते हैं, उनके पक्ष में फिर कुछ कर्तव्य
रहता। जब तक अहङ्कार वा जीव-भावीय-कर्तृत्व-ज्ञान
है, विश्वमय एकमात्र महती शक्ति का स्वतः स्फुरण
दीख पड़ता, तब तक ही कर्तव्य-ज्ञान, धर्म अधर्म्म विचार
सब रहते हैं। और जो जीव भावीय अहंता को मा की
में मिला कर निश्चिन्त हो सकते हैं, उनको कर्तृत्व कुछ
रहता। उनका देह मातृ-शक्ति विकाश का केन्द्र स्वरूप
असंख्य कर्म्म सम्पादन करता अवश्य है, किन्तु कर्तव्य
प्रणोदित नहीं होती। तब वे गीता के सुर में सुर मिला
कहने लगते हैं—"न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लो
किञ्चन॥" (३।२२)

अस्तु, जब तक जीव की यह अवस्था न आवे,
ऐसी अवस्था में उपनीत होने के लिये प्रबल आग्रह जाग्रत
हो, तब तक वह कर्तव्य-ज्ञान ही असुर के अत्याचार
प्रतीत होता रहता है। साधक के विशिष्ट प्राण चाहते
महाप्राण में मिल जाना; किन्तु वह परिवारित नामक
कर्तव्य के रूप से खड़ा होकर उस महामिलन में बाधा
है। प्रथम खण्ड में कहा गया है कि धर्म्म, कर्म्म भी
विशेष हैं। यह परिवार-प्रतिपालन-विषयक-कर्तव्य-ज्ञान भी
प्रकार बन्धन मात्र है। अजी कर्तव्य शब्द के साथ ही
ज्ञान रहता है। एकमात्र मा के सिवाय और कोई भी

न है और न रह सकता है। इस ज्ञान में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित होने के पूर्व तक ही कुछ 'कर्त्तव्य' बोध रहता है। आशङ्का हो सकती है कि जिन्होंने विश्वमय एक-मात्र मातृ-कर्तृत्व अनुभव किया है वे क्या कर्तृत्वबोध से कर्म नहीं करते ? इसके उत्तर में सब धर्म्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र और महापुरुष एक स्वर से कहते हैं कि वे शास्त्र-विहित कर्म का ही अनुष्ठान करते हैं; किन्तु कर्तव्य अर्थात 'कर्तृत्व' बोध नहीं रहता। वे यन्त्र द्वारा चलाई हुई पुतली की तरह कर्म करते हैं। यथा "उमा दारु योषित की नाई। सबहि नचावत राम गुसाईं।" मातृ लाभ का यही तो फल है। अहङ्कार अर्थात मैं कर्ता हूं। यह अज्ञान विनष्ट होना ही आत्मदर्शन का बाह्य लक्षण है। उसके बाद भी कुछ अभिमान वा अहंबोध रहता अवश्य है, किन्तु वह विषदन्तहीन सर्प की भाँति बन्धन रूप विष नहीं उगल सकता।

यह बात यहां विशेष ध्यान करने योग्य है कि परिवार प्रतिपालन रूप भारी बोझ का निर्वाह करना और उसके कारण अनेक प्रकार के असुख, अशान्ति से दूर रहने के लोभ से धर्म के नाम से आलस्य में आकर गेरुए वस्त्र धारण करना पाषण्ड का लक्षण है। यदि कोई यथार्थ मुमुक्षु हो, यदि किसी को भी आत्म-प्रेम-प्रवाह उमंग चला हो तो इस परिवार रूपी असुर के अत्याचार से उसे मा ही बचाती है। सावधान ! कोई मा के प्रत्यक्ष संकेत व सद्गुरु के आदेश बिना गृहस्थधर्म परित्याग कर अधर्म्म कीचड़ में न डूबें। जब तक धर्म्माधर्म्म-विचार प्राण में जागता रहे, तब तक गृहस्थाश्रम परित्याग बिलकुल निषेध है। गृहस्थाश्रम में रहकर भी सन्यासी हुआ जाता और यही सहज और स्वाभाविक है। परन्तु जब तुम मातृ-स्नेह से मुग्ध, मातृ-अस्तित्व में दृढ़ विश्वासवान मातृ-कर्तृत्व पर निर्भरशील हो जाओगे, तब भी देखोगे कि वह परिवाररूपी असुर

तुम्हें पीड़ित करता है। इस अवस्था में कातर प्राण से मा
कहो - मा! अब यह मुझसे नहीं सम्हल सकता। हजार
समझ लिया कि एक-मात्र तुम ही कर्ता हो, तो भी यह क
ज्ञान असुर के रूप में आकर मुझको चञ्चल कर डालता
हमें अपना सुख दुःख कहने को और तो कहीं जगह है
हमें इस परिवार प्रतिपालन रूप कर्त्तव्यज्ञान के बन्धन से
करो। हम केवल उस एकमात्र "कर्तव्य" के अनुरोध से
हजारों बन्धनों से बँध गये हैं। मा! तुम ही तो हमारी
स्वाधीनता का अद्वितीय क्षेत्र हो; तुम ही हमारे उन्मुक्त ह
विलास-निकेतन हो; हमारा सर्वस्व तुम ही हो, तुम ही
सब तरह के सङ्कोच का अवसान हो; तुमको लेकर-पाकर-
संसार का दासत्व क्यों करें? मा! तुम राज-राजेश्वरी हो
तुम्हारे पुत्र होकर हम कङ्गाल की तरह विषयों के द्वा
मुट्ठी-भर भिक्षा मांगने क्यों जावें?

इस तरह सरल प्राण से मा को जताओ तो देखोगे
अचिन्त्य उपाय से तुमको इस परिवारित असुर के
छुड़ा देगी। जब तक मा स्वयं इस असुर-निधन के लिये
न हो तब तक हठ के वश होकर अपने कर्तृत्व से
की चेष्टा न करो। याद रक्खो कि मा के प्रति निर्भरशील
की कोई आकांक्षा वह अपूर्ण नहीं रखती। इसी से
बार कहते हैं कि जब जो इच्छा हो मा से माँगने में
दोष नहीं है, परन्तु कब? जैसे पुत्र अपनी मा से मांगता
प्रकार मांग सको, तब। अजी! तुम जब भिखारी
माँगते हो और यह भी संशय है कि मा है या नहीं?
अत्यन्त गिड़गिड़ा कर सन्दिग्धचित्त से भिखारी की तरह
से भिक्षा मांगते हो! और यह भी आशङ्का है कि न
देगी या नहीं? इस कारण फल भी वैसा ही होता है

मांगो तो पुत्र की तरह मांगो, भिखारी की तरह मत मांगो। परन्तु वह दूसरी बात है:—

अस्तु, इस परिवारित असुर के रथ करोड़ों और हाथी घोड़े भी हजारों हैं। गज शब्द का अर्थ है बन्धन, वाजि शब्द का अर्थ है, द्रुतगति। केवल परिवार प्रतिपालन रूप एकमात्र कर्तव्य का आश्रय करने ही से अगणित कर्तव्य सामने आ खड़े होते हैं और वे ही जीव को बाँध कर रथ और घोड़े की तरह इधर उधर दौड़ा करते हैं। गज वाजि शब्द का अर्थ पूर्व भी विशेष भाव से कहा गया है ॥ ४२ ॥

विडालाक्षो ऽयुतानाञ्च पञ्चाशद्भिरथायुतैः ।
युयुधुःसंयुगे तत्र रथानाँ परिवारितः ॥ ४३ ॥

अनुवाद। अनन्तर बिडालाक्ष नामक असुर पचास अयुत रथों से घिर कर उस रण क्षेत्र में युद्ध करने लगा।

व्याख्या। विडालाक्ष—जिसके नेत्र बिल्ली के से हैं। आध्यात्मिक भाव से इसको दोष दृष्टि कहते हैं। बिलाव नेत्र की विशेषता यह है कि दोनों तारे पीले रंग के और दिन-रात में समान दृष्टि वाले होते हैं। जैसे कमल वायु ग्रस्त मनुष्य पृथ्वी के सब पदार्थ हलदी के रंग से रंगे हुए देखता है, उसी तरह जीव भी अद्वितीय ब्रह्मवस्तु को अनेक भाव से विराजित जगत् रूप से देखते रहते हैं। हजार बार समझाया है, आलोचना की है—"सर्व्वं खल्विदं ब्रह्म, आत्मैवेदं सर्वं, सर्वं विष्णुमयं जगत्, मयाततमिदं सर्वं जगदव्यक्त मूर्तिना" इत्यादि कितना सुना है, उपदेश पाया है; तथापि इस जगत् को तो ब्रह्म रूप से दर्शन कर नहीं सकते! किसी तरह जगत् को आत्मा—मा रूप में परिग्रह कर नहीं सकते। यही विडालाक्ष असुर का अत्याचार है। क्या करें मा! हम केवल आज

ही नहीं बल्कि अनेक जन्म से इसी तरह धोखे में पड़े हुए हैं
यह परिदृश्यमान जगत् तुम्हारे सिवाय और कुछ है ही नहीं
ऐसा किसी तरह हमेशा भान नहीं रहता ! अनात्म वस्तु के
दर्शन रूप पीत नेत्र के अत्याचार से किसी तरह तो परित्राण
पाया ही नहीं जाता। दिन में जाग्रत अवस्था में जिस तरह
बिडाल नेत्र के अत्याचार से अद्वितीय चिन्मात्र वस्तु को
जड़ पदार्थ के आकार में परिग्रह करने को वाध्य हैं, ठीक उसी
तरह रात्रि के समय स्वप्नावस्था में भी अनात्म वस्तु के परि
में मुग्ध रहते हैं। इस तरह दिन-रात हम बिडालाक्ष के अत्या
चार से उत्पीड़ित हुए हैं।

किन्तु मा! अब हमारे प्राण में आशा का सञ्चार हुआ है
क्योंकि जगत् दर्शन होना, असुर का अत्याचार है, यह समझ
में आगया है। इसीसे तुम स्वयं असुर का निधन करने को
अवतीर्ण हुई हो। अब हमें क्या भय है? मा! प्रति जीव के
हृदय में इसी तरह चण्डीमूर्ति से आविर्भूत हो कर, दुष्ट
दृष्टि वा विषय दर्शन रूप बिडालाक्ष असुर निधन का उपाय
करो। जगत् में फिर सत्य धर्म्म की प्रतिष्ठा हो।

आधिभौतिक भाव से भी देखा जाता है कि यह बिडालाक्ष
असुर वा दोष दृष्टि ही मनुष्य को सदा अशान्त रखती है
और दुःख के हेतु स्वरूप होती है। दूसरों के दोष
देखने को हम सहस्र लोचन हो जाते हैं। हाय, हम
समझ नहीं सकते कि दूसरों के दोष देखते समय वे दोष
हमारे ही चित्त को कलुषित करते हैं। दूसरों के दोष देखने
के चक्षु बिलकुल मुंदे रहने से मनुष्य कितना सुखी होता है
वह सहज में धारणा कर नहीं सकते। इसीसे कातर प्राण से
प्रार्थना करते हैं—मा! तुम हमको इस दोष दर्शन रूप बिडालाक्ष
असुर के अत्याचार से परित्राण करो। जिससे हम भ्रम से

पराये दोष दर्शन न करें। मनुष्य मात्र में दोष गुण दोनों ही रहते हैं। मा! हमारी दृष्टि जिससे सदा केवल गुण अँश के ऊपर ही पड़ती रहे, हम जिससे किसी के भी दोषों की आलोचना करके अपने चित्त को कलुषित न करें। मा! तुम हमें शक्ति दो। मा मा मा !!!

अस्तु, इस विडालाक्ष की रथ संख्या पंचास अयुत है। एक ही परमात्म वस्तु को हम पांच विषय रूप से दश इन्द्रियों द्वारा परिग्रह करते हैं। इस तरह इसके पचास भेद स्थूल रूप से होते हैं। अयुत शब्द का अर्थ असंख्य वा अमिलित है। यह पूर्व भी अनेक मन्त्रों की व्याख्या में कहा गया है॥ ४३॥

अन्ये च तत्रायुतशो रथनागहयैर्वृताः।
युयुधुः संयुगे देव्या सह तत्र महासुराः॥ ४४॥

अनुवाद। अन्यान्य महासुर अयुत अयुत हाथी घोड़े और रथ साथ लेकर उस रण स्थल में देवी के साथ युद्ध करने लगे।

व्याख्या—पूर्ववर्ती मन्त्रों में प्रधान प्रधान असुरों के नाम और बल का विवरण वर्णन हुआ है। यहां अन्यान्य असुर कुल का विवरण साधारण भाव से उल्लिखित हुआ है। उनमें उद्धत, दुर्धर, दुर्म्मुख, कराल, उग्रास्य और उग्र वीर्यनामक कुछ असुरों का वध विवरण अगले अध्याय में पाया जायगा। ये नाम अन्वर्थ हैं। धीमान् साधक अनायास अपने भीतर इन नामों वाले असुरों को देख पावेंगे। योग शास्त्र में कहा है—"देहस्था देवताः सर्वा देहस्थाश्च महासुराः। देह स्थानि च तीर्थानि पश्यन्ति योग चक्षुषः॥" योग चक्षुस्मान् व्यक्ति अपने शरीर ही में देवता, असुर और सब तीर्थों के दर्शन करते हैं। ब्रह्मर्षि मेधस् ने अङ्गुलिनिर्देश पूर्वक राजा सुरथ को यह दिखला दिया कि चिक्षुर, चामर आदि असुर किस तरह शक्ति की

सहायता से युद्ध क्षेत्र में अवस्थित हैं। मनुष्य जब अ
भीतर स्थित अतिप्रिय वृत्तियों को इस तरह (केवल मुख
नहीं हृदय से असुर समझ सकता है) तब ही देख पाता
कि ये असुर उसके साथ युद्ध न करके मा के साथ ही
करते हैं; इसी से मन्त्र में "देव्या सह युयुधुः" कहा गया है
साधक जब तक देखेंगे, कि तुम स्वयं असुर के प्रतिकूल
करते हो, तब तक समझें कि अभी असुर निधन का
मिला नहीं। तुम मा के बालक हो मा की गोद में बैठ
केवल देखो कि असुर किस तरह अपना प्रकाश करते
और मा किस प्रकार उन्हें अपने में विलय कर लेती है, पर
वह और बात है ॥ ४४॥

कोटिकोटिसहस्रैस्तुरथानां दन्तिनां तथा।
हयानाञ्च वृतोयुद्धे तत्राभून्महिषासुरः ॥ ४५

अनुवाद। इस तरह महिषासुर करोड़ों रथ, हाथी
घोड़ों को साथ लिये युद्ध में प्रवृत्त हुआ।

व्याख्या। साधक! अब एक बार असुर बल को
दृष्टिपात करो—तुम्हारी देह में अन्तरराज्य में असुर कि
बलवान होकर तुम्हारा विनाश करते हैं, किस तरह अ
शक्ति की सहायता से तुम्हें आत्मराज्य से विच्युत कर र
है, जिन्हें तुम अन्तर के भावमात्र समझते थे, अब देखो,
भावमात्र नहीं हैं—असुर हैं। ऐसा ही होता है। साधकमात्र
राजा सुरथ की तरह पहले आत्मीय स्वजन, कोषागार,
आदि को ही साधना या मातृ-लाभ का बाधक समझते थे; पर
कुछ अग्रसर होने से अच्छी तरह समझ सके हैं कि
जिनको विघ्न स्वरूप समझते थे, वे वास्तविक विघ्न नहीं
बल्कि विघ्न हमारे मन के भाव हैं। इन भावों को निरुद्ध

सकने से ही मातृलाभ हो सकता है। क्रम से जितना-जितना आगे बढ़ते जाते हैं उतना ही यह मर्म्म-मर्म्म से अनुभव होता जाता है कि ये भाव सामान्य नहीं हैं ये महासुर हैं। कोटि-कोटि सैन्य सहायता से स्वयं महिषासुर साधक को सदा के लिए संसार कारागार में रोक रखने के लिये उद्यम करता है, किन्तु साधक—निर्भय निश्चिन्त है; कारण, वह मातृ चरणों में आत्म समर्पण कर के असुर कुल के निधन की प्रतीक्षा में उत्सुक नेत्रों से देख रहा है।

जीव ! जब तक तुम केवल अपना कर्तृत्व मान कर साधना करोगे—यम नियमादि अनुष्ठान करके असुर कुल को निर्मूल करने का प्रयास पाओगे, तब तक आशंका है कि कदाचित साधना निष्फल भी हो जाय; कारण कि तुमको कर्तापन का ज्ञान है। और जब मा स्वयं ही साधना रूप से अपना प्रकाश करती है तब फिर निष्फलता की आशङ्का नहीं रहती, इसी से कहते हैं कि चाहें कुछ भी करो, मा के कर्तृत्व पर दृढ़ विश्वास रख कर, पूर्णभाव से निर्भर करने का अभ्यास करो। तब देखोगे कि कोई अज्ञात् शक्ति तुम्हारे सब विघ्नबाधाओं को दूर कर देती है। मातृ कर्तृत्व में विश्वासवान साधक का इससे केवल साधन मार्ग ही निर्विघ्न नहीं हो जाता बल्कि व्यवहारिक जीवन यात्रा भी विघ्नरहित हो जाती है।

तोमरैर्भिन्दिपालैश्च शक्तिभिर्मुसलैस्तथा।
युयुधुः संयुगे देव्या खड्गैः परशुपट्टिशैः ॥४६॥

अनुवाद। तोमर भिन्दिपाल (हाथ से चलाये जाने वाले बाण) शक्ति (शेल) मुशल, खड्ग, परशु और पट्टिश आदि अस्त्रों द्वारा असुर देवी के साथ युद्ध करने लगे ॥ ४६ ॥

व्याख्या। असुरों में जिस तरह चिक्षुर, चामर आदि सात

प्रधान असुरों के नाम कहे गये हैं उसी तरह तोमर, भिन्दि
आदि सात प्रधान शस्त्रों का भी उल्लेख है; जो परिवा
नाम के असुर को अलग स्वीकार नहीं करते, उनके मत में
असुर-सप्तक होता है, परन्तु हमने उसे स्वीकार किया
अतएव हमारी गणना में प्रधान असुर आठ हैं। इनकी मीमां
आगे की जायगी। प्रथम अस्त्रों का आध्यात्मिक स्
समझने की चेष्टा कीजिये।

तोमर "स्तोमंराति इति तोमर" (सकार लोप) जो
अर्थात पुञ्जीभूत वा एकत्र किये हुए भाव का दान करे
तोमर कहते हैं। एक साथ अनेक भावों को एकत्र करे एक
की भाँति प्रतीति योग्य कर देना ही तोमर नामक अस्त्र का
है। यह सर्वप्रधान सेनापति महासुर चिक्षुर (विक्षेप) का अस्त्र
विक्षेप शक्ति का स्वभाव ही, बहुभाव को सङ्कीर्ण रूप में
गोचर करा देना है। तुम वृक्ष देखते हो; तुमने समझा कि
नाम से एक पदार्थ मात्र ज्ञानगोचर हुआ। परन्तु वास्त
वह एक पदार्थ नहीं है; क्षण परिणामी बहुज्ञान की समष्टि
है। नदी का प्रवाह देखते हो। प्रथम दृष्टि पड़ते ही प्रवाह
जो अंश देखा था, दूसरे क्षण वह अंश नहीं—बहुत दूर च
गया; इसी तरह तृतीय, चतुर्थ क्षण में तुम्हारा पूर्व देखा हु
प्रवाह का अंश नहीं है, प्रत्येक क्षण नये नये अंश आ
तुम्हारे नेत्रगोचर होते हैं किन्तु तुम एक ही जलप्रवाह दे
मानते हो। तेजी से घूमता हुआ आतशबाजी का चक्र
अलात चक्र (लकड़ी का एक सिरा जलाकर घुमाना) के
पर लगी हुई बिन्दुमात्र अग्नि तुम्हारी दृष्टि में स्थिर रेखा
आकार में प्रतीत होती है। परन्तु वास्तव में वह अग्नि रे
नहीं है, अतिद्रुत वेग से घूमती हुई अग्नि की चिनगारि
रेखा के आकार में प्रत्यक्ष होती है। देखो—तुम्हारे अणुपरि

मन को विक्षेप शक्तिरूप चिक्षुरासुर तोमरास्त्र के प्रभाव से कितना वैचित्र्यमय जगद्भोग कराता है। कोई भी किसी बोध को क्षण भर रोक नहीं सकता, अब समझ में आ गया? क्षण भर में चित्त क्षेत्र में हजारों वृत्तियां फूट सकती हैं, किसी एक को पृथक कर देखने का उपाय नहीं। अनेक भिन्न भिन्न ज्ञान समष्टिभूत होकर एक पदार्थ की भाँति जान पड़ते हैं। यही चिक्षुर द्वारा चलाये हुए तोमरास्त्र का प्रभाव है। कुछ धीर भाव से अन्तरराज्य में प्रवेश करने से ही मनुष्य यह अस्त्राघात लक्ष्य कर सकता है। सूक्ष्म विक्षेप और भी भयानक है, योग चक्षु बिना वह अनुभव में नहीं आता। यह तोमरास्त्र बड़ा भयानक है। उसकी चोट किस तरह और कहां होती है यह समझने का उपाय नहीं है। तो भी मर्म मर्म को वेध डालता है। पुत्र का हास्यमय मुख देखने से कितना आनन्द होता है! वह दर्शन कुछ क्षण परिणामी, देश परिणामी, परमाणु विषयक दर्शन वा प्रतीति की समष्टिमात्र है, यह समझने नहीं देता। यह मान लेते हैं कि पुत्र मुख रूप में एक वस्तु ही देखी है। इस तरह समष्टि भाव से सङ्कीर्ण भाव से पदार्थ को अनुभूत करने वाला अस्त्र ही तोमर है।

भिन्दिपाल—भेद ज्ञान को पालन व पोषण करने से इसका नाम भिन्दिपाल है। यह चामर (आवरण शक्ति) महासुर का अस्त्र है, आवरण शक्ति का स्वभाव ही विषय अर्थात् अनात्म वस्तु को परमात्मा से पृथक् भाव से अनुभव कराना है। मान लीजिये कि आपने गुरु और वेदान्त वाक्य में विश्वास के कारण सत्य प्रतिष्ठा की सहायता से जगत को ब्रह्मरूप समझ लिया, तो भी चामर असुर ने क्षणभर में भिन्दिपाल अस्त्र चला कर जगदाकार से आकारित कर दिया। आप जगत को ब्रह्म से बिलकुल पृथक भाव से अनुभव करने लगे, इस अस्त्र का कैसा बाधक प्रभाव है।

शक्ति—यह उदग्र (अहं कर्तृत्वाभिमान) असुर का
है। अभिमान अर्थात् जीव भावीय कर्तृत्व ज्ञान सर्वज्ञ
कार्यों में अपनी शक्ति का विकाश देखता है। यहां तक
संसार क्षेत्र में चलते चलते जीव जब विपन्न हो जाता
सब प्रकार का पुरुषार्थ प्रयोग निष्फल होता है. तब ए
ऊपर की ओर देख कर किसी अनजान शक्ति की सहा
चाहता अवश्य है. किन्तु कार्य्य सिद्धि के बाद ही इसको
शक्ति समझ लेता है। इस अस्त्र का प्रयोग कौशल ऐसा ही
शक्ति एकमात्र चैतन्य में ही अवस्थित है। इसके सिवाय
कहीं भी शक्ति रह ही नहीं सकती, यह न समझ कर
पदार्थों में शक्ति दर्शन ही उदग्र असुर के प्रयोग का फल है।

मुपल—मुप् धातु स्तेयार्थक है । "मुपंलाति इति मुपल:
स्तेय अर्थात् अपहरण भाव को अर्पण करने से इसका
मुपल है, यह महाहनु (पुरुपार्थ) नामक असुर का अस्त्र
बल वा सामर्थ्य केवल ईश्वर में ही है, पुष्टि एक मात्र महा
मा है, यह न समझ कर शारीरिक वा मानसिक बल
कार्य सिद्धि के उपायस्वरूप मान लेना, इस मुपलास्त्र
का प्रभाव है। ऐश्वरिक प्रभाव को छिपा कर जीव के पुरु
भाव का प्रगट करना ही इसका कार्य है।

खड्ग—द्विधाकारक अस्त्र । यह असिलोमा (द्वेष)
अस्त्र है असि, असिलोमा का अस्त्र होना ही चाहिये।
तुम वस्तुत: एक अभिन्न होने पर भी जिस बुद्धि के प्रभाव
तुमको परज्ञान कराता है यह उस असिलोमा के खड्गा
का ही फल है।

परशु—परान् शवति इति परशु: । शु धातुर्म्वादिग
गमनार्थक है।" गमेर्ज्ञानार्थकत्त्वं" पर या अन्य को
कराने से इसका नाम परशु है। यह वास्कल (भोगविला

असुर का अस्त्र है। आत्मा के सिवाय अनात्म नामक वस्तु की प्रतीति द्वारा ही भोगाभिलाप सिद्ध होती है। "यदासर्वमात्मैवाभूत तदा केन कं पश्येत्; केन कं जिघ्नेत्" जब सब ही आत्ममय हो गया, तब फिर दर्शन श्रवण कुछ भी नहीं रहा; अतएव भोग वा भोग्य किसका इसी से वास्कल असुर प्रतिक्षण परशु के आघात से पर प्रतीति उत्पन्न कराता रहता है।

पट्टिश—यह विडालाक्ष (दोप दृष्टि) का अस्त्र है। पट्टिश एक प्रकार का जृम्भक अस्त्र है इसके प्रयोग से लोक विकृत हो जाते हैं, अन्धकार देखते हैं, दोप दृष्टि से अज्ञान अन्धकार घन होता है। इसके सिवाय पारिवारिक असुर है. इसके विशेप किसी अस्त्र का नाम इस मन्त्र में उल्लिखित नहीं हुआ। अगले मन्त्र में पाश चलाने की कथा है। वह पाश परिवारित का अस्त्र है। परिवार प्रतिपालन के विपय को कर्तव्य जानने से ही पाश वा बन्धन दृढ़ होता है।

इस मन्त्र में फिर ऋपि कहते हैं "देव्या सह युयुधुः" असुरों ने देवी के साथ युद्ध किया था। हमारे साथ नहीं—मा के साथ। साधक जब सचमुच भगवच्चरण में आत्म समर्पण करके अपने को मा की गोद में स्थित सन्तान समझ सकते हैं; तब देखते हैं कि असुर मा के साथ ही युद्ध करते हैं, हम निमित्त मात्र साक्षी स्वरूप से अवस्थित हैं।

तोमर, भिन्दिपाल आदि स्वनाम प्रसिद्ध अस्त्रों का ऐसा आध्यात्मिक अर्थ देखकर, एक तरफ़ जैसे उनके सुने हुए अर्थ पर कोई सन्देह न करे, और दूसरी तरफ़ भी कपोल कल्पित समझ कर उक्त प्रकार अर्थ को आनर्थक्य न मान लें। शास्त्र के वाक्य मात्र का ही आत्माभिमुखी लक्ष्य है, यही सब दर्शन और महापुरुपों का सिद्धान्त है। जिस स्थल में सहज ही शास्त्रार्थ आत्म लक्ष्य पर उपस्थित होता है, उस स्थल में जिस

तरह कोई संशय वा वितर्क उपस्थित नहीं होता; उसी प्रकार जिस स्थल में कुछ कष्ट करके आत्माभिमुखी गति के अनुरूप अर्थ किया जाता है, ऐसे अर्थ पर भी संशय वा वितर्क उपस्थित न करके, साधकों को पूर्ण श्रद्धावान् होना ही परम आवश्यक है। सब शास्त्रों का प्रतिपाद्य विषय एक मात्र "मैं" ही है, "मैं" को पहचानने ही के लिये जगत् है यह बात चित्त में भली भांति दृढ़ भाव से अङ्कित रहनी चाहिये ॥ ४६ ॥

केचिच्च चिक्षिपुः शक्तीः केचित् पाशांस्तथापरे।
देवीं खड्ग प्रहारैस्तु ते तां हन्तुं प्रचक्रमुः ॥ ४७॥

अनुवाद। कुछ असुर शक्ति अस्त्र के प्रयोग से एवं अपर असुर खड्ग प्रहार से देवी की हत्या करने को तैयार हुए।

व्याख्या—बन्धन अर्थ बोधक पश् धातु से पाश शब्द बना है, यह रस्सी की भांति बांधने वाला अस्त्र विशेष, परिवारित नामक असुर का आयुध है। जब चारों ओर से कर्तव्य ज्ञान रूप बन्धन आकर जकड़ लेता है, तब साधक देखता है कि अब मातृशक्ति निर्जित हो जायगी। केवल कर्तव्य ज्ञान ही नहीं, अन्यान्य असुरों के चलाये शक्ति खड्ग आदि अस्त्र शस्त्र अबकी बार मा की हत्या कर डालें!

साधक! यह न समझें कि मातृ-चरण शरण ले लेने मात्र से ही तुम्हारी आसुरी वृत्तियां बिलकुल निर्मल हो जायगी। मा को कितना कष्ट करके इस दुरन्त असुर कुल का निधन साधन करना होता है; इस बात को केवल वही समझ सकते हैं कि जिन्होंने यथार्थ रूप से एक बार भी मा कहकर पुकारा है।

जीव! यह न समझना कि जो सर्वशक्तिमयी परमेश्वरी हैं उसे फिर असुर निधन के लिये कष्ट करने की क्या आवश्यकता है? स्मरण मात्र ही से तो अभीष्ट सिद्ध हो सकता है। अर्थ

उसकी अपनी तो कुछ इच्छा है ही नहीं, केवल तुम्हारी इच्छा के कारण ही उसको इच्छामयी होना पड़ता है। तुम्हारे संस्कारों से, तुम्हारी इच्छा से प्रेरित होकर ही तो उसको कार्य करना होता है। वह मा है! वह तुम्हारी प्रकृति है, तुम्हारे स्नेह से व्याकुल होकर अपने को भूल जाती है; इसी से उसे महती–आत्मप्रकृति के विकास का सुयोग नहीं होता। तुम ही ने उसको जो ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर की भी प्रसूति है छोटा कर रक्खा है; अपनी तरह चिर-मलिन सन्तान की शक्तिहीन मा बना रक्खा है; इसी से असुर समर में मा को असह्य क्लेश सहना पड़ता है। यदि सचमुच मा को शक्तिमयी समझकर विश्वास कर सकते, तो एक वार स्मरण मात्र से ही असुर कुल का चिह्न भी न रहता। जब मा की महती शक्ति की ओर देखो, तब ही यदि अपने हृदय में लक्ष्य करो, तो देखोगे कि वहां तुम्हारे हृदय में संशय की लहरें उठ रही हैं। "क्या सचमुच ही मा इस विपत्ति को दूर कर सकती हैं"? यह सन्देह रहने ही के कारण तुरन्त सफलता नहीं पाते। अरे! हम राज-राजेश्वरी के पुत्र की तरह ज़ोर से मा को मा कह कर नहीं पुकार सकते। क्यों नहीं पुकार सकते? पुकारने की इच्छा नहीं। लाखों वार कहते हैं कि पुकारने की इच्छा नहीं है, इसी से नहीं पुकार सकते। इच्छा न होने ही के कारण संशय है, विश्वास नहीं है। हम जैसा कुछ कुछ करके मा कहते हैं, मा भी वैसे ही थोड़ा थोड़ा करके अपना प्रकाश करती है, हमारे संशय के कारण ही तो मा पूर्ण रूप से आत्म प्रकाश नहीं कर सकती, और आत्म प्रकाश न करने ही के कारण उसे असुर युद्ध में घोर कठोर क्लेश सहना होता है। इसी से असुर हमारी मा के अङ्ग पर अस्त्र प्रहार करते हैं, मा के अङ्ग से रुधिर स्रोत प्रवाहित करते हैं, हमारी मा का कमनीय चिन्मयवपु मलिन करते हैं। और

हम कैसे अकृतज्ञ अधम सन्तान हैं। मा, मा, मा ! हमतो तुम्हें
क्षमा मांगने योग्य भी नहीं हैं ॥ ४७ ॥

सापि देवी ततस्तानि शस्त्राण्यस्त्राणि चण्डिका।
लीलयैव प्रचिच्छेद निजशस्त्रास्त्र वर्षिणी ॥ ४८॥

अनुवाद। चण्डिका देवी भी तब अपने अस्त्र-शस्त्र द्वारा
कर असुरों के चलाये हुए अस्त्रों को अनायास छिन्न-भिन्न
करने लगीं।

व्याख्या। तोमर, भिन्दिपाल आदि जो असुरों के अस्त्र हैं,
वे ही अस्त्र मा के भी हैं। इससे पहले ही देवताओं ने अपने
अपने अस्त्रादि द्वारा देवी की पूजा की थी। मा का अपना
कहने को कुछ नहीं है, सब ही सन्तानों को दे डाला है, अपनापन
तक दे चुकी है। हमारी मा ऐसी पुत्र स्नेह विमूढ़ा है। अतः
उसने अपना कहने को कुछ रक्खा ही नहीं, सर्वस्व अर्पण
करके आप नग्न रह गई है। शून्य ही जिसका रूप, पूर्ण
ही जिसका धर्म्म, प्रकाश ही जिसकी ज्योति है, वही हमारी
मा—तुम्हारे ही लिये और किसी के लिये नहीं, केवल तुम्हारे
लिये तुम्हारी प्रकृति रूप से अवस्थान करके तुम्हें जगद्
करोती है। फिर दैवी प्रकृति रूप से असुरों के साथ युद्ध करती
है। एकबार देखिये तो इसमें क्या हानि है ?

पूर्व कहा है प्रकृति का दो प्रकार का परिणाम होता है,
एक बहिर्मुख वा अनुलोम, दूसरा आत्माभिमुख वा विलोम।
एक तरफ जैसे असुर-शक्ति है, दूसरी तरफ वैसे ही देव-शक्ति
है, अतएव दोनों पक्ष में अस्त्रादि तुल्य हैं। जब तक
शक्ति अंश (अस्त्र-शस्त्रों) पर ये "हमारे हैं" यह अभिमान
था, तब तक देवता युद्ध में पराजित हुए थे। किन्तु
उन्होंने समस्त शक्ति मातृ चरणों में अर्पण की है; अतः

मा के पास अपना कुछ न रहने पर भी अब उसने अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित रण-रङ्गिनी-मूर्ति से अपना प्रकाश किया है।

इसी तरह साधक के संस्कार के अनुसार मातृ-मूर्ति गठित होती है। मा की अपनी कोई विशिष्ट मूर्ति नहीं है। सन्तान उसे जिस मूर्ति से सजावे, जिस मूर्ति से दर्शन करने की इच्छा करे, स्नेह विह्वला मा उसी मूर्ति से प्रकटित होती है। इसी को कहते हैं—"साधकानां हितार्थाय ब्रह्मणो रूप कल्पना।" याद रखिये—यह कल्पना साधक की नहीं है ब्रह्म की है। "ब्रह्मणः" इस पद में कर्तरिषष्ठी विभक्ति का प्रयोग हुआ है। देखो सन्तान! देखो पुत्र! देखो—तुम्हारे ही लिये मा आज निज शस्त्रास्त्र वर्षिणी, सर्वायुधमण्डिता-महिष-मर्दिनी मूर्ति से प्रकट हुई है। यदि पुत्र हो, यदि यथार्थ ही मा को समझते हो, तो तुम्हारा हृदय काँपने लगेगा, आँखों से आँसू बहने लगेंगे, अपनी अकृतज्ञता (ना शुकरेपन) से धरती में समा जाने की इच्छा होगी। फिर कहोगे मा! मा! हम चाहे सदा असुरों से सताये जायें, अन्त काल नरक में पड़ें—यह भी अच्छा, परन्तु तुम अरूपा, अमेया, नित्य-शान्तिमयी मा होकर हमारे लिये इस अशान्त असुर समर में अवतीर्ण मत हो। हमारे ही कारण तुमको इस क्षुद्रता-परिच्छिन्नता का साज लेना होता है। अजी! तुम में तो कर्तृत्व, भोक्तृत्व, रूप-विशिष्टता नहीं है। तुम शुद्ध, निर्लेप, निष्कल हो, तथापि तुम केवल हमारे ही लिये भावमयी मूर्ति से प्रकटित होने को बाध्य हुई हो। मा! तुम्हारे हृदय में इतना स्नेह। ओ, मा!

अनायस्ताननना देवी स्तूयमाना सुरर्षिभिः।
मुमोचासुर देहेषु शस्त्राण्यस्त्राणिचेश्वरी ॥ ४६ ॥

अनुवाद। अक्लिष्टमुखी, अविकृत-मुखी देवी, देवता और

ऋषियों द्वारा स्तूयमाना होकर ईश्वरी (महती ऐश्वर्यशालि मूर्ति से, प्रकट होकर असुरों पर अनेक प्रकार के अस्त्र-श चलाने लगीं।

व्याख्या—मा अविकृत-मुखी है। सदा असुरों के तीक्ष्ण बाणों से घायल होकर घोर संग्राम में असह्य क्लेश होने पर भी मा सुप्रसन्न हैं, मुख पर किसी तरह क्लेश का चिह्न नहीं है। होठों की लालामी में सदा मुसकान है। साधक जिस दिन तुमने अपनी प्रकृति को मा! कह कर पुकारा है समझा है, उसी दिन से मा महादेवी मूर्ति से प्रकाशित होकर, महा-असुरी मूर्ति के विरुद्ध समर का उद्यम करती है (यहां एक बार प्रथम खण्ड की महादेवी, महासुरी इत्यादि ५५ वें श्लोक की व्याख्या याद कीजिये)। इतने दिन में आज मा को पहचाना है; इसी से देखते हो मा सदा प्रसन्न मुख है, कारण कि "स्तूयमाना सुरर्षिभिः।" देवता और ऋषि मा की स्तुति मङ्गल-गान करते हैं—मातृ-महत्त्व सूचक गान पढ़ते हैं, इसी कारण मा समर क्लेश के समय भी प्रसन्न वदन है। क्या देखते नहीं? देखो जब तुम्हारे अन्तर, बाहि दुर्दमनीय आसुरिक वृत्तियों का अत्याचार प्रारम्भ होता है तब ही तुम्हारी दैवी प्रकृति को क्षत विक्षत होना पड़ता है फिर उसी समय तुम्हारे ही अन्तरस्थित देवता, तुम्हारे वागादि इन्द्रियों में विराजमान देवता उच्च स्वर से मा! मा! कह कर पुकारने लगते हैं; स्तुति पाठ, मातृ-महत्त्व-कीर्तन करते हैं, इस तरह महादेवी मूर्ति के स्मरण से महासुरी द्वारा पीड़ित मातृ-मूर्ति में प्रफुल्लता प्रकट होने लगती है। तब निराशा और दुर्बलता दूर होकर, आशा और उत्साह से हृदय भर जाता है। आसुरी प्रकृति का अत्याचार शान्त हो जाता है। ऐसी घटनायें प्रायः प्रतिदिन ही साधकों के हृदय में होती रहती हैं।

ऊँचे स्वर से पाठ करने का विषय पूर्व भी कहा गया है। पुनरुक्ति होने पर भी फिर कुछ कहे बिना रहा नहीं जाता, वेद, उपनिषद्, तन्त्र-पुराण आदि सब धर्म्मशास्त्रों में देखोगे कि स्तव-स्तुति ही प्रधान उपासना रूप से वर्णित हुए हैं। शास्त्र के जिन स्थानों में पूजा, होम, श्राद्ध, तर्पणादि का उल्लेख है, वह भी प्रकार भेद से स्तव-स्तुति पूर्वक द्रव्यादि अर्पण मात्र है। यह स्तुति वस्तु क्या है? "देवानां स्वरूप कीर्तनं स्तुतिः।" देवता का स्वरूप कीर्तन करने का नाम ही स्तुति है। यह स्वरूप कीर्तन कितनी शीघ्र फलदायक उपासना है, जिसको वाणी से कह कर पार नहीं पा सकते। एक साथ ज्ञान-भक्ति और कर्म्म का तीव्र अभ्यास, केवल पाठ से ही होता है। अन्य प्रकार की साधना का फल समय पर होता है, किन्तु इस बहिरङ्ग साधन (स्तुति) का फल पाठ के समय ही प्राप्त होजाता है। गौराङ्ग देव ने यह स्तुति वस्तु मृदङ्ग करतालादि बाजों की सहायता से, सुर, तान योग से और भी मधुर और प्रसारित कर के, अनपढ़े स्थूल बुद्धि मनुष्यों को भी भगवन्मुखी गति का मार्ग सुलभ कर दिया। वस्तुतः उपनिषदादि उच्चतम शास्त्रों में भी स्तुति को ही साधना का सर्वप्रधान आधार रूप माना है। आर्य युग में ऋक् मन्त्र से, सामगान से, यजुर्मन्त्र से परमेश्वर की उपासना होती थी। भगवद्गीता में अर्जुन ने विश्वरूप दर्शन से स्तुति की थी। रावण, कुम्भकर्ण, कंस आदि द्वारा सताये हुए देवताओं ने क्षीरसागर तट पर विष्णु की स्तुति की थी। चण्डी में भी असुरों से पीड़ित देवताओं के किये मातृस्तोत्र से दिङ्मण्डल घोषित हो गया था। श्रीमद्भागवत में ऐसे अध्याय बहुत कम हैं कि जिनमें दो एक स्तोत्र का उल्लेख न हो। इस तरह ऋषि-युग से लेकर वर्तमान काल तक की साधना पर लक्ष्य करने से भलीभांति प्रतीति होती है कि देश काल, और पात्र के साथ ही साथ

साधना की प्रणाली बहुधा बदल जाने पर भी स्तुति वस्तु
ज्यों की त्यों बनी हुई है।

स्तुति दो प्रकार की होती है। एक आर्त की स्तुति
दूसरी कृतज्ञता की स्तुति। एक विपद में पड़ने पर और
अभीष्ट सिद्धि के बाद। इस दो प्रकार की स्तुति द्वारा
सब धर्म-शास्त्रों का ही आधा भाग भरा हुआ है। स्तुति
अपूर्व शक्ति को मन्त्र चैतन्य कर लेने वाले साधक एक
परीक्षा करने से समझ सकेंगे। (मन्त्र चैतन्य की व्याख्
प्रथम खण्ड में हो चुकी है)। जबतक मन्त्र चैतन्ययुक्त (रस
भाव समन्वित) न हो, तब तक स्तोत्रादि पाठ का फल
सामान्य होता है। तब तक उसका प्रत्यक्ष फल अनुभव में
आता। विक्षिप्त चित्त साधकों के पक्ष में अनर्थक ध्यान
स्वांग की अपेक्षा स्तोत्र पाठ बहुत उत्तम साधना है, क्यों
ध्यान, करने से नहीं होता, वह अपने आप आता है, अ
पदार्थ का ध्यान होता ही नहीं। जब मा आती है जब
प्रत्यक्ष योग होती है तब ही साधक तन्मय होकर मुग्धनेत्र
परम प्रेम में विह्वल हो जाते हैं, इसी का नाम ध्यान है। अनेक
स्तोत्रपाठ को बहिरङ्ग साधना समझकर त्याज्य समझते
परन्तु जिनकी सदा ध्यानावस्था रहती है जिनका एकाग्र
निरोध हो गया है, केवल वे ही यह बात कह सकते हैं, वर्तम
युग में महापुरुष आचार्यशङ्कर और महाप्रभु गौराङ्गदेव ने
चाहे इच्छापूर्वक हो, चाहे लोक-हित के लिये हो, विक्षिप्त
का ही आदर्श लिया था, नहीं तो अनेक शास्त्र ग्रन्थ रच
दिग्विजय, धर्म्मप्रचार, मठ-प्रतिष्ठा आदि कार्य न करते।
ध्यान का स्वांग करने की अपेक्षा स्तोत्रपाठ शीघ्र फलदायक
यह अनेक स्थानों पर परीक्षा करके भी देखा है। स्तोत्र
जितना शीघ्र ध्यानावस्था में लाता है; ध्यान का स्वांग

शीघ्र नहीं लाता। वेदान्त शास्त्र में जिसको मनन कहते हैं, योग शास्त्र में जिसको धारणा कहते हैं, स्तोत्रपाठ उन्हीं के अन्तर्गत है। ध्यान का विषय आगे कहने का विचार है।

स्तोत्र पाठ की दो प्रणाली हैं—(१) अकेले बैठकर (२) समभाव वाले मिलकर एक साथ। गौराङ्गदेव ने यह दूसरे प्रकार का अभ्यास अधिक किया था। अकेले निर्जन स्थान में बैठकर चित्तवृत्ति को अधिक देर तक भगवन्मुखी कर रख सकते हों. ऐसे साधक दुर्लभ हैं। जो यह समझते हैं कि निर्जन में जाने से ही साधना बहुत अच्छी होती है, वे यदि अपनी आप परीक्षा कर देखें तो देख सकेंगे कि अकेले बैठकर चित्तवृत्ति को भगवन्मुखी करने पर अन्तर्राज्य में बहुत कोलाहल उपस्थित होता है। घर के किवाड़ बन्द कर देने से ही दिल के कपाट बन्द नहीं हो सकते। वहां लगातार अनेक प्रकार की विषय चिन्ता में आकर भगवत् चिन्ता में व्याघात पैदा करती हैं। थोड़ा लक्ष्य करने पर देखोगे कि बाहर की निर्जनता हमें निर्जन या अकेला नहीं कर सकती, बल्कि उसकी अपेक्षा समभाव वाले कुछ लोग सङ्घबद्ध होकर मन्त्र चैतन्य पूर्वक स्तोत्रादि पाठ करें तो चित्त-क्षेत्र में निर्जनता का आस्वाद पाया जाता है, और अन्ततः कुछ देर के लिये बाहर की चिन्ताओं से भी मुक्त हुआ जाता है। विरुद्ध भाव वाले लोगों के साथ उपासना करने से अनेक प्रकार के विघ्न उपस्थित होते हैं, इस कारण ऐसे लोगों के साथ से तो निर्जन स्थान में रहना ही श्रेयः है इसमें संशय नहीं; किन्तु प्रथम ही बिलकुल एकाकी न होकर समभाव वाले कुछ साधक एकत्र होकर उपासना करें तो यथार्थ निर्जनता का उपकार समझा जाता है। सङ्घबद्ध उपासना में जो दोष और विघ्न हैं उनसे जिसको मन्त्र चैतन्य हो गया है उसे कुछ भी हानि नहीं पहुंचा सकती। ... उपासना के फल

से, गुरु कृपा से थोड़े ही समय में बुद्धि सत्य थोड़ा बहुत नि
हो जाता है और साथ ही साथ प्रत्यक् चैतन्य (त्वं पद) का
सन्धान पाया जाता है। तब साधक साधना का लक्ष्य मा
पाकर अकेला उपासना कर सकता है; अथवा तब सा
इतनी सहज और स्वाभाविक हो जाती है कि उसके
हारिक दैनिक नित्यकर्म्म भी साधनामय होते हैं। अतएव
अवस्था में अकेले और सङ्घबद्ध दोनों ही प्रायः तुल्य हो जाते
'मन्त्र चैतन्य प्रथम खण्ड ३१ श्लोक की व्याख्या में देखिये,
सृष्टि के प्रारम्भ से देवता, ऋषि, महापुरुष एवं आचार्य
निर्विचार जो करते आये हैं; उसमें किसी प्रकार तर्क वा
उठाना ही अन्याय है और यद्यपि बाहर से देखा जाय
भगवान् की स्तुति पाठ किया जाता है; तथापि चतुर
व्यक्ति देख सकते हैं कि अन्तर्राज्य में साधक ही भगवान्
होजाता है। मान लो कि तुम कहते हो—हे दयामय! हे शा
मय! हे मङ्गलमय! यदि ये शब्द यथार्थ भाव सहित अर्थ
कर के, सत्य समझ कर कह सको तो तत्काल तुम स्वयं ही
शान्ति और मङ्गल प्राप्त करो, और तुम्हारे चित्त में ये देवी
तुरन्त ही प्रगट होने लगें।

एक आदमी गङ्गाजल को देख कर कहता है "छिः!
कितना गदला जल है, क्या इसी में स्नान करते हो?"
दूसरा कहता है 'पतित-पावनि, पाप-हारिणि, सुखदायिनि
मा!" यह कह कर आनन्दपूर्वक अवगाहन स्नान करते
हैं। अब विचार देखिये कि उस समय इन दोनों में कि
लाभ हुआ? एक कहता है कि अमुकजन बड़ा अहङ्कारी
धरा को सकोरा जानता है"। दूसरा कहता है। तब तो
परोपकारी है, क्योंकि दूसरे को दुःखी देखकर सरल प्राण
उपकार करता है।" अब विचार देखिये कि इन दोनों

किसको अधिक लाभ हुआ ? पूर्व कहा है कि तुम्हारा मन ही जगत् आकार से आकारित है। तुम जैसी भावना करोगे, वैसा ही फल पाओगे।" मन्त्रे तीर्थे द्विजे देवे दैवज्ञे भेषजे गुरौ। यादृशीभावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।" यह प्रवचन बड़ा सुन्दर और सत्य है। इससे अधिक श्रेष्ठ लाभ मनुष्य को क्या हो सकता है ?

और एक दल है, वह कहता है कि भगवान् मन वाणी के अगोचर हैं तब उसकी स्तुति क्या करें ? और प्रमाण में व्यासजी का यह वचन कहते हैं:—

"रूपं रूप वर्वर्जितस्यभवतो ध्यानेषु यत्कल्पितं,
स्तुत्यानिर्वचनीयताखिल गुरोर्दूरी कृत यन्मया।
व्यापित्वञ्च निराकृतः भगवतो यत्तीर्थयात्रादिना,
क्षन्तव्य जगदीश ! तद्विकलता दोषत्रयं मत्कृतम्।"

कि अनिर्वचनीय वस्तु की स्तुति क्या ? बात तो ठीक है, परन्तु बाबा ! क्या तुमने वह अनिर्वचनीय वस्तु अनुभव की है ? यदि की है ;तब तो यह बात कह नहीं सकते, क्योंकि अनिर्वचनीय स्वरूप से व्युत्थित होकर, तुमभी उसे वचनीय करलो। और यदि अनुभव नहीं किया है, तब तो तुम्हें इस वचनीय स्वरूप के सहारे से ही अनिर्वचनीय स्वरूप में जाना ही होगा, अतएव, दोनों पक्ष में ही तुम स्तोत्र पाठ स्वीकार करते हो। भगवान् ने स्वयं कहा है "मच्चित्ता मद्गत प्राणा बोधयंतः परस्परम्। कथयंतश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।" (गीता १०। ६) भगवत्कथा की परस्पर आलोचना करके साधक तुष्टि और प्रीति पाते हैं।

आगे चल कर ऐसा भले ही हो। पहले वाक्य और मन से उसे पाओ, फिर पीछे वाक्य और मन के अतीत

रूप से पाओगे । पहले नाम में रुचि होकर पीछे स्व
में प्रीति होगी । नहीं, नहीं, यह कभी हो नहीं स
जब तक स्वरूप में रुचि न हो तब तक नाम में रुचि
नहीं सकती; इसी से सुना जाता है कि महाप्रभु ने
गोस्वामी को सिद्धि प्राप्ति की चरम अवस्था में "नाम में
होने का आशीर्वाद दिया था । दिन रात नाम जप, नाम
आदि नाम में रुचि का यथार्थ लक्षण नहीं है । वह
अभ्यास का फल मात्र है । रुचि जब नाम में होगी तब
से अरुचि अवश्य ही होने लगेगी । मुख से नाम जप
करते यदि कभी ऐसा दिन आवे कि विषय से अरुचि,
कहने को नहीं बल्कि दिल से हो जाय, तब समझो कि
रुचि आई है । परमहंस देव कहते थे कि "ईश्वरीय ज्यों
होने के बाद भगवत्कथा में रुचि होती है और काम
से अरुचि होती है" । परन्तु वह दूसरी बात है:—

अस्तु, मा ! "अनायस्तानना" अक्लिष्टमुखं,
उत्फुल्ल, सदाहास्यमयी है, यह बात स्तव-स्तुति द्वा
विशेष भाव से अनुभव की जाती है, इसी कारण
कहा गया है "स्तूयमाना सुरर्षिभिः ।" इस रूप में मा
वदन से असुर देह पर अस्त्र शस्त्र निक्षेप करने लगी।
चासुरदेहेषु शस्त्राण्यस्त्राणिचेश्वरी" । मा ईश्वरी
प्रकटित होकर असुर शक्ति संहरण करने को उद्य
स्तूयमाना होने से ही मा की ईश्वरी—सर्वभावाधिष्ठा
प्रकाशित हुई । खुलासा कहते हैं—साधक ! अपनी आ
अन्तरस्थित मातृ-मूर्ति को स्तव-स्तुति द्वारा,
ईश्वरत्व की महिमा द्वारा मण्डित कर रक्खो, कभी दीन
दुर्बल कर मत रक्खो ।" उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमव
(६ । ५) भगवद्गीता के इस महावाक्य की का

अवस्था यदि अनुभव करना चाहो तो सदा मा को ईश्वरीमूर्ति से देखो। यह एक दिन में नहीं होता, बार बार ईश्वर की महिमा युक्त वाक्यों के उच्चारण, अर्थात् स्तव-स्तुति द्वारा ही सहजसाध्य होता है। मा में जितना ईश्वरी रूप से विश्वास कर सकोगे, उतना ही सहज में असुर शक्ति विलय होती रहेगी, और साथ ही साथ तुम्हारी इच्छाओं के नष्ट होने से अनैश्वर्य वा जीवत्व दूर होता रहेगा।

ईश्वरत्व क्या है ? किसी इच्छा का नाश न होना वा पूरा होना ही ऐश्वर्य वा ईश्वरत्व है; और इच्छा की अपूर्णता ही अनैश्वर्य वा जीवत्त्व है। ईश्वरी मूर्ति के दर्शन बिना जीवत्त्व के हाथ से परित्राण नहीं पाया जाता। इस कारण प्रत्येक जीव को ही सदा अपनी प्रकृति का ईश्वरी मूर्ति से अनुभव करने की चेष्टा करना उचित है। स्तव-स्तुति ही उसका सहज और निश्चित उपाय है। और "मैं अच्छा होऊं, सुख से रहूँ, असत् प्रवृत्तियां दूर करूँ, संसार में आसक्त न होऊं, भगवान् में विश्वास करूं, भक्ति करूँ" इत्यादि इच्छायें हमारे मन में अनेक बार जागती हैं, परन्तु वे पूर्ण क्यों नहीं होतीं ? इच्छायें क्यों मारी जाती हैं ? इसका कारण यह है कि हम मा को ईश्वरी रूप से नहीं पुकारते, पुकारने पर भी विश्वास नहीं करते कि मा ईश्वरी है ! उसमें किसी इच्छा का अभिघात नहीं है ! हमारे प्राण इस बात को नहीं मानना चाहते। इसी से अनैश्वर्य (दारिद्र्य) दूर नहीं होता ॥ ४९॥

सोऽपिक्रुद्धो धुत शटो देव्या वाहन केशरी।
चचाराऽसुर सैन्येपु बनेष्विव हुताशनः ॥ ५० ॥

अनुवाद। देवी का वाहन वह केशरी भी क्रुद्ध होकर केशर (गर्दन के बाल फड़फड़ा कर) कम्पित करके दावानल की भाँति, असुर सेना में विचरने लगा।

व्याख्या। मा ईश्वरी मूर्ति से समर के लिये तैय्यार है अतएव उसका वाहन भी असुर भाव को हनन करना चाहता है। पूर्व कहा गया है कि जीव जब सिंह भाव को प्राप्त होता है, अर्थात् अपने जीव भाव के ऊपर हिंसा भाव पोषण करता है, तब ही मा असुर-मर्दिनी मूर्ति से उस पर सवार होती है। अथवा मा जब असुर संहारिणी मूर्ति से अपना प्रकाश करती है तब जीव फिर सिंह धर्मी हुए बिना रह नहीं सकता। आज मा स्वयं समर के लिये तैय्यार है, इसी से सन्तान भी सिंह धर्म्मी—असुरों का दलन करने को बिलकुल तैयार है।

साधक! जब देखो कि मा बलपूर्वक जगत् के सब कार्यों से खींच कर कभी कभी तुम्हें साधना में लगाती है, मानो किसी अज्ञात शक्ति द्वारा प्रेरित होकर, हठात् साधनोपयोगि—दो चार कर्म्म कर डालते हो, तब ही समझलो कि मा का आकर्षण आया है, मा रण क्षेत्र में अवतीर्ण हुई है। उस समय तुम भी मा की इच्छा के अनुकूल यथाशक्ति पुरुपार्थ का प्रयोग करो, अपने जीव भाव को समूल मिटा देने की दृढ़ इच्छा करोगे, तब ही तुम में सिंह-धर्म्म आविर्भूत होगा। मा तुम्हारे अङ्ग पर श्री चरण स्थापन कर तुमको धन्य कर देगी।

जो यह कहते हैं कि "मा जिस दिन आवेगी, उसी दिन हम सिंह-धर्मी होंगे, मा जिस दिन साधना करावेगी, उसी दिन हम साधना करेंगे;" समझलो कि अभी तक उनकी दुर्बलता दूर नहीं हुई। ऐसा भाव बिलकुल निन्दित है। जगत् के सब कार्य करते समय तो "मैं कर्ता हूँ" "मेरा अध्यवसाय है" ऐसा भाव अच्छा लगता है; और केवल मा का स्मरण करते समय ही मा पर निर्भरता! यह मानना अपने आत्मा को धोखा देना है। अत्यन्त दुर्बल चित्त मनुष्य ही ऐसे सान्त्वना वाक्यों से मन को समझा कर भेड़—चाल चलते रहते हैं। याद रखिये कि

दुर्बल (तप हीन) को आत्म-प्राप्ति बिलकुल असम्भव है। "नायमात्मा बलहीनेनलभ्यः"(मुण्डक ३।२।४) जगत् के सब कार्यों के प्रारम्भ में ही ईश्वर कर्तृत्व दर्शन करते हैं, परन्तु साधना रूप कार्य्य के अन्त में, ईश्वर कर्तृत्व देखते हैं। जगत के सब कार्यों में कुछ न कुछ निष्फलता है, परन्तु साधन कार्य्य की एक गम्भीर निःश्वास में भी सफलता भरी हुई है ! "मैं साधन करूँगा," ऐसा उत्तम सङ्कल्प भी निष्फल नहीं होता। इसी से कहते हैं जीव ! तुम सिंह-धर्मा बनो, मा तुम पर अवश्य ही अधिष्ठित होंगी। तुम "वनेषु हुताशन इव" असुर सेना में विचरते रहो।

इस मन्त्र में कहा हुआ दृष्टान्त बड़ा सुन्दर है। वन में सूखे काष्ठ (बांस) आपस में रगड़ने से अग्नि उत्पन्न होती है और क्रम से सारे वन को भस्म कर देती है। वन ही वन को भस्म करता है। तुम भी अपने आप की हिंसा करते रहो। तुम्हारा यह जीव भाव, यह असुर भाव, यह देहात्म-बुद्धिरूप अहङ्कार है, इनकी हिंसा आप ही करने लगो। यही तुम्हारा कार्य है। यही तुम्हारा स्वधर्म्म है। गीता में जिसको स्वधर्म्म कहा गया है, देवी माहात्म्य में उसी को देवी के वाहन सिंह रूप कहा गया है। यह तत्त्व साधकों को अत्यन्त उपादेय है ॥ ५० ॥

निःश्वासान् मुमुचे यांश्च युध्यमाना रणेऽम्बिका ।
त एव सद्यः सम्भूतागणाः शतसहस्रशः ॥ ५१ ॥

अनुवाद ! अम्बिका ने युद्ध करते करते जो निःश्वास छोड़े थे, वे निश्वास ही तुरन्त सत शहस्रगण (असुरों के नाश करने वाले गण नामक सैन्य दल) रूप से उत्पन्न हुए थे ॥ ५१ ॥

व्याख्या। मा स्वयं रणक्षेत्र में अवतीर्ण है। यह आत्म-समर्पण करने वाले साधक को ही अनुभव होता है। पूर्व भी

अनेक वार यह बात कह चुके हैं। मातृ-निःश्वास उस आत्म समर्पण का चरम लक्षण है। साधक जब प्रत्येक कर्म्म में मातृ प्रेरणा-मात्र देखने लगते हैं तब धीरे धीरे यह अम्बिका निःश्वास रहस्य भेद कर सकते हैं। निःश्वास पर्य्यन्त हमारे नहीं हैं, मा के हैं। मा हमारे हृदय में प्राण रूप से विराज रही हैं; उसी का बाहरी लक्षण श्वास प्रश्वास रूप प्राणन क्रिया है। निश्वास समझ कर सामान्य वायु प्रवाह समझ कर हम जिसकी उपेक्षा करते हैं, ये वही मातृ-निःश्वास हैं! अजी मा को तलाश करने के लिये कहां भागते फिरते हो? विचार देखो, तुम्हारी नाक से जो श्वास आता जाता है, वह मा की सत्ता ही तो है, वह मा है, उसे पकड़ो तो सही! उसकी गति पर लक्ष्य कर मा! मा! कह कर पुकारो, तो तुमको मा का पता लग जायगा, मा पकड़ाई देगी। बिना वायु रोकने के कुम्भक हो जायगा, चित्त की चञ्चलता दूर हो जायगी; सच्ची स्थिरता और आनन्द का आस्वाद पाकर जीवन धन्य हो जायगा। परन्तु यह अभ्यास साध्य है।

साधारणतः निःश्वास ही चित्तविक्षेप का बाहिरी लक्षण है, श्वास की गति देखने से विक्षिप्त चित्त पहचाना जा सकता है। इसी से बहुत से योगी बहिः प्राणायाम की सहायता से विक्षेप दूर करने की चेष्टा करते हैं। पूरक, रेचक और कुम्भक का अभ्यास करके श्वास की गति संयत करते हैं। चित्त को स्थिर करने के ये सब अति स्थूल उपाय हैं। इनके द्वारा चित्त स्थिर हो सकता है किन्तु आत्म लाभ नहीं होता। कारण कि बहुत दिन तक ऐसे अभ्यास के फल से चित का प्रशान्त भाव केवल योगियों को ही लक्ष्य पड़ता है। यद्यपि प्रशान्त चित्त होना आत्म लाभ का बाहिरी लक्षण है—तथापि याद रखिये प्रशान्त चित्त होने से ही आत्म प्राप्ति नहीं होती। जो आत्मा को वरण करना चाहते हैं केवल वे ही उसे ... हैं ... इसी से श्रुति

कहा है—"यमेवैष वृणुते तेनैव लभ्यः।" (कठ १।२।२३) गीता में भी कहा है—"तत्स्वयं योग संसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति" (४।३८) जो जिसे चाहता है वही उसे पाता है। "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।" (गी० ४।११) तुम चित्त में स्थिरता चाहते हो—वही पाओगे। मा कल्पतरु है, मा को पा लेने से, चित्त अपने आप शान्त हो जाता है, यह न समझ कर, कौशल की सहायता से, श्वास रोकने से न कभी अज्ञान दूर होता है और न अमृत का पता मिलता है; बल्कि जिन्हें बालकपन से ब्रह्मचर्य का अभ्यास नहीं है, ऐसे गृहस्थों के पक्ष में, उक्तरूप हठ प्राणायाम करने से प्रायः यक्ष्मा आदि असाध्य रोग होने का भय रहता है, किसी किसी को ऐसा देखा भी गया है।

अस्तु। निःश्वासों को अम्बिका (मा) के निःश्वास रूप समझ सकने पर वे गणसैन्य रूप में असुर निधन के उद्देश्य से मा की सहायता करने को खड़े होते हैं। निःश्वास मा के हैं, यह समझने का उपाय क्या है? यदि निःश्वास मा के होंगे तो उसमें कुछ न कुछ मातृ-चिह्न अवश्य ही रहेंगे। वह चिह्न-मातृ नाम, प्रणवादि मन्त्र हैं। श्वास प्रश्वास द्वारा जप का जिसको अभ्यास हो गया है, उनका वह जप ही आसुरी वृत्तियों के दमन के लिये विशेष सहायक है। जब यह देख सको कि तुम्हारे निःश्वास मात्र नाम सहित आते हैं, तब ही समझ में आवेगा कि अम्बिका के निःश्वास किस तरह गणसैन्य होकर असुरों को मारते हैं? अगले मंत्र में यह और भी स्पष्ट किया जायगा।

और एक बात है—निःश्वास को मातृ निःश्वास अनुभव करना ही यथार्थ आत्म-समर्पण है। हमारा कहने को अब कुछ नहीं है, श्वास भी तो मा तुम्हारे ही हैं, अजी हमारा 'मैं' भी तो

तुम ही हो, इसमें मैं—रूप से तुम ही तो नित्य विराजमान हो, मैं-रूपी तुम्हारे ही निःश्वास नासिका द्वारा प्रवाहित हो रहे हैं। हे हमारे मैं! हे हमारी मैं! ओः क्या आनन्द है। कैसा सत्य है! कैसा अमृत है। अजी अमृत के पुत्रो! कभी एक बार यह सत्य अनुभव तो करो। अपने पैर के नख से चोटी तक कैसे सुखमय, अमृतमय, मधुमय स्पर्श से सञ्जीवित पुलकित होने लगते हो! उस आनन्द के रखने को स्थान नहीं है। इतना महान् और सघन है, कभी अनुभव कर देखो तो - तुम्हारा मैं ही मा है, तुम्हारे निःश्वास अपने नहीं हैं, तुम्हारे ही अन्तः स्थित मा के हैं, देखो अहंता न जाने कहां भाग गई। जिस अहंकार को लय करने के लिये, तपस्वी अनेक जन्मों से प्राणों की बाजी लगा कर कठोर तपस्या करते हैं; उस अहंता को कितना सहज में लय होगया! जो गूढ़ रहस्य मा ने आज निष्कपट होकर चक्षु के आंसुओं के साथ बड़े आदर की सन्तानों के सामने रक्खा है—वह कहीं आदर-रहित उपेक्षा पूर्ण कहानियों की तरह हाट बाट में न बिकता फिरे। देखना, ऐसा करके कोई मा के प्राणों को व्यथा न पहुंचाना ॥ ५१ ॥

> युयुधुस्ते परशुभिर्भिन्दिपालासिपट्टिशैः ।
> नाशयन्तोऽसुरगणान् देवीशक्त्युपबृंहिताः ॥५२॥

अनुवाद—वे निःश्वास (गण नामक सैन्य दल) देवी की शक्ति से अति पराक्रमी होकर, परशु, भिन्दिपाल, तलवार और पट्टिश द्वारा असुरों का विनाश करते हुए युद्ध करने लगे।

व्याख्या—जब तक निःश्वासों में अपने होने का अभिमान रहता है तब तक वे निर्वीर्य रहते हैं बल्कि पल-पल में मृत्यु के कराल ग्रास में पहुंचाने की चेष्टा करते रहते हैं। (जितने श्वास

कम होते जाते हैं उतना ही देहान्त का समय समीप आता जाता है) और जब यह प्रतीति हो जाती है कि ये निःश्वास मा के हैं, तब वे "देवी शक्त्युपबृंहिताः" मातृ-शक्ति से शक्तिमान् होकर अमित पराक्रम से असुरों की सेना का नाश करके, अमरता की तलाश में दौड़ते हैं। यह केवल कथन मात्र नहीं है—बल्कि सचमुच मा के निःश्वास हैं; यह दृढ़ विश्वास हो जाने से, आसुरी वृत्तियों का दमन और मृत्युभय तिरोहित हो जाता है। यह अनेक बार परीक्षित और ध्रुव सत्य है। अस्तु, मा के निःश्वास समझने का उपाय पूर्व ही कहा हुआ— जप है। मृत जप नहीं; चैतन्यमय जप; चैतन्य युक्त मन्त्र जप। यह जप अपने आप होता है, करना नहीं होता है। जैसा श्वास-प्रश्वास लेने में कुछ चेष्टा नहीं करनी होती, यह भी उसी तरह बिना चेष्टा के सिद्ध होता है। परन्तु एक दिन में नहीं हो जाता, प्रथम कुछ दिन थोड़े यत्न सहित अभ्यास करने ही से जप स्वाभाविक हो जाता है। :आत्म समर्पण और मन्त्र चैतन्य दोनों-की सार्थकता, इस मातृ निःश्वास के अनुभव से ही पहले-पहल परिलक्षित होती है; याद रखिये कि सब तरह की साधना का यही मेरु दण्ड (आधार) है। मन्त्र-चैतन्य और आत्म-समर्पण ये दोनों मूल धन (कैपिटल) लगा कर आरम्भ करने से साधना शीघ्र सुफल देती है।

सन्यासी भी आत्म-समर्पण साधना में सिद्ध होने के लिये अजपा अर्पण रूप एक अनुष्ठान करते हैं। उसका सार यह है कि हम दिन रात में २१६०० जपा अर्थात् "हंसः" मन्त्र जप रूप श्वास प्रश्वास लेते हैं। यही हमारी अहंता है। वास्तव में जीव भाव की अहंता कुछ सूक्ष्म दृष्टि से देखने में कुछ श्वास-प्रश्वास की समष्टि मात्र जान पड़ती है। उस समष्टि संख्या

को कुछ अंशों में बांट कर गुरू, गणेश, शिव, विष्णु आदि के उद्देश्य से सङ्कल्प द्वारा अर्पण करते हैं।

इस तरह समस्त अर्पण करने पर फिर कुछ शेष न रहने से अपना मैं कहने को भी फिर कुछ न रहा। अन्त में केवल ब्रह्मसत्ता ही रह गई। यह अनुष्ठान अनेक स्थलों में मन्त्र उच्चारण मात्र से समाप्त हो जाता है। केवल इस तरह मन्त्र पाठ द्वारा कितने दिनों में अहंता लय होती है, हम कह नहीं सकते। परन्तु इस तरह मातृ-निःश्वास के अनुभव से थोड़े ही समय में अहंता निश्चय लय हो जाती है।

अहंता लय शब्द से यह न समझिये कि "मैं न रहूँगा" याद कीजिये, प्रथम खण्ड में लालटेन के दृष्टान्त में कहा गया है कि—अनेक मैं वास्तविक नहीं हैं। एक मैं ही मन बुद्धि, इन्द्रियादि द्वारा प्रकाशित होकर, अनेक में की तरह प्रतीत होता है। उस अज्ञान कल्पित अहंता को विलय कर सकने से ही मैं का असली स्वरूप हाथ आता है। जो असल मैं, जो एक मैं है, वही आत्मा, मा नित्य प्रकाशित हो रही है यह अनुभव होता है।

भगवद् गीता (४।२८) में कहे हुए द्रव्ययज्ञादि भी इसी आत्म-समर्पण के क्रम मात्र हैं। जब जीव का भगवत् सत्ता में कुछ विश्वास आता है, तब से द्रव्ययज्ञ अर्थात्—भगवान के उद्देश्य से द्रव्यादि अर्पण आरम्भ होता है, मैं—के अर्पण करने का यही पूर्व लक्षण है। कुछ दिन ऐसा करने के बाद जीव फिर केवल द्रव्य अर्पण करने से तृप्त नहीं होता, थोड़ा थोड़ा साधन भजन भी करने लगता है, उसका नाम तपोयज्ञ है। इसका उद्देश्य मैं को साफ़ सुथरा करना है। जब वह देखता है कि मैं बड़ा मलिन और विषयासक्त हूँ; इस अर्पित

मैं को, उस परम पवित्र के चरणों में अर्पण नहीं किया जा सकता। तब तपस्या द्वारा मैं को पवित्र करने की कोशिश करता है। कुछ पवित्र हो जाने पर योगयज्ञ का अधिकार होता है। तब भगवान के साथ योग रख कर सब कर्म्म यज्ञ रूप से अनुष्ठान करता है। इस अवस्था में भी मैं पृथक् रह जाता है। कुछ दिन भगवान के साथ योग या मिलन होते रहने पर, अनुराग, आसक्ति या भक्ति का उदय होता है, यह भक्ति जब पराकाष्टा को पहुंचती अर्थात् प्रेम रूप हो जाती है, तब स्वाध्याय, ज्ञानयज्ञ उत्पन्न या सिद्ध होता है। अर्थात् स्व-रूप का अध्याय या अनुभव होता है। इस तरह आत्म साक्षात्कार रूप महाज्ञान प्राप्त होता है। प्रेम में मग्न होने का नाम ही यथार्थ आत्मदान है। इस तरह के आत्मदान का नाम ही अहंता का विलय है। यही "सर्वधर्म्मान् परित्यज्य-मामेकं शरणं व्रज" (१८।६६) मन्त्र की चरम सार्थकता है।

इससे साधक यह न समझलें कि इस तरह आत्मदान कर सकने से फिर कभी जीव भाव वाली अहंता फुरेगी ही नहीं। भगवान तुम्हारे अहं (मैं) को फिर तुम्हीं को लौटा देंगे। वे कभी कभी तुम्हें आत्म विस्मृत (विभोर) करके अपने हृदय में मिला लेंगे, और फिर तुम्हारा मैं तुम्हारे ही पास लौट आवेगा। परन्तु फिर वह मैं बड़ा सुन्दर और पवित्र होगा, उसमें अभिमान और आसक्ति की बूंद भी न होगी। वह मैं सत्य की सुदृढ़ भित्ति पर स्थापित होगा। फिर वह चाहे शास्त्र विहित कर्म्म करे अथवा नैष्कर्म्य, (आत्म स्वरूप) में अवस्थान करे, हर हालत में वह भगवत् शक्ति विकाश के यन्त्र रूप से चलता रहता है। यही आत्म समर्पण का पूर्ण लक्षण है।

अस्तु, मातृ शक्ति से शक्तिमान् गण सैन्य (प्रणवादि मन्त्र-मय निःश्वास) भिन्दिपाल आदि अस्त्रों द्वारा असुरों का बल

क्षीण करने लगे। (भिन्दिपाल आदि अस्त्रों की व्याख्या ४६ श्लोक में कर चुके हैं) यद्यपि वह अर्थ असुर पक्ष में प्रयोग करने योग्य है तथापि उससे आगे ४८ सवें "नि शस्त्रास्त्र वर्षिणी" इत्यादि मन्त्र में मातृपक्ष में भी उन अस्त्रों प्रयोग का रहस्य वर्णित हुआ है। साधारण निःश्वास जो विक्षेप का चिह्न, अर्थात् असुरभाव के ही पोषक हैं, यह कहा गया है; किन्तु जब ये निःश्वास मातृ-नाम मय, (चैतन्य मन्त्र जपमय) होकर मातृ-निःश्वास रूप से ज्ञात होने लगें तब वे ही आसुरिक भाव के विनाशक होते हैं। यही गणसैन्य का असुर नाश करना है।

साधक ! कभी परीक्षा कर देखें—आपका चित्त जब किसी प्रकार की विषय-चिन्ता से कातर-अस्थिर होता हो, उसके बाद दूसरे आसुरी भाव आकर उपद्रव करते हों, तब श्वास पर लक्ष्य कीजिये। श्वास-श्वास पर नाम जप चलता और साथ ही यह भी जान पड़े—कि तुम्हारे अन्तर स्थित के निःश्वास ही तुम्हारे नासापुट से आते जाते हैं। फिर देखें कि थोड़ी ही देर में आसुरी भाव नष्ट होकर चित्त होगया है। इन क्रियाओं का फल तुरन्त समझ में जायगा ॥ ५२ ॥

> अवादयन्त पटहान् गणाः शङ्खांस्तथापरे।
> मृदङ्गाश्चतथैवान्ये तस्मिन युद्धमहोत्सवे ॥ ५३॥

अनुवाद। उस युद्ध महोत्सव में गण सैन्यों में कोई पटह (ढोल) कोई शङ्ख, कोई मृदङ्ग बजाने लगे।

व्याख्या। इस मन्त्र में भी एक प्रकार की साधना का है, श्वास की गति द्वारा कानों की वृत्ति रोक कर, चक्र में जाकर कुछ देर स्थिति रह सकने से ढोल, शङ्ख, मृदङ्ग

की आवाज़ सुनाई पड़ती है, इसके सिवाय झींगुर, मेंढ़क, बादल, बिजली और घण्टा आदि की ध्वनि भी सुनी जाती है। मन्त्र में केवल प्रधान तीन ध्वनि कही गई हैं; शेष उन्हीं के अन्तर्गत हैं। सब साधकों को एक ही प्रकार की ध्वनि नहीं सुनाई पड़ती। स्वभाव की विचित्रता के कारण ध्वनि में भी विचित्रता रहती है। परन्तु ऊपर लिखी ध्वनि अधिक साधकों को सुनाई पड़ती है।

इस तरह अनाहत में उठने वाले किसी बतलाये हुए नाद के साथ जब इष्ट मन्त्र मिल जाय, तब ही साधक जप सम्बन्ध में निश्चिन्त हो सकते हैं। यही तान्त्रिक मन्त्र-चैतन्य है। इस अवस्था में फिर चेष्टा करके जप नहीं करना होता, स्वाभाविक शक्ति वश ही जप होता रहता है। यह नाद जब खुल जाता है, तब एक अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होता है, साधक को उन्माद की तरह आगे ले चलता है। सिवाय वंशी और मृदङ्ग ध्वनि के और कुछ भी नहीं जान पड़ता है, वह ध्वनि ऐसी आकर्षक है मानों प्राणों को खींचे लिये जा रही है। यही श्रीकृष्ण की मुरली ध्वनि है। जिसके आकर्षण से गोपिकायें कुल छोड़ कर अकुल में बही जाती थीं, अजी सचमुच वह ध्वनि कुलनाशक है! मनुष्य को पागल सा कर डालती है। वंशी, ढोल, शङ्ख-मृदङ्ग इनमें से किसी भी ध्वनि का अभ्यास हो जाने से साधक एक अभूतपूर्व आनन्द भोगते रहते हैं। इस नाद के साथ प्रणवादि मन्त्र जोड़ लेने से चित्त अपने आप प्रशान्त हो जाता है; वैषयिक चञ्चलता नहीं रहती, अतएव आसुरी अत्याचार भी नहीं रहते। बड़े सौभाग्य से ऐसा पागलपन मिलता है। कविवर सत्यनारायणजी ने एक पद लिखा है:—

"यह पागल होना तो हमको, मुबारिक हो मुबारिक हो।
[illegible] मुबारिक हो मुबारिक हो॥

जो कोई जानना चाहे कि, दुनियां का रहस क्या
इक पागलपन समा जाना, मुबारिक हो मुबारिक हो
सभी मिथ्या सभी मिथ्या, यह जीवन मरण भी मिथ्या
अब प्रेम पूरण हो चुके, मुबारिक हो मुबारिक हो
पागल होने को ऋषि मुनि, भटकते फिरते जङ्गल में
पागलपन समझ जाना, मुबारिक हो मुबारिक हो
असल को पा लिया जिसने, उसी का नाम पागल है
पागलपन गले पड़ना, मुबारिक हो मुबारिक हो
"सत्यदेव" होना चाहता था (है), पागलों का बादशाह
हमको हमारी यह दुआ, मुबारिक हो मुबारिक हो

परन्तु एक बात और याद रखिये, कि इसके लिये अल चेष्टा कोई न करे, वह सत्य के मिलने में विघ्न है। न सुन सकने ही से सत्य प्राप्त नहीं हो जाता। सत्य प्राप्ति के पर आगे चलने से ये सब अपने आप ही आ जाते हैं। मातृ आह्वान सुनने के लिये कातर प्राण से कान उठा अनाहत केन्द्र पर मनोयोग करो तो, देखोगे कि मा का आ मय कर्णामृत-रसायन आह्वान आता है। और आप भी साथ ही 'जय मा! जय मा!' कहते हुए उत्तर देते रहो। समय याद रक्खो कि— मातृ लाभ हमारा लक्ष्य है। मा जो आता जाय वह सब देखो सुनो, परन्तु किसी में आसक्त हो, अजी ध्वनि तो साधारण सी बात है, अनेक प्रकार की विभूतियों में भी मोहित मत हो [यह मालिक का बा इसकी सैर करो–पर फल फूल के लालच में मत फसो]।

अस्तु, इस मन्त्र में युद्ध को महोत्सव कहा गया है, व ही जिस युद्ध में मा स्वयं अवतीर्ण हैं, जो युद्ध मातृ निःश्वा उत्पन्न गण सैन्यों की मृदङ्गादि ध्वनि द्वारा मुखरित है,

उत्सव के सिवाय व्यसन कैसे कहा जाये ? जिस युद्ध में अव-तीर्ण होने से ही हमारे मुक्तिमन्दिर की हिरण्मय विजय पताका दीखने लगती है, जिस युद्ध से हमारी आसुरी शक्तियाँ प्रलय की ओर चल देती हैं, वह युद्ध तो महोत्सव है ही; व्यसन् कैसे कहा जायगा। साधक! एक बार इस युद्ध में अवतीर्ण होने में हानि ही क्या है ? "हाथ कङ्गन को आरसी क्या ?"

ततो देवी त्रिशूलेन गदया शक्ति वृष्टिभिः।
खड्गादिभिश्च शतशो निजघान महासुरान् ॥ ५४ ॥

अनुवाद। अनन्तर देवी त्रिशूल गदा शक्ति और खड्ग आदि के प्रहार से सैकड़ों महाअसुर निहत करने लगीं।

व्याख्या। सिंह और गणसैन्यों की युद्ध प्रणाली का वर्णन हो चुका, अब मातृ-युद्ध का वर्णन होता है, उसमें प्रथम त्रिशूल द्वारा असुरों के मारने का उल्लेख है। "त्रिशूल क्या :?" त्रिपुटी ज्ञान। ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान इस त्रिपुटी का नाम ही त्रिशूल है। यह विज्ञानमय महेश्वर का अस्त्र है। इससे पूर्व स्वयं महेश्वर ने अपने शूल से शूल निकाल कर देवी को अर्पण किया था। त्रिपुटी की सहायता से किस तरह असुर मारे जाते हैं ? रूप रसादि विषय, अथवा कामादि वृत्तियां जब चित्त क्षेत्र को चञ्चल कर डालती हैं; तब उनको लक्ष्य करके त्रिपुटी प्रयोग किया जाता है, विषय अथवा वृत्तियां त्रिपुटी के सिवाय कुछ भी नहीं हैं, बार-बार विचार की सहा-यता से यह दृढ़ धारणा करनी होती है।

खुलासा यह है, कि मानलो, आप किसी कमनीय कान्ति पर मोहित हैं, उस कान्ति को बड़े मनोयोग से देखते हैं। यह कान्ति हमारे ही ज्ञान का विषय वा ज्ञेय है। एवं "जानता हूं" इस अंश का नाम ज्ञान है। और "मैं जानता हूं" इस अंश

का नाम ज्ञान है। ये सिर्फ एक ही ज्ञान की तीन तरंगें हैं। प्र
खण्ड में "ज्ञानमस्ति समस्तस्य जन्तोर्विषय गोचरे" इत्या
श्लोक में जो सर्वसाधारण प्राणियों के अखण्ड ज्ञान सम
का विषय व्याख्यात हुआ है, उसे अब बुद्धि में धारणा क
एक अखण्ड ज्ञान समुद्र की ही तीन लहरें हमको ज्ञाता, ज्ञा
और ज्ञेय रूप से प्रतीत होती हैं। किसी तरह का रसादि विष
या काम क्रोधादि वृत्तियां. इस त्रिपुटी के सिवाय और कु
नहीं है। इस तरह के बार बार विचार को ही त्रिशूलाघ
अर्थात् त्रिपुटी प्रयोग कहते हैं। जिस शक्ति के प्रभाव से ज्ञा
समुद्र ज्ञातृ ज्ञेयादि रूप से लहराता है वह शक्ति ही देवी—
है। इस मा की ओर लक्ष्य रक्खो; देखते रहो, मा एक तरफ
विषयाकार से असुर रूप से अपना प्रकाश करती है; फिर दूस
तरफ स्वयं ही त्रिशूल की मार अर्थात् त्रिपुटी प्रयोग रूप वि
की सहायता से उनको निहत करती है। साधक! तुम ज
तरह जब त्रिपुटी करो तब उसमें अपना कर्तृत्व विचार न करन
कारण कि उस विचार शक्ति रूप में भी मा ही अपना प्रका
करती है। यह त्रिशूल रहस्य भली भांति समझ कर, कुछ दि
दृढ़ मनोयोग से आलोचना द्वारा स्वाभाविक हो जाने प
साधन समर में अवश्य विजय पाओगे।

त्रिशूल के बाद है गदा। गद् धातु का अर्थ है, व
वाक्य। त्रिशूलाघात (त्रिपुटी प्रयोग) से जिस प्रकार अ
मारे जाते हैं उसी प्रकार गदा की चोट—प्रकट वा
प्रयोग अर्थात् उच्च स्वर से स्तोत्रादि पाठ से भी असुर
क्षीण हो जाता है। आसुरी वृत्तियाँ भी महती शक्ति
विशेष-विशेष फुरना-मात्र हैं, बार बार यह धारणा करने
नाम है शक्ति वृष्टि। जब तक विषय अथवा वृत्ति प्रवाह
प्रतीति होती है, तब तक वे अमित वीर्य्य असुर हैं और

उनको मातृ-शक्ति-रूप समझा जा सकता है, तब ही उस शक्ति-वृष्टि के प्रभाव से असुरों का बल क्षीण होने लगता है। विषयों को सदा शक्ति-मात्र रूप से अनुभव करने का नाम ही शक्ति-वृष्टि है। अन्त में खड्ग। यह द्विधाकारक अस्त्र है। ज्ञान ही मा के हाथ में स्थित खड्ग है। एकमात्र आत्मा के सिवाय कहीं भी कुछ नहीं है, इस सत्य ज्ञान पर प्रतिष्ठित होने से सब अनात्मभाव विनष्ट हो जाते हैं। इस तरह विज्ञान खड्ग के आघात से समस्त वैषयिक प्रकाश—आसुरी भाव दूर हो जाते हैं। साधक! यदि तुम सत्य प्रतिष्ठ हुए हो, यदि सत्य प्रतिष्ठा (बुद्धियोग) तुम्हारी स्वाभाविक हो गई है, तो विषयों के सन्मुख होते ही, तुम्हारा ज्ञान उसे सत्य रूप से—मा रूप से ग्रहण करेगा, यही असुरों के ऊपर ज्ञान खड्ग का आघात है। इसी तरह से सैकड़ों असुर निहत हुए और होते रहते हैं।

पातयामास चैवान्यान् घण्टास्वनविमोहितान्।
असुरान् भुवि पाशेन बद्धा चान्यानकर्षयत् ॥५५॥

अनुवाद। कुछ असुरों को मा ने घण्टा ध्वनि से विमुग्ध कर भूतल पर गिरा दिया और कुछ को पाश-बद्ध करके धरती पर घसीटने लगीं।

व्याख्या। घण्टा ध्वनि—अनाहत नाद। गणसैन्य युद्ध में पटह, मृदङ्ग आदि ध्वनि की व्याख्या की जा चुकी है। घण्टा-ध्वनि भी उन्हीं में एक है। पूर्व देवराज इन्द्र ने ऐरावत के घण्टे से यह घण्टा लाकर देवी को अर्पण किया था। विक्षेप दूर करने और एकाग्रता साधन के लिये यह घण्टा ध्वनि अति सुगम उपाय है। दूर से कोई भी बड़ा घण्टा ध्वनित होने से टम् म् म् ऐसा शब्द सुनाई पड़ता है। इस तरह दीर्घ प्लुत स्वर से म् कार की ध्वनि की भाँति एक ध्वनि अनाहत से उठती है, वह इतनी

मधुर और चित्ताकर्षक होती है कि फिर बाह्य विषयों से चित्त विक्षिप्त होना नहीं चाहता। इस म् म् म् ध्वनि के साथ प्रणवादि मन्त्र जोड़ लेने से ही वास्तविक जप होता है। ऐसे जप में चित्त अत्यन्त मुग्ध रहता है, अतएव आसुरिक भावों को अपना बल दिखाने का संयोग नहीं रहता।

इनके सिवाय मा ने और एक अस्त्र प्रयोग किया, उसका नाम है पाश। मा ने और कुछ असुरों को स्नेह-पाश से बांध कर आकर्षण किया—अपने पास खींच लिया। सब असुरों को वध कर डालने से मा की आनन्दलीला नहीं चलती; इसी से कुछ को लीला के सहाय स्वरूप मान कर अपने पक्ष में मिला लिया। सुनिये, रजोगुण की क्रियाशीलता को बिल्कुल रोक देने से; फिर सत्त्वगुण का प्रकाश भी नहीं हो सकता इसी कारण जितनी रजः शक्ति बुद्धिसत्त्व प्रकाश के लिये विशेष अनुकूल थी. उतनी शक्ति को आसुरी भाव से निवृत्त करके अपने पक्ष में कर लिया। और भी देखिये चित्त की सब वृत्तियों को एकदम रोक देने से जगत् का व्यापार ही रुक जाता है, इसी कारण उन सब का विनाश न कर कुछ को वशीभूत कर रखना होता है। साधारणतः जीव इन्द्रिय वृत्तियों द्वारा परिचालित होता है; यही असुरों का अत्याचार है। इन्द्रिय जप करना ही यथार्थ असुर विजय है, वह अनेक उपायों से किया जाता है। केवल अस्त्राघात (संयम) द्वारा वह सिद्ध नहीं होता। कभी उसको सात्विक भोग का मधुर आस्वाद समझा कर, साधना के सहाय रूप से भी अपने पक्ष में कर लेते हैं, यही पाश से बांधकर असुर को आकर्षण करने का रहस्य है।

इस मन्त्र में और एक शब्द ध्यान देने योग्य है, वह शब्द है। "भुवि"। भू वा क्षिति तत्त्व का केन्द्र मूलाधार चक्र है। इस

शक्ति का जो अंश सत्त्वगुण को विकशित करने वाला है, उसका स्थान है मूलाधार। इस स्थान में संयम प्रयोग करने से जो सूक्ष्म क्रियाशीलता प्रत्यक्ष होती है वही मा के स्नेहपाश से बँधे हुए असुर हैं ॥ ५५ ॥

केचिद्द्विधाकृतास्तीक्ष्णैः खड्गपातैस्तथापरे।
विपोथिता निपातेन गदयाभुविशेरते ॥ ५६ ॥

अनुवाद। कुछ असुरों के तीक्ष्ण तलवार से काट कर दो टुकड़े कर दिये, और कुछ राक्षस गदा की चोट से मूर्छित हो कर धरती पर लोट गये, सो गये ॥

व्याख्या। अब असुरों की दुर्दशा का हाल देखिये। कुछ आसुरी संस्कार ज्ञान-रूपी तीक्ष्ण तलवार से दो टुकड़े होगये, कुछ ऐसे गिरे कि बेहोश हो गये, इनका कुछ चिह्न ही न रहा, अर्थात् अव्यक्त में मिल गये। और कुछ गदा घात (चैतन्यमय मन्त्र जप अथवा उच्चै स्वर से स्तोत्रादि पाठ की सहायता) से धराशायी हुए, क्षितितत्त्व (मूलाधार) में सूक्ष्म बीजाकार से, सत्वगुण को जगाने में सहाय रूप से अवस्थान करने लगे ॥ ५६ ॥

वेमुश्च केचिद्रु रुधिरं मुपलेन भृशं हताः।
केचिन्निपातिता भूमौ भिन्नाः शूलेन वक्षसि ॥ ५७ ॥

अनुवाद। कुछ असुर मुपल की चोट से अत्यन्त घायल होकर रुधिर बमन करने लगे कुछ छाती में शूल विध जाने पर धरती पर गिर गये।

व्याख्या। रुधिर वमन का अर्थ है शक्तिहीन होना। जिस शक्ति के प्रभाव से चित्त क्षेत्र में राजसिक चञ्चलता आ जाती है, उस शक्ति का नाम रुधिर है। रजोगुण का रंग लाल है।

रजोगुण की शक्ति ही रुधिर है। अतएव रुधिर वमन शब्द
अर्थ—रजोगुण की शक्ति हीनता। शूल—त्रिशूल। भूतल
गिर गये, का तात्पर्य्य—आसुरी संस्कारों ने मा के चलाये
अस्त्र शस्त्र द्वारा, भुने हुए बीज की तरह फिर अङ्कुर
करने में असमर्थ होकर, मूलाधार में अवस्थान किया।
तक स्थूल देह रहती है तब तक वे पूर्ण रूप से विलय नहीं
परन्तु रह कर भी फिर साधारण जीवों की भांति मा की
को शोक मोहादि द्वारा व्याकुल नहीं कर सकते ॥ ५७ ॥

निरन्तराः शरौघेन कृताः केचिद्द रणाजिरे।
सैनानुकारिणः प्राणान् मुमुचुस्त्रिदशार्दनाः ॥५८

अनुवाद। कुछ असुर उस लड़ाई के मैदान में (देवी
चलाये हुए) बाणों से ऐसे विध गये कि उनकी देह
से व्याप्त होगई। अर्थात् उन पर तिल भर भी जगह
न बची, देवताओं को पीड़ा देने वाले असुर सेनापति
तरह प्राण त्याग करने लगे ॥

व्याख्या। जब असुरों की सेना साधक के प्रशान्त
में बाधा डालती है, जब साधक का चित्त समर क्षेत्र बन
है, तब आसुरी वृत्तियों को लक्ष्य करके बार बार बाण
होते हैं, प्रणवादि मन्त्र अर्थात् मातृ आह्वान ही उपनि
शास्त्र के ज्ञातव्य शर हैं।

मा! मा!! मा!!! आओ तुम आओ, यह क्षुद्र मूर्ति लेकर
क्षुद्र हृदय में आखड़ी हुई हो। मा! मा!! तुम मा हो, क्यों
भाव से आकर हमें पीड़ा देती हो? मा! मा!! तुम स्थिर
मूर्ति से प्रकाशित हो। मा! मा!! मा!!! इस तरह बार बार
छोड़ता है, जिससे तिलमात्र संस्कारों को अवकाश न
इतना घन घन मन्त्र जप करते हैं। ("प्रणवोधनुः शरो
ब्रह्मतल्लक्ष्यमुच्यते। अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्

जिससे बिलकुल फांक न रहे, "निरन्तरा शरौघेन" शब्द का यही तात्पर्य्य है। ऐसा कर सकने से ही त्रिदशार्दन अर्थात् साधक की देवभाव नाशक आसुरी शक्तियों का सर्वनाश हो जाता है। साधक प्रतिदिन इस उपाय से असुरों पर विजय पाते हैं कि नहीं, परीक्षा कर देखें। कई बार विफलता आ सकती है, परन्तु परिणाम में विजय अवश्य होगी ॥ ५८ ॥

केषांचिद्बाहवश्छिन्नाश्छिन्न ग्रीवास्तथापरे ।
शिरांसि पेतुरन्येषामन्ये मध्ये विदारिताः ॥ ५६ ॥

अनुवाद। कुछ असुरों की भुजायें, कुछ की गर्दन और कुछ असुरों के शिर कट गये और कुछ की छाती फट गई।

व्याख्या। बाहुछेद—ग्रहण शक्ति न रहना। आसक्ति से उत्पन्न रूप रसादि विषय ग्रहण की अभिलाषा दूर हो जाना ही असुर की भुजा कट जाना है। गर्दन कटना—बोलने की शक्ति न रहना। शब्द के आश्रय से ही संस्कार उदय होते हैं। शब्द न रहने से भाव फूट नहीं सकते। इन विषयों की व्याख्या विस्तार से पूर्व हो चुकी है। भाव वा संस्कारों का मूलीभूत उपादान शब्द है। इस शब्द की उत्पन्न करने वाली शक्ति न रहना ही गला कट जाना है। मध्य देश विदीर्ण होने का अर्थ कार्योत्पादन शक्ति रहित हो जाना है, कार्य शब्द से यहां आसुरी भाव मूलक कार्य ही समझने चाहिये। कार्य-मात्र की तीन अवस्था हैं, प्रथम क्षण में उत्पत्ति, मध्य क्षण में स्थिति और अन्तक्षण में लय। आसुरी संस्कारों के मध्यदेश विदीर्ण होने का अर्थ कार्य का स्थिति भाव विनष्ट होना समझिये। स्थिति भाव विनष्ट उत्पत्ति और लय फिर रह ही नहीं सकती।

विच्छिन्नजङ्घास्त्वपरे पेतुरुर्व्यां महासुराः ।
एक बाहूक्षिचरणाः केचिद्देव्या द्विधा कृताः ॥६०॥

अनुवाद। कुछ असुर जङ्घा कट जाने से भूमि पर पड़े। कुछ असुरों के देवी द्वारा ऐसे दो खण्ड हुए कि एक खण्ड में एक भुजा, एक आंख और एक टांग थी मानो से गुदा तक आरे से चीर कर दो भाग किये गये हों॥

व्याख्या। जङ्घाच्छेद का अर्थ गति शक्ति हीनता, चलने की शक्ति न रहना है। संस्कारों की जो वार-बार चंचलता है, गति-शक्ति कहते हैं। संस्कारमात्र की एक-एक भावमयी मूर्ति है, अभिलाप वा ग्रहण उसकी बाहु, प्रकाश उसकी और गति उसके चरण हैं। उनके शिर से दो टुकड़े संस्कार की विशिष्ट मूर्ति विनष्ट कर दी गई, जिससे फल उत्पन्न न कर सके।

जिस तरह ऋणबिजली (नेगेटिव) और धन (पाजेटिव) आपस में दो विरोधी शक्तियाँ सम्मिलित हो बिजली के कार्य उत्पन्न होते हैं, जैसे पितृ-शक्ति और मातृ के विकाश स्वरूप देह के दायें और बायें दो भाग मि हमारी यह भोगापतन क्षेत्र देह तय्यार होती है, ठीक उसी आकर्षण और विकर्षण रूप परस्पर विरोधी दो शक्ति सम्मेलन से ही भाव वा संस्कारों का उदय होता रहता है। द्वारा जरासन्ध के मारने की रीति से यदि उक्त दो शक्ति परस्पर विच्छिन्न कर दिया जाय, तो फिर उनमें कार्य करने की सामर्थ्य नहीं रहती। असुर समर में अवतीर्ण भी कुछ असुरों को ठीक उसी भाव से चीर कर उनकी उत्पन्न करने की शक्ति बिल्कुल मिटा दी॥६०॥

छिन्नेऽपि चान्ये शिरसि पतिताः पुनरुत्थिताः।
कबन्धा युयुधुर्देव्या गृहीत परमायुधाः॥६१

नन्तृतुश्चापरे तत्र युद्धे तूर्य्य लयाश्रिताः ।
कबन्धाश्छिन्न शिरसः खड्ग शक्त्यृष्टि पाणयः ॥६२॥
तिष्ठतिष्ठेतिभाषन्तो देवीमन्ये महासुराः ॥६३॥

अनुवाद । अन्य कुछ असुर शिर कट जाने पर भूमि पर गिर गये, उनके रुण्ड (कबन्ध) उत्कट अस्त्र शस्त्र लेकर देवी से युद्ध करने लगे । कुछ कबन्ध युद्ध क्षेत्र में तुरई (रणसिंगा) की तान और लय के अनुसार नाचने लगे और अन्य बड़े बड़े राक्षस तलवार, शक्ति और ऋष्टि (द्विधारी तलवार) हाथ में लेकर देवी से तिष्ठ-तिष्ठ–'ठहरो–ठहरो' कहते हुए लड़ने लगे ।

व्याख्या । कुछ आसुरी संस्कार ऐसे बलवान कि उनके शिर काट डालने पर भी युद्ध से न हटे, मा की कृपा से जिन साधकों की आसक्ति की जड़ कट गई है, "यथार्थ ही इस जगत में त्याज्य वा ग्राह्य कुछ नहीं है" ऐसे दृढ़ ज्ञान पर जो प्रतिष्ठित हुए हैं, ऐसे साधक भी कभी कभी कबन्ध असुरों के अत्याचार से पीड़ित हो जाते हैं । उग्रतपा महर्षि विश्वामित्र का पैर फिसलना, पराशर के चित्त की चञ्चलता, दुर्वासा की शाप देने की वृत्ति, आदि जो पौराणिक कथायें सुनी जाती हैं वे सब कबन्ध असुरों के युद्ध वा अत्याचार मात्र हैं । नवम अवतार बुद्धदेव पर भी काम का अत्याचार हुआ था । (कितने कबन्ध कब उठे थे ?)

"नागानामयुतं तुरङ्ग नियुतं सर्वं रथानांशतम् ।
पत्तीनां दश कोटयो निपतिता एवं कबन्धारणे ।
तेषां कोटि निपातनर्तनविधौ खेलच्चलत्खे शिरः ।
तेषां कोटि निपातने रघुपतेः कोदण्ड घण्टारवः ॥
(महानाटक)

राम रावण युद्ध में १८ वार घंटा बजा, और चण्डी में ३६ वार बजा, इतने रुण्ड उठे थे । बहुत दिन के सञ्चित अभ्यास

के फल से ऐसा हो जाता है, उससे मातृलाभ में कुछ हा
नहीं होती। सैकड़ों समुन्नत साधक महापुरुषों के नाम से
सच्ची झूंठी अनेक तरह की दुर्बलता की बातें सुनी जाती
परन्तु इससे विस्मित वा श्रद्धाहीन होने का कोई कारण नहीं
क्योंकि यह सब शिर कटे कबन्ध असुरों का सामयिक अत्याच
मात्र है। मा की लीला विचित्रता का पता लगाना मनु
की बुद्धि से अतीत है, यह सब भी उसी का प्रमाण मात्र है
जो यथार्थ कल्याण चाहने वाले पुरुष हैं सामयिक दुर्बलता
से उनकी कुछ हानि नहीं; भगवान् ने स्वयं कहा है।" नं
कल्याण कृत कश्चित् दुर्गति तात गच्छति" (६।४०) योगभ्र
की दुर्गति नहीं होती। अतएव साधारण दृष्टि से किसी म
महापुरुष की दुर्बलता का विचार हो ही नहीं सकता।
साधारण जीव की दृष्टि से दोष वा दुर्बलता है, कदाचित् म
पुरुषों के पक्ष में उसमें भी कुछ गम्भीर रहस्य छिपा हो,
कब कहां किस भाव से खेल करती है, उसका निर्णय क
साधारण विवेक शक्ति का काम नहीं है।

कुछ असुर लड़ाई के बाजों की तान–लय के अनुसार नृ
करते थे जब साधकों की बाहिरी विषय ग्रहण करने
चञ्चलता निवृत्त हो जाती है तब भी अन्तर में वैषयिक संस्का
के अंकुर उगते रहते हैं। यद्यपि वे स्थूल में आकर कार्य
नहीं कर सकते (कारण कि आसक्तिहीन होने से वे शिर र
हुए हैं) तथापि मानसिक भाव रूप में आसुरिक संस्कार ना
रहते हैं, और साधक मात्र ही उन्हें सदा अनुभव करते रहते हैं
गीता में जिसको मिथ्याचार कहा है। "कर्मेन्द्रियाणि संयम्
य आस्ते मनसास्मरन्।

इन्द्रियार्थान् विमूढ़ात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥" (३।
देवी माहात्म्य में उसी को कबन्ध असुर का नृत्य वर्णन कि

है। सब साधकों को प्रथम कर्मेन्द्रियां संयत करनी पड़ती हैं। कर्मेन्द्रिय संयम स्थिर होने से देखते हैं कि अन्तरेन्द्रियां अब भी संयत नहीं हुईं। जो कर्म्म द्वारा अनुष्ठान नहीं करते, वे अनायास उसकी मन के द्वारा चिन्ता करते हैं, इसी को मिथ्याचार कहा जाता है। इस मिथ्याचार के अवलम्बन बिना कोई सत्याचार पर पहुंच नहीं सकता। जो यथार्थ सत्याचार पर प्रतिष्ठित हैं, उनको भी इस मिथ्याचार में होकर ही जाना पड़ा है। यही शिर कटे असुरों का नृत्य है। आसक्ति नहीं, अनुष्ठान नहीं, तो भी चित्त क्षेत्र में आसुरी संस्कार फूटते रहते हैं, वे तुरई की आवाज़ पर ताल ताल से नाचते हैं। प्रणवादि मन्त्र जप ही मारू बाजा है। साधक! जब तुम अपना इष्ट मन्त्र जपते हो, तब तुम्हारे अन्तर में भी ऐसे व्यर्थ संस्कार फूटते होंगे। तुम्हारा जप भी चलता है और साथ ही साथ असुरों का नृत्य भी चलता है। परन्तु इस अवस्था में आकर हताश न हो, अपना जप बंद मत करो। कितना ही नृत्य क्यों न करें, याद रखिये वे कबन्ध असुर हैं, शीघ्र ही उनका ताण्डव नृत्य शान्त हो जायगा। केवल मा की ओर ताकते रहिये, अपने को मिथ्याचारी समझ कर घृणा न कीजिये। ऐसे मिथ्याचार के बाद ही सत्याचार पर पहुंचा जाता है। यह मिथ्याचार, यह शिर कटे असुरों का नृत्य सब ही मा का छद्मवेश–लीलामात्र है। अतएव अपनी दुर्बलता देख कर कभी आत्मा को व्याकुल न कीजिये।

और कुछ महासुर खड्गादि अस्त्र धारण कर देवी को "तिष्ठ, तिष्ठ" कहते कहते ही शिर कटा बैठे। किसी बलवान् शत्रु द्वारा तिरस्कृत होकर अपने को छिपाने के लिये दुर्बल मनुष्य अपने शत्रु से कहता है "अच्छा ठहरो ठहरो"—फिर देखा जायगा।" उसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि इस

समय में तुम्हारा कुछ अनिष्ट साधन नहीं कर सकता, भविष्यत में उपयुक्त देश काल और पात्र का संयोग मिलने पर अपना प्रकाश करूँगा (तुम्हें देख लूंगा)। सचमुच कर्मेन्द्रियादि के संयम द्वारा संस्कारों के जाग्रत भाव मात्र तिरस्कृत रहते हैं। फिर उपयुक्त सुयोग उपस्थित होते ही वे कर्म रूप से फूट उठते हैं। "विषयाविनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः।" (गी०२।५६) इन्द्रिय संयम द्वारा विषय ग्रहण निवृत्त अवश्य होता है किन्तु "रस रहित" अनुराग रह जाता है। सुयोग पाते ही अर्थात दैवात् कुछ शिथिलता आजाने पर आसुरिक अत्याचार भी आरम्भ हो जाता है, इस भाव को लक्ष्य करके ही यहाँ देवी को "तिष्ठ, तिष्ठ" कहा गया है। किन्तु यहां साधक केवल इन्द्रिय संयम परायण नहीं है; बल्कि वह मातृ चरणों में आत्म निवेदन करके पूर्ण निश्चिन्त है, यहां मा ने स्वयं ही उनको रुण्ड-मुण्ड कर कार्य उत्पादन शक्ति नष्ट करदी है। भगवान ने भी कहा है:—"रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते" (गी०२।५६) परमात्मा के दर्शन होते ही विषयानुराग भी बिलकुल निवृत्त हो जाता है। यहां साधक सर्वत्र सत्य प्रतिष्ठा में—मातृ दर्शन से कृत कृतार्थ है। अनुराग मातृ-चरणों (परमात्मा) में प्रतिष्ठित है। अतएव विषयों पर अनुराग का अवकाश नहीं है इसी से मन्त्र में भी, 'तिष्ठ, तिष्ठ' कहते कहते ही महासुर देवी द्वारा शिर रहित होगये॥ ६३॥

पातितैरथनागाश्वैरसुरैश्च वसुन्धरा।
अगम्या साभवत्त्यत्र यत्राभूत् स महारणः॥ ६४॥

अनुवाद। जिस भू भाग पर वह महारण संघटित हुआ था, वहां पर पड़े हुए रथ, हाथी, घोड़े और असुरों के पड़े होने के कारण वहाँ पैर रखने को भी जगह खाली नहीं थी।

व्याख्या। सचमुच ही साधक का चित्त क्षेत्र ऐसा ही अगम्य हो जाता है, यद्यपि वह वसुन्धरा, अनन्त रत्नों की खानि, सिद्धि, शक्ति, शान्ति, आदि वसुओं को धारण किये हैं, तथापि अत्र असुरों कीं लाशें पड़ी होने से वह स्थान अगम्य हो गया है। जब तक आसुरी संस्कारों का शेष (लाशें) सम्पूर्ण विलय न हो, तब तक चित्त क्षेत्र (वसुन्धरा) में छिपे हुए रत्न खोजने पर भी न मिलेंगे।। शरीर में स्थित जिन स्थूल यन्त्रों की सहायता से आसुरी भाव जाग्रत होकर सुभाव को नष्ट करते हैं, वे ही रथ, हाथी, घोड़े आदि आसुरी शक्तियों के परिचालक यान-वाहनादि हैं। आसुरिक शक्तियां विलीन होगई हैं; परन्तु उनका स्थूल अंश अभी बाक़ी है; इसी से चित्त क्षेत्र अभी प्रशान्त नहीं हुआ; अतएव साधक अब भी चित्त के गम्भीर तल स्थान में प्रवेश कर सिद्धि, शक्ति आदि रत्न अन्वेषण नहीं कर पाते। खुलासा यह है कि जैसे किसी के पुराना फोड़ा या घाव अच्छा हो जाने पर भी उसका दाग़ (गूथि) तो सहज मिट नहीं सकता, उसी प्रकार मातृ कृपा से चित्त की राजसी चञ्चलता दूर हो जाने पर भी असुर का शव रूप संस्कार तो एक दम विलीन नहीं हो सकता, साधक स्वयं इसे अनुभव कर सकते हैं। चित्त की बहिर्मुखी आसक्ति विलय को प्राप्त होने पर भी बहुत दिन के अभ्यास वश उसका भावमय स्वरूप बिलकुल विनष्ट नहीं हो जाता, इसीसे यथार्थ प्रशान्त स्वरूप का अनुभव नहीं होता। इसी कारण मन्त्र में वसुन्धरा को अगम्या कहा गया है ॥ ६४ ॥

शोणितौघामहानद्यः सद्यस्तत्र विसुस्रुवुः ।
मध्ये चासुर सैन्यस्य वारणासुरवाजिनाम् ॥ ६५ ॥

अनुवाद। वहां उस असुर सेना में हाथी, असुर और घोड़ों के लोहू की नदी बहने लगी।

व्याख्या। असुरों के लोहू की नदी बहने लगी। रक्त नदी क्या? विशुद्ध रजोगुण मूलक शक्ति-प्रवाह। लाल रंग ही रजोगुण का बाहिरी विकाश है। इस युद्ध में इतने असुर उमड़े थे कि एक चञ्चलतामय घोर रक्त वर्ण शक्ति-प्रवाह के सिवाय और कुछ भी अनुभव नहीं होता था। इस समय साधक देखते हैं कि उनका शुभ्र निर्मल चिदाकाश घोर लाल रंग का होकर शोणित-वाही महानदी की तरह लहरा रहा है। बार-बार असुर संस्कारों के घात-प्रतिघात से, फिर विशेष रूप से असुरों को लक्ष्य करने का सुयोग नहीं रहता। केवल एक घोर रक्तवर्ण लोहू की धार रज-शक्ति से पूर्ण उमड़ती हुई दीख पड़ती है। मूलाधारादि तीन चक्र इस समय लाल रंग की ज्योति से पूर्ण, शक्ति केन्द्र रूप से आपस में मिले हुए जान पड़ते हैं। यही "शोणितौघा महानद्यः" रक्त प्रवाह की बड़ी नदी है॥ ६५॥

क्षणेन तन्महासैन्यमसुराणां तथाम्बिका।
निन्ये क्षयं यथा वन्हिस्तृणदारुमहाचयम्॥ ६६॥

अनुवाद। अग्नि जिस तरह क्षण भर में तृण-काष्ठ के बड़े ढेर को भस्मीभूत कर देती है उसी तरह मा अम्बिका ने भी असुरों की महान् सेना को क्षण भर में क्षय कर दिया।

व्याख्या। भगवद्‌गीता में ठीक इसी भाव का एक श्लोक है— "यथैधांसि समिद्धोग्निर्भस्म सात् कुरुतेऽर्जुन! ज्ञानाग्निः सर्व-कर्म्माणि भस्मसात् कुरुते तथा॥" (४।३७) ज्ञानाग्नि सब कर्म संस्कारों को भस्म कर डालती है। यहाँ भी स्नेहमयी मा ने अम्बिकामूर्ति से प्रकट होकर सब असुर संस्कारों को क्षय कर दिया। जो पाठक "जगत् मिथ्या" शब्द का ठीक-ठीक तात्पर्य समझे बिना, जगत् अंश परित्याग कर विचार की

सहायता से "ब्रह्माहमस्मि" इस अनुभव पर पहुंचने की चेष्टा करते हैं; उनसे हमारा मत नहीं मिल सकता। यद्यपि ब्रह्मज्ञान ही सब कर्मों का विलय करने वाला है, इसमें किसी का मतभेद नहीं हो सकता, तथापि केवल विचार की सहायता से जगत को मिथ्या समझ, उसकी उपेक्षा कर देने से कभी अमृत का पता नहीं मिल सकता। विचार की सहायता से जो मिलता है वह ज्ञान नहीं है-ज्ञान का आभासमात्र है। ज्ञान के मानी हैं जानना; अनुभव करना। जब तक जो विषय जाना न जाय, तब तक उस विषय का ज्ञान होता ही नहीं। केवल पढ़ने और सुनने के ज्ञान से कर्म्म क्षीण नहीं होते। ज्ञान का अनुभव होना आवश्यक है। ईशोपनिषद् कहता है कि विद्या और अविद्या दोनों ही मुक्ति की साधक हैं। अविद्या की सहायता से मृत्यु का अतिक्रम और विद्या की सहायता से अमृत प्राप्त किया जाता है। कर्म संस्कार अविद्या है-इसको मिथ्या समझ कर आँख छिपाने से मृत्युभय दूर नहीं हो सकता; जब तक ज्ञान में नानात्व रहेगा, तब तक वह जीव को मृत्यु से मृत्यु की ओर ही प्रेरणा करेगा। आप कर्म देखते हैं-बहुत्व अनुभव करते हैं, तो मुख से हज़ार बार मिथ्या-मिथ्या कह कर और एक नया संस्कार बना लेते हैं, ऐसा करने से कभी भी मृत्यु भय दूर नहीं होगा। उन कर्मों को ब्रह्ममय करना होगा, कर्म कोई पृथक् वस्तु नहीं, कर्म भी तो ब्रह्म ही है 'कर्म्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि" (गीता ३। १५) ऐसे ज्ञान पर दृढ़ प्रतिष्ठ होना होगा। कर्म्म ब्रह्ममय होने से ही कर्म्म संस्कार दूर होते हैं, यही पहला कार्य है। यही ब्रह्म के सगुण स्वरूप का अनुभव वा अविद्या की सहायता से मृत्युभय अतिक्रम है, इतना हो जाने के बाद निर्गुण स्वरूप का अनुभव वा विद्या की सहायता से अमृत मिलता है। इस तरह जीव यथाक्रम से अविद्या और विद्या

के आश्रय से मृत्यु से परित्राण पाकर अमृत भोग के अधिकारी होते हैं।

अब देखिये मा किस तरह क्षण भर में असंख्य असुरों का नाश कर देती है। आपके चित्त में असंख्य कर्म्म संस्कार फूटते रहते हैं, वे ही तो असुर हैं, उन सब को पकड़ पकड़ कर मातृ-संस्कार में परिणत करना होता है, प्रत्येक संस्कार को छद्म-वेशी मातृ (परमात्म) मूर्ति समझना होता है। ऐसा करते करते जब मातृ-संस्कार घनीभूत हो जाते हैं तब संस्कारों का आकार मात्र रह जाता है, तो भी उसके सब अवयव (अङ्ग) मातृमय ही होते हैं, तब ही समझा जा सकता है कि मा ने असुर कुल को ग्रास कर लिया। यह एक दिन में नहीं होता, दीर्घकाल निरन्तर श्रद्धापूर्वक अभ्यास करना होता है, यह योग मार्ग की बात है। "सतु दीर्घकाल नैरन्तर्य्य सत्कारा सेवितो दृढ़ भूमिः" (पातं० १।१४)। परन्तु तुम मा के दुलारे लाल हो, तुम मा मा कह कर पुकारते हो, तुमने मातृ लाभ को ही जीवन का एकमात्र उद्देश्य समझ लिया है—चिन्मयी के वक्ष पर निरन्तर रहने की ही तुम्हारी पूर्ण अभिलाषा है, तब चित्त क्षेत्र में युद्ध करने वाले असुरों पर लक्ष्य न रख कर केवल मा की ओर टकटकी लगा कर देखते रहो, अपने को उत्पीड़ित आर्त सन्तान समझ कर कातर प्राण से मा मा कह कर पुकारते रहो, मातृ महिमा में प्रविष्ट होने का अभ्यास करो तो देखोगे कि मा ने "क्षणेन तन्महासैन्यं क्षयं निन्ये" क्षण भर में ही तुम्हारे आसुरी संस्कार क्षय कर दिये हैं ॥ ६६ ॥

स च सिंहो महानादमुत्सृजन् धूत केशरः।
शरीरेभ्योऽमरारीणामसूनिव विचिन्वति ॥ ६७

अनुवाद—और वह सिंह भी अत्यन्त गर्जनापूर्वक केशर (गर्दन के बाल) कम्पित कर असुरों के शरीर से मानो विशेष रूप से प्राण संग्रह करने लगा। (नष्ट कर दिये)

व्याख्या—इस मन्त्र में प्राण प्रतिष्ठा का विषय कहा गया है। जो प्राण प्रतिष्ठा कहने के लिये इस मध्यम चरित्र का उद्यम हुआ है वह यहीं विशेष भाव से कही गई है। साधक! इस प्राण पर प्रतिष्ठित हो सकने ही से तुम्हारी प्राणमय ग्रन्थि या विष्णुग्रन्थि भेद होगा। यह रहस्य गुरु परम्परागत रूप से, विनीत श्रद्धावान् और सत्य प्रतिष्ठ साधकों के ही जानने योग्य है। पक्षान्तर में जो भगवत्सत्ता में विश्वासवान् नहीं हैं, जिनको गुरु और वेदान्त वाक्य में अटल श्रद्धा नहीं है, जिनका सुषुम्ना प्रवाह विकसित नहीं हुआ है; उन्हें इस रहस्य की आलोचना से विशेष कुछ फल न होगा। अस्तु, आओ अधिकारी साधक! हम अपने एकान्त आश्रय मातृ चरणों का ध्यान कर मन्त्र रहस्य खोजने की चेष्टा करें। मा! तुम धी रूप से प्रकट होकर अपना साधन रहस्य बोधगम्य करादो, जिससे अज्ञानान्ध जीव जगत् फिर ज्ञान भक्ति के पवित्र प्रकाश से उज्वल हो।

मन्त्र में कहा गया है कि सिंह असुरों की देह से प्राण चयन करने लगा। सिंह—मातृ शक्ति विकाश का यन्त्र स्वरूप जीव। पूर्व कहा है कि साधक जब अपने जीव भाव पर हिंसा परायण होता है—जब देहात्मबोध को विलय करने का यत्न करने लगता है तब ही जीव सिंह पद वाच्य होता है, तब ही मा कृपापूर्वक श्री चरण स्पर्श से ऐसे जीव को धन्य कर देती है। वह जीव तब देह से प्राण को चयन करने लगता है। इसी साधना को प्राणप्रतिष्ठा कहते हैं। जब तक जीव केवल शरीर में ही मुग्ध रहता है; तब तक वह साधारण जीव मात्र

है। और जब शरीर से प्राणों का चयन करता है तब वह जीव श्रेष्ठ सिंह है। शरीर-जड़ है, प्राण चैतन्य है। जड़ में चैतन्य की तलाश है। प्रत्येक जड़ पदार्थ मानो चैतन्य (प्राण) का लीला क्षेत्र है, उसमें प्राण को हर जगह (पकड़ पकड़ कर) समझने का नाम ही प्राण प्रतिष्ठा है।

आपका छोटा बालक आनन्द से खेल करता है और आप मुग्ध नेत्र से उसे देखते हैं। कभी विचार तो कीजिये, आप किसको पुत्र समझते हैं? कौन आपको मुग्ध करता है? पुत्र का देह या प्राण? देह नहीं करता। यदि रक्त मांस और हड्डियां ही आपको मुग्ध करतीं, यदि रक्त, मांस का देह ही आपका आत्मज होता, तो गत प्राण पुत्र की देह को, कोई भी श्मशान में न पहुंचाता। तब कौन आपका पुत्र है? प्राण, इसी से सजीव देह को प्राणी कहते हैं। जिसके अभाव से शरीर शव-मात्र रह जाता है। साधारण जीव दिन-रात प्राण को परित्याग कर—प्राण की ओर लक्ष्यहीन होकर, केवल जड़ को लिये खेलते रहते हैं। जो इस तरह प्राण को परित्याग कर—शिव की अवज्ञा कर, दिन-रात शव को लिये रहते हैं, भला उनका मङ्गल किस प्रकार होगा? श्मशान में ही जिसका निवास, श्मशान में जिसकी रति हो, तो भी जो श्मशानवासिनी श्यामा मा की ओर से लक्ष्यहीन हो, वह मोह-शोक, मृत्यु हाहाकार से रो-रो के अधीर होने से किस तरह छूटेगा? अजी, आप केवल नाम रूप पर मुग्ध रहें—श्मशान में वास करें मुख से अमृत की बातें कहें, बाबा तो क्या अमृत प्राप्त हुआ! देखिये प्रत्येक देह ही श्मशान है, जब तक देही की ओर लक्ष्य न पड़े, तब तक आप श्मशान में ही रहते हैं, आपका घर कितना ही बहुमूल्य साज-सामग्री से सुसज्जित क्यों न हो, कितनी ही उत्तम प्रकाशमाला से सुशोभित हो, कितने ही पुत्र-कलत्र, सेवकादि

के कल-कोलाहल से मुखरित हो, परन्तु यदि गृह की अधिष्ठात्री चैतन्यमयी मा की प्रतिष्ठा न हुई हो तो वह श्मशान मात्र है। आपका देह कितने ही बहुमूल्य वसन भूषण से सजा हुआ हो, कितनी ही विद्या बुद्धि से प्रकाशित हो, कितना ही उच्च गौरव का पात्र हो, यदि प्राण (मा) की ओर लक्ष्य न रहे, यदि देह को मातृ मन्दिर न समझ सको तो वह भी श्मशान या शव देहमात्र है। अजी जो जन तुम्हारे हृदय में रह कर "मैं-मैं" करता है, जिसके देह छोड़ कर अलग खड़े हो जाने पर, वह कमनीय देह भी अमङ्गल समझ कर घर से बाहर ले जाया जाता है उस मङ्गलमयी, श्मशानवासिनी मा को, प्रत्येक पदार्थ में, प्रत्येक देह में देखो तो सदा मङ्गल होगा, जगत् में अमङ्गल कहीं भी दिखाई न पड़ेगा।

जो लोग श्मशानवासिनी को तलाश करते हैं, वे कितनी घोर तपस्या करते हैं, परन्तु वह देखो—आपके हृदय के भीतर ही प्राणरूप से नित्य विराजमान है, जानने की बात कहकर उपेक्षा न करो! श्रद्धा और दृढ़ विश्वास सहित उसी के शरणागत हो, तब श्मशानवासिनी का पता मिलेगा, यदि कहो कि हमें तो प्राण दीखता नहीं, समझ नहीं पड़ता; तब किसके चरणों की शरण लें? वह प्राण नाम से जो बोध है, प्राण की कुछ वेदन (अनुभूति) है; जो सुख पाने पर फूल उठता है, दुःख में संकुचित हो जाता है उसी को लक्ष्य करके, उसकी ओर चित्त-वृत्ति प्रवाहित करके मा! मा! कह कर रोओ! उसी के उद्देश्य करके अपने भोग अर्पण करो, उसी से अपने सुख-दुःख की बातें निवेदन करो, अपने सब भोग जब उसी के उद्देश्य से अर्पण कर सकोगे तब तुम्हें श्मशानवासिनी प्राप्त होगी। श्यामा मा का आदर पाकर तुम्हारा जीवन धन्य होगा।

मुनिये, 'प्राण' कहने से ही एक अखण्ड ... चैतन्य-

बोध निश्चय तुम्हारे हृदय में फूट उठता है, उस बोध को प्रत्येक पदार्थ में ले जाओ, रूप, रस, शब्द, स्पर्श, गन्ध प्रत्येक विषय में प्राण के दर्शन करते रहो, शरीर शरीर से प्राण संग्रह करो, इसी का नाम प्राण-प्रतिष्ठा है। सत्य प्रतिष्ठा जिस प्रकार पहले पहल सीखते समय नक़ल जान पड़ती है, यह भी पहले पहल नक़ल ही जान पड़ेगी। तो भी छोड़ना नहीं। कुछ दिन नक़ल करते करते ही इसका असल मर्म भी समझने लगोगे अथवा जो सत्यप्रतिष्ठा में अभ्यासी हुए हैं, जिनका चिदाकाश स्थायी हुआ है, वे फिर इसे नक़ल नहीं मान सकते। मान लीजिये कि आप एक वृक्ष देखते हैं, सत्य प्रतिष्ठा की सहायता से उसको मा! सत्य रूप धारणा करते हो। प्राण ही उस सत्य का स्वरूप है। चैतन्य-हीन सत्य, न है न रह सकता है। प्राण की अनुभूति, उपलब्धि किस प्रकार होती है वह फिर किसी से कहकर नहीं समझानी होती, अपने अपने प्राण का अस्पष्ट अनुभव मनुष्यमात्र को ही है, वह प्राण ही सम्मुख स्थित वृक्ष के आकार में दीख रहा है ऐसी धारणा करो। वृक्ष देखते ही मानो एक प्राणमय सम्वेदन फूट उठे। इस तरह प्रत्येक पदार्थ में कर सकने से ही विश्वव्यापी एक अखण्ड प्राणमय सत्ता बोध फूटता रहेगा। ओः वह कैसा लोभनीय! कैसा मधुमय! यह विश्व एक घन चैतन्य मय सत्ता रूप से अनुभव होता है। रूप रसादि विषयों की जो विभिन्न सत्ता है वह बिलकुल विलय हो जाती है। साधारण दृष्टि से जगत् को जिस तरह एक घन सत्य पदार्थ समझते थे, प्राण प्रतिष्ठा होने पर फिर वह नहीं रहता। तब जगत् की पृथक् सत्ता खोजने पर भी नहीं मिलती, केवल घन चैतन्य। आप जो चिद्घनशब्द सुनते हैं, वह वास्तव में क्या वस्तु है, उसे यहां आने पर अनुभव कर सकोगे। यथार्थ में वह पत्थर से भी घन है। इस तरह प्राण प्रतिष्ठा में जो सिद्ध

हैं, केवल वे साधक ही बाह्य पूजा अर्थात् प्रतिमा पूजा कर सकते हैं। मिट्टी की प्रतिमा में प्राण प्रतिष्ठा करने से वह यथार्थ ही चिन्मयी मूर्ति से अपना प्रकाश करती और पूजा ग्रहण कर सन्तान को धन्य करती है, यह प्राण प्रतिष्ठा साधकों के ही अनुभव योग्य है। परन्तु वह दूसरी बात है।

अस्तु, साधक को शरीर से प्राणों का चयन करना ही होगा। ऐसा करते करते ही महाप्राण का पता पाया जाता है और प्राण ही जड़ के आकार से आकारित है, यह भी अच्छी तरह अनुभव होता है। जीव! अपने हृदय में जो क्षुद्र चैतन्य का अनुभव करता है, वही सृष्टि, स्थिति, प्रलय करने वाली महा प्राणमयी मा है, यह न समझने ही के कारण तो तुमको दुःख, कष्ट, शोक, ताप, जन्म-मृत्यु की पीड़ा सहनी पड़ती है। राज राजेश्वरी मा को कङ्गालिनी बनाकर मलिन घर में बैठा रक्खा है इसी से तो आपकी यह दीनता, दुर्बलता दूर नहीं होती, इनके हाथ से परित्राण पाने के लिये प्रत्येक पदार्थ में प्राण प्रतिष्ठा करनी होती है, याद रखिये कि प्राण दिये बिना प्राण नहीं मिलता। जगत् को सत्यरूप—मा रूप समझा है उसी के चरणों में ढाल दीजिये, फिर देखोगे कि आपके प्राण ही जगत् का आकार धारण किये सजे हुए हैं।

प्राणमयी मा! समझ लिया कि तुम्हें प्राण देने से ही जीवत्व का अन्त होता है और असुरों का अत्याचार सदा के लिये निवृत्त होता है। परन्तु क्या करें, मा! किसी प्रकार तुम्हारे चरणों में प्राण अर्पण कर विभोर हुआ नहीं जाता क्योंकि हम अनाथ, दुर्बल, त्रिताप दग्ध, अज्ञान सन्तान हैं, तुम दया करके हमारे प्राण निकाल लो; हम नहीं जानते कि किस तरह तुमको प्राण अर्पण किये जा सकते हैं। हमारे प्राण तो संसार के हानि लाभ के हिसाब में बिलकुल विमूढ़ हैं।

किस तरह तुमको दें मा ? तुम कृष्ण हो, महाआकर्षणी शक्ति का प्रयोग कर हमारे ये प्राणविन्दु अपने प्राण-सिन्धु में मिला लीजिये, जिससे हम धन्य हों और आपका पतितपावन नाम सार्थक हो। सुना जाता है कि श्री वृन्दावन में आपने कृष्णरूप से गोपियों के घर में मक्खन चुराते समय गोपियों के प्राण भी हरण किये थे, उसी तरह हमारे प्राण भी हरण करो, हम स्वेच्छा से तो किसी तरह प्राण देंगे नहीं। यदि हमको मालूम भी हो जायगा तो सामने आते ही तुमको भगा देंगे; परन्तु फिर तुम्हारी वह त्रिलोक-मोहिनी मूर्ति देख, मोहित हो, अकस्मात् प्राण न दे डालें, इस भय से किवाड़ बंद किये बैठे हैं। इसी से कहते हैं कि तुम लुका चोरी की तरह अज्ञात सार में आकर हमारे प्राणों की चोरी करो, अजी दयाकर चोरी करो तो हम उस शाश्वत शान्ति का आस्वाद लेकर इस त्रिताप से जलती छाती को शीतल कर सकें। साधक ! जब तक प्राण अर्पण समाप्त न हो, आओ तब तक ऐसा ही करके रोवें। दया करके, नहीं-नहीं, दया नहीं, स्नेह से आकुल होकर किसी न किसी दिन मा निश्चय ही आशा पूर्ण करेगी।

अस्तु, साधक ! तुम्हें जगत्मय मातृ-दर्शन में अभ्यास हो गया है। वह मा ही प्राण है, यह समझ सकने से ही प्राण प्रतिष्ठा होती है। अन्तर में जब असुर भाव एक के बाद एक आकर शान्ति भङ्ग किया करते हैं, तब उनको पकड़-पकड़ कर प्राण रूप से दर्शन किया जाता है, प्राण ही उन भिन्न-भिन्न रूपों में आता है, बार बार इस अभ्यास की सहायता से मर्म्म मर्म्म में अनुभव करते हैं। याद करो, प्रथम खण्ड में लिखा हुआ सन्देश (पेंड़े) का दृष्टान्त। बाहर का आकार चाहे जैसा हो, परन्तु वह प्राण के सिवाय और कोई नहीं है, यह बोध जाग्रत रखने की चेष्टा करो। यही असुर शरीर से प्राण

का चयन है। कुछ दिन ऐसा अभ्यास करते करते प्राणमय ग्रन्थि खुल जायगी, प्राण शब्द से जो हृदय में एक छोटा सा प्राण मानते हो यह अज्ञान दूर हो जायगा। विष्णु ग्रन्थिभेद होगा। तब देखने लगोगे कि यह अनन्त वैचित्र्य पूर्ण जगत् तुम्हारे प्राण के सिवाय कुछ है ही नहीं। तब अपने प्राणों के महाप्रसार को देख कर मुग्ध हो जाओगे और अपने को जन्म मृत्यु के अतीत नित्य शान्तिमय समझ सकोगे। अथवा उस समय साधक को कैसा आनन्द और मधुमय अवस्था होती है वह लिखकर नहीं समझाई जा सकती।

इस मन्त्र में सिंह के दो विशेषण हैं, "महानादनुत्सृजन्" और "धूत केशरः" सिंह जब असुर देह से प्राण चयन करता था, तब भीषण शब्द करता था और उसके केशर कम्पित होते थे, पहले विशेषण से उल्लास (आनन्द) और दूसरे विशेषण से क्रोध सूचित किया है। आसुरिक वृत्तियों को समूल विलय करने के लिये आनन्द और क्रोध दोनों ही आवश्यक हैं। पूर्ण उद्यम से आसुरिक वृत्तियों के विरुद्ध खड़ा होना होता है। मातृ चरण स्पर्श से धन्य और महान उत्साह सम्पन्न जीव (सिंह) मातृ-प्रेरित क्रोध और आनन्द का अभिनय करता है। यह बन्धन का हेतु नहीं; बल्कि बन्धन छोड़ने का उपाय या बाह्य लक्षणमात्र है। साधक! तुम भी ऊँचे स्वर से मा! मा! कहकर अग्रसर होगे, जब अन्तर बाहर पूर्ण भाव से प्राणों का प्रसार देख पाओगे, तब फिर चुप रह ही नहीं सकोगे और न अपने को दुर्बल, पीड़ित जीव मान सकोगे, विराट् प्राण का उल्लास देखकर तुम भी बड़े आनन्द से मा! मा! शब्द से दिशाओं को कम्पायमान कर डालोगे। तुम्हारे उस मातृ-आह्वान से वायु-मण्डल पवित्र होगा। जो उस आह्वान को सुनेगा वह भी जलती हुई अग्नि में पतंगे की भाँति मा! मा! कहता हुआ अपनी

आहुति देने को अग्रसर होगा। अोः उस अवस्था की बात स्मरण करने से भी प्राण आनन्द से नाचने लगते हैं ॥ ६७॥

देव्यागणैश्च तैस्तत्र कृतं युद्धं तथासुरैः।
यथैषां तुतुषुर्देवाः पुष्पवृष्टिमुचोदिवि ॥ ६८ ॥

अनुवाद। उस युद्धस्थल में देवी के गण सैन्य ने भी असुरों के साथ ऐसा युद्ध किया कि स्वर्ग में देवता (सन्तुष्ट होकर) उन पर फूलों की वर्षा करने लगे ॥ ६८ ॥

व्याख्या—गण सैन्य और उनका युद्ध विवरण इससे पहले व्याख्यात हुआ है। देवताओं की पुष्प वर्षा का तात्पर्य-आशीर्वाद और शक्तिदान है। जीव जब मातृ चरणों में आत्म-समर्पण कर मातृ-शक्ति से शक्तिमान् होकर प्राण-प्रतिष्ठा रूप अमोघ अस्त्र लेकर असुरों के विरुद्ध खड़ा होकर अपनी सामर्थ्यानुसार युद्ध करता है, तब देवता शक्ति और विजयाशीर्वाद देकर जीव को विशेष उत्साहित करते हैं। जीव जब तक असुर शक्ति का पोषण करता है, तब तक देवशक्ति पराजित रहती है, किन्तु एक बार साहस करके असुर शक्ति के प्रतिकूल खड़े होने से देवशक्ति उत्साह सम्पन्न और प्रसन्न होती है। गीता (३।११) में भी ठीक यही बात कही है—जीव देवशक्ति के पोषक हैं, और देवता जीवों का कल्याण करने वाले हैं। इस तरह एक दूसरे की उन्नति करने वाले हैं। जीव जब तक यह तत्त्व सम्यक् हृदयङ्गम नहीं कर सकते, तब तक वे देवताओं से आशीर्वाद और शक्ति पाकर उन्नति मार्ग में आगे नहीं बढ़ सकते; आज मा की कृपा से जीव के निःश्वास तक असुर शक्ति के प्रतिकूल खड़े हैं, जीव पूर्ण रूप से असुर शक्ति का लोप करने को तय्यार है, इसी से देव शक्ति प्रसन्न होकर आशीर्वाद और शक्ति देती है।

साधक ! तुम यदि कुछ भी साधन मार्ग में आगे बढ़ो, तो देखोगे कि अन्तरस्थित देवता तुम्हारी साधना की गति को और भी तीव्र करने के योग्य शक्ति प्रदान करते हैं। जब तक अपने को दुर्बल और असमर्थ समझ कर साधना से दूर रहोगे, तब तक यथार्थ ही यह हानिकारक और कण्टकमय प्रतीति होगी। परन्तु यदि आप एक पग भी आगे बढ़ेंगे तो देखेंगे कि भगवान् तुम्हारी ओर तीन पग बढ़ आये हैं। "मैं सन्यासी हूँ, मैं विषयासक्त हूं, मैं कामिनी—काञ्चन प्रिय हूँ, अतएव हमारे लिये साधना के मार्ग में उन्नति होना असम्भव है।" यह समझ कर डरो या पीछे मत हटो। जो जिस अवस्था में है, उसे उसी अवस्था में भगवान मिल सकते हैं। कुछ भी त्याग वा ग्रहण नहीं करना होता, केवल पाने की इच्छा जाग्रत होने से ही वह मिल जाता है। तब समस्त देवशक्ति आपके अनुकूल खड़ी होकर आप को आशीर्वाद और शक्ति देकर आगे बढ़ने की सामर्थ्य प्रदान करेंगी।

आओ भीत सन्त्रस्त सन्तान ! आओ त्रिताप दग्ध सन्तान ! सब मिल कर सम स्वर से मा कह कर पुकारें, जिससे देवता हमारे मस्तक पर भी पुष्प वर्षावें ! हम धन्य हों॥ ६८॥

इति मार्कण्डेयपुराणान्तर्गत सावर्णिक मन्वतरीय उपाख्याने देवी माहात्म्य वर्णने महिषासुर, सैन्यवधो नाम द्वितीयोऽध्यायः। एवं साधन-समर द्वितीय खण्डे प्रथम अध्यायः।

भजन—भूल गया, भूल गया, भूल गया रे,
परदेशी तू निज घर भूल गया रे।
यहां परदेशी लोग पराये, अपने तूने जिन्हें बनाये।
संग न जावें संग न आये, देख तू इनको फूल गया रे॥ परदेशी०॥
ठगिनी ने तू ऐसा घेरा, मुश्किल है अब छुटना तेरा।
कैसे भागे घोर अन्धेरा, और न जिस पर तुल गया रे॥परदेशी०॥

जो पूंजी लाया था घर की, वह तूने यहां इधर-उधर की।
भ्रमता बहुत ब्याज खातिर की, ब्याज तो ब्याज तेरा मूल गया रे॥
वाणी श्रवण करो सद्गुरु की, जा से याद होय घर धुर की।
"आनद" शरण मिलै सुर-पुर की, अब तक वक्त फिजूल गया रे॥
॥परदेशी०॥

१—हाथ, पांव, मुख, नेत्र, मेज, कुर्सी आदि अन्नमय कोष के शब्द हैं।

२—खाना, बोलना, चलना, फिरना, प्राणमय कोप के कार्य्य हैं।

३—दया, मया, स्नेह, प्रीति, सुख, दुःख, वेदना आदि मनोमय कोप में होते हैं।

४—महत्त्व, नीचता, साधुता, महानुभवता, क्षुद्रता, क्रियाशीलता, गतिशीलता आदि का विज्ञानमय कोप से सम्बन्ध है।

५—देह, इन्द्रिय, मन की वृत्तियां, और आत्मा मिल कर अपना आप कहा जाता है।

६—अध्यात्म जीव रूप से उत्पन्न ब्रह्म।

सत्—उज्वल, शुद्ध प्रकाश, ज्ञानानन्द-ज्ञानरूपी राम जन्म।

रजः—रंगविरंगा प्रकाश, यह बीच में रहता है, प्रकाश और अन्धकार, ज्ञान और अज्ञान, सुख और दुःख, इससे वैराग्य और योग दो पुत्र उत्पन्न होते हैं। लपन और शत्रुघ्न।

तमः—काला अन्धकार, मूढ़ता, उदासीनता—इससे भक्तिरूप भरत उत्पन्न होते हैं।



साधन समर वा देवी माहात्म्य

द्वितीय खण्ड, द्वितीय अध्यायः ।

ऋषिरुवाच । निहन्यमानंतत्सैन्यमवलोक्य महासुरः ।
सेनानीश्चिक्षुरः कोपाद्ययौ योद्धमथाम्बिकाम् ॥ १ ॥

अनुवाद । ऋषि बोले—"अनन्तर असुर सैन्य को मरती हुई देख कर प्रधान सेनापति चिक्षुर (विक्षेप शक्ति) स्वयं युद्ध करने के लिये क्रोध कर अम्बिका की ओर दौड़ा ॥ १ ॥

व्याख्या । यहाँ तक असुर सैन्य दल के मारे जाने का विवरण कहा गया है; अब सेनापतियों का युद्ध और मारे जाने की कथा व्याख्यात होगी । मातृ-कृपा से आत्माभिमुखी प्रकृति की आकर्षणी शक्ति के प्रभाव से आसुरिक भाव हराये गये हैं, किन्तु रजोगुण की प्रधान कार्य्य शक्ति—जिसको विलय किये विना, फिर आसुरी शक्ति वृत्तियों की पीड़ा का भय दूर नहीं होता, उस पर साधक का ध्यान जाता है पूर्व (१ । ३६) में कहा है कि-विक्षेप शक्ति ही चिक्षुर है, जिस शक्ति के प्रभाव से हम मा को देख नहीं पाते, जिसके प्रभाव से हम अपने स्वरूप का अनुभव करते न करते भी रूप रसादि विषयाकार में जा पहुंचते हैं, वही अजेय असुर चिक्षुर है । इसके अत्याचार से बचने के लिये जितनी जल्दी करनी पड़ती है उतनी शायद और किसी के लिये आवश्यक नहीं होती । अनेक साधक इस विक्षेप को दूर करने के लिये अनेक प्रकार के योग कौशल हठ-क्रिया, प्राणायाम, अनेक प्रकार के कठोर व्रत, नियमादि साधन किया करते हैं । वे समझते हैं कि किसी उपाय से चित्त विक्षेप दूर होने से परमात्म-स्वरूप अपने आप प्रकाशित हो जायगा । [illegible] उद्योग करते हैं ।

उनका सिद्धान्त यह है कि जल की लहरें ठहर जाने से चन्द्रमा की परछाईं पूर्ण भाव से प्रत्यक्ष होती है; इसके लिये फिर कुछ प्रयास नहीं करना पड़ता। यह सिद्धान्त भी अवश्य सत्य है। परन्तु ऐसे साधक कोई हैं या नहीं कि जो विक्षेप के हाथ से इस तरह छूट गये हों, हम ठीक ठीक नहीं कह सकते। जब तक देह है तब तक विक्षेप भी रहेगा ही; विक्षिप्त भाव का नाम ही जीव है। परन्तु कठोर संयम, तीव्र वैराग्य और दीर्घ काल अभ्यास के फल से विक्षेप की मात्रा कुछ कम हो जाती है।

परन्तु हमें दूसरे मार्ग का पता लगा है—जो आजकल के देश काल और अधिकारियों के पक्ष में अधिक सहज और उपयोगी है। मा हमें उस सरल मार्ग पर जाने के लिये बार बार सङ्केत करती है। वह ऋषिजन सेवित वैदिक मार्ग है (१)। हम विक्षेप विक्षेप कह कर व्याकुल न हों, बल्कि सरल प्राण शिशु की तरह मातृ चरणों में आत्म निवेदन करके पूर्ण निश्चिन्त और स्वाधीन भाव से बैठ रहें; विक्षेप हो, चाहे आवरण हो, चाहे किसी भी तरह का अत्याचार हो, सब अवस्था में ही मातृ-चरण में पूर्ण निर्भरता मात्र लक्ष्य करके अग्रसर हों। फिर जो कुछ व्यवस्था करनी होगी, वह स्वयं मा ही कर देगी। हम मा की गोद में बैठे हुए नग्न शिशु हैं। उन सब बातों का विचार विवेचन करने की हमें आवश्यकता, अधिकार और सामर्थ्य नहीं है। आओ साधक! हम मा कह कर पूर्ण विश्वास से महाशक्ति की स्नेहमय गोद में उछल कर बैठ जायें। हमारी जो कुछ साधना तपस्या है, सब मा करा लेगी। हमारा किस में

---

(१) "वैदिक युग में ईश्वर उपासना" नामक आर्ष ग्रन्थ देखिये, २५० ग्राहकों की नामावली आने पर प्रकाशन प्रारम्भ किया जायगा। मूल्य लगभग १॥) होगा (अनुवादक) पता:— शिवनारायण शर्म्मा c/o वीर मण्डल—माईथान, आगरा।

कता होगा और किस में न होगा, वह विवेचना हमारी अपेक्षा मा ही अधिक समझ सकती है; अतएव क्यों हम दिन रात विषयों और साधना में माथापची करते रहें। युद्ध करती है मा करें, विक्षेप दूर करती है मा ही करे, हम तो द्रष्टामात्र मा की विचित्र लीला देखते जायेंगे। सुख दुःख में, हर्ष विषाद में, विक्षेप स्थिरता में, सब अवस्था में हम तो द्रष्टामात्र अङ्कस्थित आनन्दमय निर्विकार नग्न शिशु हैं।

अजी, यदि अच्छी तरह समझ में आ जाय कि सचमुच हमारे प्राण ही मा है, वह पुत्र स्नेह से आकुल है और जिस तरह हमारा भला हो निरन्तर वही किया करती है। तब हमारे विचारने का विषय क्या रह सकता है? इसी से मन्त्र में भी देखते हैं—"ययौयोद्धुमथाम्बिकाम्"। असुर अम्बिका से युद्ध करने गये। हमारे साथ तो युद्ध करने को आये नहीं हैं। विक्षेप, आवरण, दम्भ, दर्प, अभिमान, मोह आदि कोई भी हो, उसमें हमारा क्या? हमारे साथ कुछ युद्ध नहीं। हमतो धीर स्थिर केवल लीला देखने वाले हैं। इसी से असुर हमको छोड़ कर अम्बिका के साथ युद्ध में प्रवृत्त हुए हैं।

देखिये, आत्म-समर्पण योगी को कितनी सुविधा है। महासुर चिक्षुर युद्ध करने गया है, मा के साथ में। योगी असुरों की मृत्यु मात्र ही न देखे, बल्कि वह मा के खेल को देखे। योगी की—"मामेकं शरणं व्रज" मन्त्र की साधना में सिद्ध साधक की जो अवस्थायें (वहिर्लक्षण) प्रकाशित होती हैं, वे ही इस चण्डी तत्व में वर्णित हैं। यह कथा पूर्व अनेक बार कही गई है। यहां फिर वही स्मरण करा देते हैं। आत्म-समर्पण ही साधना है। अनेक अवस्थायें पार कर लेने पर साधक इसका पता पाते हैं। इस साधना में सिद्ध होने से साधक का देह, मन, इन्द्रिय आदि मातृ-शक्ति विकाश यन्त्र स्वरूप हो जाते

हैं। यह दिखाने के लिये ही देवी माहात्म्य के ऋषि ने सुरथ समाधि को उपलक्ष्य करके अभूतपूर्व रहस्य की अवतारणा की है। असुर मारे जाने के आधार से आध्यात्मिक तत्व को खोलकर अज्ञानान्ध जगत के ज्ञान चक्षु खोलने की चेष्टा की है।

पूर्व परिच्छेद में देवी के वाहन सिंह का युद्ध वर्णन करने में जीव का जो प्रयोग कहा गया है, उसके साथ आत्म समर्पण वा पूर्ण निर्भरता का कुछ विरोध नहीं! कारण कि मातृ-शक्ति ही जीव देह रूप यन्त्र द्वारा पुरुषकार रूप में प्रयुक्त होती है। जीव जब तक आत्म-समर्पण का आस्वाद नहीं पाता तब तक पुरुषकार वस्तु का असल स्वरूप अनुभव नहीं कर सकता, अजी पुरुषकार का पुरुष भी मा है, पुरुष को जाने बिना उसका कार्य किस तरह देख पाओगे? यह कभी स्वप्न में भी विचार न करो कि मातृ चरण पर पूर्ण निर्भरता आने से मनुष्य जड़वत् अवस्थान करता है। यथार्थ कर्म्म शक्ति आत्म-समर्पण योगी में ही प्रकाश पाती है। अतएव साधक! आत्म-समर्पण की साधना करो। आत्म-समर्पण में अग्रसर हो, याद रक्खो कि आत्म समर्पण के बिना आत्म-प्राप्ति नहीं होती। महाप्राण चाहो तो, अपने क्षुद्र प्राण मा के प्राण में मिलादो। अपनी छोटी मैं को भूल जाओ। मा (गुरु) की मैं को दोनों हाथों से थाम लो। तो सैकड़ों असुर निहत होंगे, अनेक लीलाओं का अभिनय होगा; परन्तु तुममें कर्तृत्व का लेश भी स्पर्श न करेगा। तुमको कुछ भी नहीं करना होगा। तुम तो सदा ही द्रष्टा साक्षि मात्र हो, यह यथार्थ अनुभव करके बन्धमोक्ष के कल्पित भ्रम से छूट जाओगे॥ १॥

स देवीं शर वर्षेण ववर्ष समरेऽसुरः।
यथा मेरु गिरेः शृङ्गं तोयवर्षेण तोयदः॥२॥

अनुवाद। सुमेरु पर्वत के शिखर पर जैसे मेघ जल वर्षाते हैं उसी तरह वे असुर समर क्षेत्र में देवी पर बाणों की वर्षा करने लगे।

व्याख्या—इस मन्त्र का दृष्टान्त बड़ा सुन्दर है। मेघ जो जल वर्षाता है वह सुमेरु पर्वत के शिखर पर नहीं पड़ता, कारण सुमेरु शृङ्ग इतना ऊंचा है कि वहां तक मेघ जा ही नहीं सकते। कुमारसम्भव महाकाव्य में महाकवि कालिदास ने कहा है—"आमेखलं सञ्चरतां घनानाम्" मेघ हिमालय पर्वत की मेखला अर्थात् कमर तक विचरते हैं, उससे ऊंचे नहीं जा सकते। सुमेरु शिखर हिमालय से भी अधिक ऊंचा है। अतएव वहां बादलों का वर्षा करना कभी सम्भव नहीं। ठीक इसी तरह महासुर चिक्षुर लगातार बाण वर्षा करता रहा, परन्तु वे देवी के अङ्ग को स्पर्श भी नहीं कर सके।

मा सच्चिदानन्द स्वरूपा, अवाङ्मनस गोचरा, मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि दृश्य वर्ग से पार अवस्थित हैं; अतएव चित्त विक्षेप से उत्पन्न अत्याचार उसे किस तरह स्पर्श करेंगे? इसी से चिक्षुर के बाणों का जाल मातृ-अङ्ग को स्पर्श नहीं कर सका, अजी मन जिसको मनन नहीं कर सकता, जिसकी सत्ता और प्रकाश से मन की सत्ता और प्रकाश है, मन की चञ्चलता उसे किस तरह पीड़ित करेगी? जब तक मा का स्वरूप जाना न जाय, तब तक ही असुरों का भय है, तब तक ही विक्षेप निवारण करने के लिये अनेक आयोजन आवश्यक हैं। मा आत्मा है, वह नित्य प्रसङ्ग, नित्य शुद्ध, नित्य मुक्त है, विक्षेप जिस तरह चित्त का धर्म्म है, निरोध भी उसी प्रकार चित्त का ही धर्म्म है। समाधि और चञ्चलता दोनों ही चित्त के ऊपर नहीं जा सकते; अतएव चित्त के धर्म्म चिन्मयी को किस तरह स्पर्श करेंगे?

तस्यच्छित्त्वा ततो देवी लीलयैव शरोत्करान् ।
जघान तुरगान् बाणैर्यन्तारञ्चैव वाजिनाम् ॥ ३ ॥
चिच्छेद च धनुः सद्यो ध्वजञ्चाति समुच्छ्रितम् ।
विव्याध चैव गात्रेषु छिन्नधन्वानमाशुगैः ॥ ४ ॥

अनुवाद। अनन्तर देवी ने अनायास उस चिक्षुर के बाण काट कर, अपने बाणों से घोड़ों और सारथी को मार डाला, और बाणों के द्वारा तुरन्त धनुष और बहुत ऊँची ध्वजा काट कर वही टूटा धनुष असुर के शरीर में वेध दिया ॥ ३।४॥

व्याख्या। पूर्व मन्त्र में कहा गया है कि चिक्षुर के चलाये हुए बाण मातृ-अङ्क स्पर्श भी नहीं कर सके। अब मा का पराक्रम वर्णन करते हैं। मा ने छः कार्यों द्वारा अपनी शक्ति प्रकट की थी। (१) चिक्षुर के चलाये बाण काटना, (२) घोड़ों को मार डालना, (३) सारथी को मार डालना, (४) धनुष का काट देना, (५) ऊंची ध्वजा काटना, (६) चिक्षुर के अङ्गों में बाण वेधना। आओ साधक ! क्रम से हम इन छः क्रियाओं का रहस्य हृदयङ्गम करने की चेष्टा करें।

(प्रथम) चिक्षुर का बाण काटना। चित्त क्षेत्र में वैषयिक चञ्चलता उत्पन्न करने वाला वेग ही चिक्षुर का बाण है। उसके काटने का उपाय प्राणप्रतिष्ठा रूप बाण छोड़ना है। चित्त में ज्यों ही वैषयिक स्पन्दन उठें, त्यों ही उन्हें विराट प्राण का स्पन्दन रूप समझने की चेष्टा करो। महा प्राणमयी मा अन्तर में रह कर विषय के आकार से अपना प्रकाश करती है। रूप रसादि अथवा काम काञ्चनादि सब ही हमारे प्राण-मा हैं। इस बोध का प्रवाह कुछ काल रख सकने से विषयों का स्पन्दन निवृत्त हो जाता है। यही परीक्षित सत्य है।

(२य, अश्वनिधन) अश्व शब्द का अर्थ है इन्द्रियां। श्रुति

कहती है—इन्द्रियां ही अश्व स्थानीय हैं। चित्त क्षेत्र के वैषयिक स्पन्दन इन्द्रिय अश्वों की सहायता ही से विषयों तक उपस्थित होते हैं। रूप रसादि पांच विषय ही इन्द्रिय रूप घोड़ों के भोग्य-स्थान हैं। प्राण प्रतिष्ठा के प्रयोग कौशल से वैषयिक स्पन्दन को प्राण रूप दर्शन कर सकने से इन्द्रिय वेग भी प्राणमय भाव में मुग्ध हो जाते हैं। अतएव उनकी विषयाभिमुखी गति निवृत्त हो जाती है। यही अश्वनिधन का तात्पर्य्य है।

(३य-सारथी का निधन) इन्द्रियों का चालक है मन; इन्द्रियां प्राणमय होने से उनका परिचालक मन स्वयं प्राणमय हो जाता है, क्योंकि इन्द्रियों के लाये हुए विषय मन में ही अर्पित होने हैं। जब तक चक्षुः आदि इन्द्रियां केवल रूप रसादि लाकर मन को देती है, तब तक मन विषयों की परिच्छिन्नता और जड़ता में मोहित रहता है। इन्द्रियां प्राणमय होने से वे रूप रसादि आकार से केवल प्राण को ही वहन करती हैं, इस तरह इन्द्रियों के द्वारा मन के निकट जो कुछ उपस्थित होता है वह सब प्राण रूप में आता है, अतएव मन के वैषयिक भाव बहुत्व विषयक संकल्प विकल्प बिलकुल निवृत्त हो जाते हैं। यही सारथी का निधन रहस्य है।

चौथा—धनुष काटना। इसका अर्थ है कर्म्म धनुष का छेदन। सर्वत्र प्राण प्रतिष्ठा के फल से अन्तर बाहर महा प्राण का प्रसार देख कर कर्म्मेन्द्रियां इतनी मुग्ध हो जाती हैं कि विषय आहरण रूप अहंकार मूलक कर्म्म से विरत होती हैं। यही चिक्षुर का धनुष कट जाना है।

पांचवां—उन्नत ध्वजा काटना। अहं कर्तृत्व ज्ञान ही उन्नत ध्वजा है। विश्वमय प्राण दर्शन करते रहने से, विश्व के सब कर्म्म प्राण द्वारा सिद्ध होते हैं यह समझा जाता है। "मैं तो कहीं कुछ नहीं करता, सब प्राणमयी मा की महती इच्छा

से सम्पन्न होता है।" "प्राण स्येदंवशे सर्वं त्रिदिवे यत् प्रतिष्ठितं" तीनों लोक में जो कुछ है वह सब हमारी प्राण रूपिणी मा के ही वश में है" इस ज्ञान पर प्रतिष्ठित होने से फिर कर्तृत्व ज्ञान की उच्च ध्वजा किस तरह रहेगी ?

छठे—चिक्षुर के सर्वाङ्ग में बाण बेधना। पूर्वोक्त प्रकार से महासुर चिक्षुर की जब ध्वजा कट गई और सारथी मारा गया, तब मा ने उपयुक्त अवसर पाकर उसका सारा शरीर बाणों से वेध दिया। यह पूर्व कहा है कि प्राणप्रतिष्ठा का प्रयोग ही मा का बाण चलाना है। चित्तगत प्रत्येक स्पन्दन को प्राण रूप से समझने की चेष्टा ही मा का बाण वेध देना है। जब विक्षेप शक्ति अधिक दुर्बल हो जाती है, तब दृढ़ अध्यवसाय से बार-बार प्रतिष्ठा करनी होती है। ऐसा करने से चिक्षुर वा विक्षेप शक्ति (प्राणमय होकर) वैषयिक चञ्चलता परित्याग करने को बाध्य होती है।

(अभूतपूर्व रण कौशल) जो प्राण प्रतिष्ठा में अभ्यस्त साधक हैं, वे ही यह संग्राम रहस्य अच्छी तरह अनुभव कर सकेंगे। दिन रात में कम-से-कम एक बार भी यदि यह संग्राम प्रत्यक्ष किया जाय तो साधनमार्ग निश्चय ही सुगम हो जाय। अजी पूर्व सत्य प्रतिष्ठा का अभ्यास करते समय मा रूप में किसी अनजान वस्तु की सत्ता मात्र समझ लेने पर भी, हम मा को दूर देखते थे, कि न जाने कौन कहां विश्व ब्रह्माण्ड के परपार मा होगी, यही समझते थे; किन्तु मा का स्वरूप नहीं जाना था। अब गुरु कृपा से यह समझ में आया कि तुम्हारे हृदय को अनुभूत होने वाला प्राण ही मा है। वह इतना निकट, इतना प्रिय है कि जिसकी सत्ता से तुम्हारी सत्ता और जिसके अस्तित्व से तुम्हारे अस्तित्त्व हैं। जिसके होने से तुम्हारी देह, मन, इन्द्रिय, स्त्री, पुत्र, धन, यश सब कुछ है; वह प्राण ही तुम्हारी

मा है। जो यदि इस समय तुम्हारे हृदय से निकल खड़ी हो तो फिर तुम्हारा कहने को कुछ भी नहीं रहता; वह प्राण ही तुम्हारी मा है। प्रत्येक पदार्थ में, प्रत्येक भाव में प्राण को देख सकने से समझ में आ जायगा कि तुम्हारा प्राणांश ही विश्व प्राण है। फिर चित्त का विक्षेप लक्ष्य कर प्राण प्रतिष्ठा करने पर भी समझ सकोगे कि चित्त या विक्षेप रूप में जो कुछ है वह सब प्रियतम प्राण ही है। एकान्त आश्रय प्राण रूपिणी मा के सिवाय कहीं भी कुछ नहीं है ॥ ३, ४ ॥

सच्छिन्नधन्वा विरथो हताश्वो हत सारथिः ।
अभ्यधावत तां देवीं खड्गचर्म्मधरोऽसुरः ॥ ५ ॥

अनुवाद। इस तरह चिक्षुर का धनुप कटा, रथ टूटा, घोड़े और सारथी मारा गया, तब वह असुर ढाल, तलवार लेकर देवी पर दौड़ा।

व्याख्या—ढाल, तलवार शब्द का तात्पर्य समझ सकने से इस मन्त्र का अर्थ सुगम होगा। खड्ग दो विभाग करने वाला अस्त्र है। भेद ज्ञान का नाम ही खड्ग है, प्राण (मा) के बिना हमारी और इस जगत् की कुछ सत्ता नहीं है। यह अनुभव हुए बिना ज्ञान नहीं बढ़ता। मन समझता है कि मा एक जन है, और यह परिदृश्यमान जीव जगत् उससे बिलकुल पृथक् है। हजार बार समझने और वेदान्त शास्त्रादि दीर्घ काल पढ़ने पर भी यह भेद बुद्धि दूर नहीं होना चाहती। यही विक्षेप (चिक्षुर) का खड्ग है। मा से हमें बिलकुल दूर कर रखने का यही सबसे प्रधान साधन है।

चर्म्म (ढाल)—मिलन में विघ्न—मलिनता ही ढाल है। भेद ज्ञान जिस तरह आत्मा से जीव को बिलकुल पृथक् सिद्ध कराता है, उसी तरह मलिनता भी भेद बुद्धि दूर कर देने के

उद्यम को विनष्ट कर देती है। जब हम मा कह कर गोद में बैठना चाहते हैं, जब हम मा की छाती से बिलकुल मिल जाने की आशा से आगे बढ़ते हैं, तब ही जीवत्त्व की मलिनता मातृ मिलन के विघ्न रूप से सामने आ खड़ी होती है, मा नित्य शुद्ध आत्मा है, और हम अशुद्ध, अनित्य, अज्ञान और अनात्म-बोध-युक्त हैं, इसी से हम मिल नहीं सकते। इसी से हम सदा से संतापित अपना हृदय मा के स्नेह शीतल हृदय पर स्थापन कर तन्मय हो नहीं सकते। और कभी-कभी यह कहने को बाध्य होते हैं—कि यदि हम अमुक्त दशा में रह कर पूर्ण भाव से मातृ स्नेह भोग कर सकते तो मुक्ति की कोई आवश्यकता ही न थी। परन्तु हाय! यह तो कभी हो ही नहीं सकता; बल्कि मा से प्रेम करने के लिये, यथार्थ मातृ स्नेह भोग करने के लिये, हमको भी मा की तरह नित्य,शुद्ध, बुद्ध होना ही होगा। जब तक रेखा मात्र भी हम में अहंकार है, तब तक समझ लो कि हम मा को प्राण रूप से समझ ही नहीं सके हैं, महा-प्राण-मयी मा के समष्टि प्राण रूप अङ्क में अपने व्यष्टि प्राण बिन्दु नहीं ढाल सके हैं। भला बद्ध प्राण किस तरह मुक्त आत्मा से प्रेम करेंगे! इसी से वैष्णव दार्शनिक कहते हैं कि "जीव कभी ईश्वर हो नहीं सकता।" 'जीव तो सदा जीव ही रहेगा। जीव को तो ईश्वर होने का विचार करना भी पाप है।" उनका यह कहना असङ्गत नहीं है। बिन्दु मात्र जीव भाव रहने पर भी ईश्वरत्व प्राप्त नहीं हो सकता।

जीवत्त्व और ब्रह्मत्त्व, प्रकाश और अन्धकार की भाँति आपस में बिलकुल विरुद्ध हैं, जीवत्त्व रहने से ब्रह्मत्त्व प्राप्त नहीं होता! और ब्रह्मत्त्व पर पहुंच जाने से जीवत्त्व की गन्ध भी नहीं रहती। परन्तु जीव जब परम प्रेमास्पद परमात्मा का पता पा लेता है, तब कुछ-कुछ उसके प्रेम में मुग्ध होने

जगाता है, क्रम से परिपक्क अवस्था में वह प्रेम घनीभूत होकर जीव को तन्मय कर देता है, अर्थात् ब्रह्म के सिवाय और कोई सत्ता खोजने पर भी नहीं पाता। इस अवस्था में जीव ब्रह्म भावमय हो जाता है। इसी से गीता के राजगुह्य योग में भगवान ने कहा है—"ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्" (६।२६) जो भक्ति सहित मेरा भजन करते हैं, वे मुझ में ही अवस्थान करते हैं और मैं भी उनमें विशेष भाव से अपना प्रकाश करता हूँ। इस अवस्था में जीव के साथ भगवान् के भेद की रेखामात्र रह जाती है, वस्तुतः क्षण-क्षण में अभेद, अद्वय स्वरूप प्रकाशित होता रहता है, यही जीवन्मुक्त अवस्था है, वदेह वा कैवल्य अवस्था में उस भेद की रेखा भी नहीं रहती। यही पूर्ण प्रेम वा परम सायुज्य है।

अस्तु, हम प्रस्तावित विषय छोड़ कर दूर आ गये हैं। महाऽसुर चिक्षुर का खड्ग और ढाल अर्थात् भेद ज्ञान और मलिनता ही हमारी पूर्ण प्रेममय अवस्था तक पहुंचने में बड़ी रुकावट हैं। साधक! जब तुम "प्रियाय प्रियतमाय प्राणाय परमात्मने" कहते हुए मा के सामने खड़े होते हो, या मा को प्राण (आत्मा) रूप से अनुभव करने की चेष्टा करते हो, तब कौन तुमको मा की गोद से अलग कर देता है, वही "खड्ग चर्म्मधरोऽसुरः" वह खड्ग चर्म्मधारी महासुर चिक्षुर। एक बार भीतर ही भीतर यह अत्याचार अनुभव तो करो ॥ ५ ॥

सिंहमाहत्य खड्गेन तीक्ष्णधारेण मूर्द्धनि ।
आजघान भुजे सव्ये देवीमप्यति वेगवान् ॥६॥

अनुवाद। फिर चिक्षुर ने अति वेग से तलवार की तीक्ष्ण-धार से सिंह के मस्तक पर और देवी के बाँयें हाथ पर आघात किया ॥ ६ ॥

व्याख्या। खड्ग=अति तीक्ष्णधार। मा कोई और है, और मैं और हूं, यह भेद बुद्धि अनादि जन्म सञ्चित है। इसीसे यह अति तीक्ष्ण है और इसका छुड़ाना कठिन है। मुख से हज़ार बार "ब्रह्माहमस्मि, सोऽहमस्मि" कहने से क्या होगा! उस तीक्ष्ण धार तलवार के आघात से तो बचाव होता ही नहीं; सैकड़ों साधन करने पर भी भेद ज्ञान तो दूर होना ही नहीं चाहता। इस भेद ज्ञान का पहला कार्य्य–सिंह के मस्तक पर आघात–जीव के उत्तमाङ्ग वा अभेद ज्ञान विषयक संस्कार को खण्डित करना है। चिक्षुर की तलवार पहले सिंह के शिर पर ही चोट करती है, अजी! जीव ही तो मानता है कि मैं अशुद्ध, क्षुद्र जीव मात्र हूँ, किस तरह ब्रह्म होऊँगा; बड़ा सुन्दर रण कौशल है! साधक एक बार अपने अपने अध्यात्म जीवन की आलोचना करके देखिये कि यह बात–सिंह के मस्तक पर चिक्षुर का खड्गाघात कितना सत्य है! सिर्फ इसी के कारण आप मा से बहुत दूर रहते हैं और जन्म मृत्यु की चक्की में पिसते रहते हैं।

फिर दूसरी चोट मा के बायें हाथ पर। मा ने दायें हाथ से शत्रु मर्दन और बायें हाथ से पुत्र को गोद में धारण कर रक्खा है; क्षण भर के लिये भी गोद से अलग नहीं करती, इसी कारण असुर ने मा के बायें हाथ पर चोट करके हमको मा की गोद से गिराना चाहा है, हमें गोद से गिरा देने पर ही तो उसका उद्देश्य सिद्ध होता है; किन्तु हमने तो मा को पकड़ नहीं रक्खा है, मा ही हमको पकड़े-साधे हुए है, इसी से पराक्रमी असुर आज निर्बल हो गया है।

दूसरी ओर आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाय तो आकर्षणी शक्ति मा का बायां हाथ है। प्रकृति की आत्माभिमुखी गति का नाम मा की आकर्षणी शक्ति है। वस्तुतः आत्मा की ओर से

न्त्र आकर्षण आरम्भ होने पर ही बहिर्मुखी प्रकृति आत्मा-भिमुखी होती है। यही वृन्दावन धाम में कदम्ब के मूल पर श्री कृष्ण की वंशी ध्वनि के आकर्षण से गोपियों का कुल त्याग वर्णित हुआ है। जब अन्तर ही अन्तर यह व्यापार संघटित होता रहता है, तब बाहर जो लक्षण प्रकाशित होते हैं, उन्हीं का नाम निवृत्ति है। तब धीरे धीरे विषयासक्ति कम होती है। यह निवृत्त ही मा का बायां हाथ है। अन्तर में जो मा का आकर्षण है, बाहर वही निवृत्ति धर्म रूप से प्रकाश पाता है, सब धर्म्मशास्त्रों ने इस निवृत्ति मार्ग का ही उपदेश दिया है। मा के दायें हाथ को प्रवृत्ति कहा जाता है। उन बातों से यहां विशेष प्रयोजन नहीं है, अथवा बायां हाथ अच्छी तरह समझ सकने से दायां हाथ अपने आप समझ में आ जायगा।

अब देखिये, असुर यदि मा के बायें हाथ को दुर्बल, अकर्मण्य कर सके तब ही तो उसका अभीष्ट सिद्ध होगा न? यदि हमको निवृत्ति धर्म्म से विच्युत कर सकेगा, तब तो फिर हम असुर के किङ्कर होकर जीवन भर के लिये हस्ताक्षर कर देंगे. इसी आशा से चिक्षुर ने मा के बायें हाथ पर चोट की है। कहा है कि मा ने बायें हाथ से हमको गोद में धारण कर रक्खा है। यह बात भी अब समझ लीजिये, निवृत्ति धर्म की सहायता से ही साधक आत्म-समर्पण के मार्ग पर आगे बढ़ते हैं, समस्त भार मा के ऊपर अर्पण करके निश्चिन्त हो बैठते हैं। देखिये आपके चित्त क्षेत्र में जो असुरों का अत्याचार चलता है, यह जो भयङ्कर संग्राम विक्षोभ चलता है, इससे आप बिल्कुल अस्थिर नहीं होते, इसका कारण क्या है? मा ने तुम्हें अपनी आकर्षण शक्ति बायें हाथ द्वारा पकड़ रक्खा है, तुम यथाशक्ति आत्म-समर्पण योग की सहायता से मा की गोद में बैठे हो इसी से तुम निश्चिन्त और अभय हो। सैकड़ों झंझट, हजारों

सांसारिक पीड़ायें आकर भी तुम्हें व्यथित नहीं कर सकीं, इसका एकमात्र हेतु मा तुम्हें गोद में लिये हुए हैं, तुमको गोद से गिरा देने की आशा से ही चिक्षुर ने मा के बायें हाथ पर चोट की है ॥ ६ ॥

तस्याखड्गो भुजंप्राप्य पफाल नृपनन्दन ।
ततो जग्राह शूलं स कोपादरुण लोचनः ॥ ७ ॥

अनुवाद । हे राजकुमार सुरथ ! उस असुर की तलवार देवी की बांह छूते ही टूट गई, तब उसने क्रोध से लाल नेत्र कर शूल हाथ में लिया ।

व्याख्या । विशारण वा भंग अर्थ बोधक फल् धातु से पफाल पद सिद्ध हुआ है। पफाल शब्द का अर्थ भग्न होना, टूट जाना। मा का बांय हाथ बेकार करके हमको गोद से गिरा देने की आशा से चिक्षुर ने तलवार की चोट की थी, वह व्यर्थ गई, खड्गाघात व्यर्थ हुआ; अर्थात् हमको मातृ-अ कर्षण निवृत्ति के मार्ग से गिरा न सकी, क्यों ? हमतो मा को पकड़े नहीं थे, जो हमारा हाथ छुटा लेने से असुर का अभीष्ट सिद्ध होता ? हमतो प्रवृत्ति, निवृत्ति दोनों हाथ उठा कर मा की जयध्वनि और आनन्द से कलोल करते हैं। हममें प्रवृत्ति भी नहीं और निवृत्ति भी नहीं। हमारे दोनों हाथ उठे देखकर मा ने हमें दृढ़ भाव से पकड़ रक्खा है। अतएव भय क्या ? यदि हमारे हाथ पर असुर तलवार की चोट चलाता तो हमारा हाथ निश्चय ही छूट जाता, या कट जाता, किन्तु यह है मा का हाथ, यहाँ असुर की तलवार ही टूट गई ।

जीव ! जब तक तुम अपनी साधना द्वारा मा को पाने की चेष्टा करोगे तब तक पग पग पर असुर की चोट सहनी पड़ेगी। तुम केवल निवृत्ति मार्ग का आधार ही जीवन का लक्ष्य मत

समझो, और प्रवृत्ति के वश भी उच्छृंखल मत हो, अपने रोम रोम में यह समझ लो कि हम नित्य ही मा की गोद में बैठे हुए हैं, जब निवृत्ति आवश्यक होगी, मा करा देगी। प्रवृत्ति के हाथ से आत्म रक्षा करना उचित समझेगी तब मा करा देगी। आप केवल दृढ़ विश्वास से धारणा कर लो कि "हम आश्रित हैं और मा आश्रय है"।

अस्तु, असुर की चेष्टा व्यर्थ हुई। भेद ज्ञान सफल न होता हुआ देख चिक्षुर ने शूल हाथ में लिया। यह शूल क्या है? मूल अज्ञान! "मैं अपने को नहीं जानता" यह मूल अज्ञान है। अगणित जन्म मृत्यु, असंख्य जीव जगत्, ये सब एक अज्ञान के ऊपर ही प्रतिष्ठित हैं। अत्यन्त पेनी लोह की नोक वाले शस्त्र को शूल कहते हैं, यह मूलाज्ञान भी अतिसूक्ष्म है, इसका यथार्थ स्वरूप समझ में आना अति कठिन है। सब विषय. ज्ञान वा अज्ञान, केवल आत्म-विषयक अज्ञान रूप सूक्ष्माग्र शूल के ऊपर अवस्थित हैं। यह जो इतना बड़ा जगत् प्रपञ्च, यह जो इतना बड़ा अनन्त वैचित्र्य, यह जो अनादि जन्म मृत्यु प्रवाह, यह जो हँसना रोना, सुख दुःख, पाप पुण्य, यह जो सञ्चित प्रारब्ध एवं आगामी कर्म बीज, ये सब "अपने को मैं नहीं जानता" इस मूल अज्ञान के स्तम्भ पर ही स्थापित हैं। यदि गुरु की कृपा से वह मूल अज्ञान किसी तरह विनष्ट हो जाय, तो बिना नीव के राजमहल की भांति अकस्मात् जगत् प्रपञ्च विलय हो जाय; बहुत साधना करने पर साधक इस मूलाज्ञान के समीप जा सकते हैं। भगवान् ने कहा है "बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां पपद्यते" (७। १६) ज्ञान का अर्थ ही अज्ञान के रूप को समझ सकना है। शास्त्रादि अध्ययन से उत्पन्न ज्ञान प्राप्त होने से मनुष्य यथार्थ ज्ञानवान नहीं होता, "मैं का जो एक अज्ञानमात्र है" यह ठीक ठीक अनुभव करने का नाम ज्ञान है

भेदज्ञान के संस्कार भी असुर के अस्त्र अर्थात् पीड़ा करने वाले हैं, ऐसा अनुभव होने से यह मूलाज्ञान पकड़ा जा सकता है। मा के चरणों की यथार्थ शरण ले सकने से किस तरह मुक्ति मन्दिर के समीप हुआ जाता है वही इस चण्डी-तत्त्व में विशेषभाव से व्याख्यात् हुआ है। एक के बाद एक करके बन्धन किस तरह शिथिल हो जाते हैं; उन्हें विचारने पर भी चकित होना पड़ता है। जीवत्त्व की जितनी ग्रन्थियां हैं, मा दया करके उन्हें खोज खोज कर छिन्न कर देती है। जीव नहीं जानता कि उसका कहां अज्ञान, कहां भेदज्ञान, कहां बन्धन, कहां मुक्ति है; किन्तु मा की दृष्टि से कुछ छिपा नहीं रह सकता। मा अज्ञेय रोग के कीटाणुओं को प्रकट करके, सद्वैद्य की भांति समूल उखाड़ डालती है। इसी से कहा है कि जीव ! ज्ञान से वा अज्ञान से केवल मा को आत्म निवेदन करो, तुम्हारी भव व्याधि सब दूर हो जावेंगी ॥ ७ ॥

चिक्षेप च ततस्तत्तु भद्रकाल्यां महासुरः ।
जाज्वल्यमानं तेजोभी रविबिम्बमिवाम्बरात् ॥८॥
दृष्ट्वा तदापतच्छूलं देवीशूलममुञ्चत ।
तच्छूलंशतधा तेन नीतं स च महासुरः ॥९

अनुवाद-अनन्तर महासुर (चिक्षुर) ने भद्र काली पर शूल चलाया। सूर्य मण्डल की भांति जाज्वल्यमान वह शूल आकाश से गिरता देख कर देवी ने भी अपना शूल चलाया, देवी जी के त्रिशूल ने राक्षस के शूल के सैकड़ों खण्ड करके महाअसुर चिक्षुर के भी सैकड़ों टुकड़े कर दिये ॥

व्याख्या—असुर शक्ति ने एक तरफ़ जैसे हमको मोहाच्छन्न करके हमें सदा के लिये बांध रखने की चेष्टा की है, वैसे ही दूसरी तरफ मुक्ति मन्दिर का फाटक भी खोल दिया है। वर्षा

ऋतु में गंगाजी का जल गदला अवश्य हो जाता है, किन्तु शीघ्र ही शरत् समागम से वह अत्यन्त निर्मल हो जायगा इसकी भी पूर्व सूचना करता है। शरीर के भीतर स्थित दूषित रोग वीजाणु, देहमय प्रकट व्याधि के आकार में प्रकाशित होकर मनुष्य को अत्यन्त पीड़ा अवश्य देते हैं; किन्तु देह को सर्वथा निरोग करने के लिये वही आवश्यक हैं। साधक अब तक केवल परिच्छिन्न भाव असुरों की असहनीय पीड़ा सहते आते थे; किन्तु आज उस असुर ही ने उन्हें भावों के मूल केन्द्र पर पहुंचा दिया है। असुर ने शूल चलाया है, साधक ने मूलाज्ञान का पता पाया है। इस तरह जिस मुहूर्त में जीव "अपने को मैं नहीं जानता" ऐसे मूल अज्ञान का पता पा लेता है, उसी क्षण अज्ञान की जड़ शिथिल हो जाती है। अपने दोष आप ठीक ठीक अनुभव कर सकने से ही दोष का प्रतीकार होता है।

कुछ लोग शायद कहें कि इस बात को कौन नहीं जानता कि हम अपना स्वरूप न जानने ही से बद्ध जीव हुए हैं। वाशा मुख से कहने ही से जानना नहीं होता; जानने के मानी हैं अनुभव करना। वेदान्त की भाषा में इसको कारणशरीर वा आनन्दमय कोष कहते हैं, विज्ञानमय कोष में स्वाधीन भाव से विचरने की योग्यता होने पर इस अज्ञान का पता मिलता है, वे बातें उपस्थित करके विषय को जटिल करना हमारा उद्देश्य नहीं है; स्थूल बात यह है कि मातृ चरणों में निर्भरशील, मातृ-लाभ की इच्छा रखने वाली सन्तान किस तरह अनायास वेदान्त प्रतिपाद्य विशुद्ध ज्ञानमय स्वरूप पर पहुंचती है, वही यहाँ प्रतिपाद्य है। जीव ज्ञान में वा अज्ञान में, सुख में वा दुःख में, पाप में वा पुण्य में, सब अवस्था में जब पूर्ण भाव से मातृ चरण में निर्भरशील होता है तब ही ऐसा अघटन संघटन होता है। इसी से असुर ने भद्रकाली पर शूल चलाया—जीव

ने मूलाज्ञान का पता पाया। जो महाकाल शक्ति के भी ऊपर अधिष्ठिता है, जो सर्वतो भद्रस्वरूपा—नित्य मङ्गलमयी है, वह भद्रकाली मा ही जीव के भावों को अपने हाथ में लेकर साधना करने वाले जीव को इस तरह मूल अज्ञान का पता बतलाकर निश्चिन्त भाव से विशुद्ध आनन्द उपभोग का सुयोग प्रदान करती है ?

अस्तु, मन्त्र में कहा गया है कि जाज्वल्यमान सूर्य बिम्ब की भांति उस शूल को अपनी ओर आता देख कर, देवी ने अपना शूल चलाया उससे असुर और उसका चलाया शूल दोनों ही विनष्ट होगये, साधक भी जब पूर्वोक्त मूल अज्ञान के समीप पहुंचता है अर्थात् कुछ-कुछ मूल अज्ञान का स्वरूप समझने लगता है तब उसको तेजः पुञ्ज सूर्य्य-बिम्ब की भांति दुर्निरीक्ष्य (जिसे देखने में कष्ट हो,) ही मानता है। जिस तरह सूर्य्य-मण्डल की ओर दृष्टि पड़ते ही नेत्र निमीलित करने पड़ते हैं, ठीक उसी तरह मूल अज्ञान के समीपस्थ होते न होते वैषयिक ज्ञान फूटने लगता है। यह मूल अज्ञान यथार्थ ही देखने में कठिन है, और कह कर भी समझाया नहीं जा सकता। साधक जब विषयों का स्पन्दन रोक कर शान्ति से आत्म संस्थ होने की चेष्टा करते हैं तब धीरे-धीरे यह मूलाज्ञान अनुभव में आता है। और पलभर भी लक्ष्यच्युत होने से तुरन्त फिर वैषयिक स्पन्दन पकड़ लेता है। यही विक्षेप शक्ति की अन्तिम चेष्टा है। किन्तु यह देखने में इतना दुष्ट होने पर भी मा के शूल की चोट से अवश्य विलीन हो जाता है। मा का शूल क्या ? आत्मज्ञान ! हमारा स्वरूप क्या है, यह अनुभव कर सकने से उसी क्षण जीव का अज्ञान और उससे उत्पन्न जन्म मृत्यु बन्धन और मुक्ति आदि फल दोनों एक साथ विलय हो जाते हैं। वह दृढ़तापूर्वक समझ लेता है कि मैं तो विशुद्ध बोध स्वरूप, केवल "ज्ञ" पदार्थ

हैं। जहाँ ऐसा अनुभव दृढ़ हुआ कि मन बुद्धि चित्त इन्द्रिय देह आदि सब संस्कार लापता होगये। साधक को बार बार इन विषयों की आलोचना करनी चाहिये, तब अज्ञान दूर होगा।

हते तस्मिन महावीर्ये महिषस्य चमूपतौ।
आजगाम गजारूढ़श्चामरस्त्रिदशार्दनः ॥ १० ॥

अनुवाद। जब महिषासुर का सेनापति चिक्षुर (विक्षेप) मारा गया तब देवताओं को पीड़ा देने वाला चामर (आवरण-शक्ति) हाथी पर सवार होकर युद्ध के लिये आया।

व्याख्या। विक्षेप शक्ति का विलय होगया, आवरण शक्ति के युद्ध और विलय का विषय अब कहते हैं। सब से प्रधान सेनापति चिक्षुर ही जब मा के शूल की चोट से अनायास मारा गया, तब अन्यान्य सेनापति शीघ्र ही विनष्ट होने में विचित्रता या सन्देह ही क्या है। चामरादि असुरों का विवरण (२।३६ की व्याख्या में) पूर्व विस्तारपूर्वक वर्णित हो चुका है। इस मन्त्र में चामर के दो विशेषण देखते हैं, एक त्रिदशार्दन, दूसरा गजारूढ़। त्रिदशार्दन के मानी हैं देवताओं को पीड़ा देने वाला। अनात्म-वस्तु की प्रतीति ही आवरण शक्ति का कार्य्य है। और आत्मा का नाम है अमृत, देवता सदा उसी अमृत के भोगी अर्थात् आत्म संस्थ हैं। किन्तु आवरण शक्ति के प्रभाव से अनात्म वस्तु का ज्ञान रहने पर, देवता उस अमृत से वञ्चित रहते हैं, यही देवताओं पर चामर आदि असुरों का अत्याचार और पीड़ा है। दूसरा विशेषण है गजारूढ़। गज धातु का अर्थ है बन्धन। जहां आवरण है वहीं बन्धन है। आत्मा (मा) सदा नित्य स्वप्रकाश रूप है—यह न समझ सकने के कारण ही जीव का बन्धन है। आत्मा के सिवाय और किसी वस्तु की सत्ता प्रकाशित कर, आवरण शक्ति ने मानो आत्मा को

आच्छादित कर रक्खा है। आत्मा जब तक पर्दे में छिपा है, तब तक ही जीव बन्धन में है, इस कारण गज अर्थात् बन्धन ही चामर के योग्य वाहन है॥ १०॥

सोऽपि शक्तिं मुमोचाथ देव्यास्तामम्बिका द्रुतम्।
हुङ्काराभिहतां भूमौ पातयामास निष्प्रभाम् ॥११॥

अनुवाद—उस चामर ने भी देवी को लक्ष्य करके शक्ति चलाई, किन्तु अम्बिका की हुङ्कार द्वारा वह आहत और तेजहीन होकर द्वारा धरती पर गिर गया।

व्याख्या। देहादि अनात्म वस्तुओं की प्रतीति आवरण शक्ति का कार्य है। यही चामर का चलाया हुआ शक्ति अस्त्र है। अम्बिका (मा) ने तुरन्त ही हुङ्कार द्वारा उसे बेकार कर दिया। हुङ्कार एक शब्द विशेष है। अत्यन्त क्रोधित होने पर वाणी से ऐसा शब्द निकलता है "हूँ, हूँ!" मैं स्वप्रकाश हूँ। और मेरे ही प्रकाश से सब प्रकाशमय हैं, मुझे कौन छिपा सकेगा! ऐसा क्रोध मूलक भाव हद से ज्यादा होने पर ही आवरण शक्ति निर्बल हो जाती है। पक्षान्तर में हुङ्कार अपने अपने इष्ट मन्त्र वा प्रणव का बोधक है। तथा शास्त्र में हुङ्कार को बीज कहा है। तन्त्रोक्त मन्त्रों को चैतन्यमय कर जप करने से आवरण शक्ति को बलहीन करने की सामर्थ्य प्राप्त होती है। साधकजन उन मन्त्रों की सहायता से चित्त को आकर्षित कर आत्म संस्थ करने की चेष्टा करते हैं। जब तक इस तरह अपने किये मनोयोग की ओर लक्ष्य रहता है—अर्थात् मैं मन्त्र जप करके सिद्धि प्राप्त करूँगा—ऐसा बोध रहता है तब तक प्राय: मनोरथ सफल नहीं होता और जब देखते हैं कि "मा" ही हुङ्कार आदि मन्त्र रूप से अपना प्रकाश करके अनात्म भावों का विलय करने को तय्यार हुई हैं, तब ही आवरण

शक्ति का कार्य्य विनष्ट प्राय हो जाता है।

खुलासा यह है कि यद्यपि आत्मा स्वप्रकाश निरावरण स्वरूप है, तथापि जब हम विषय दर्शन करते हैं तब ही अनात्म वस्तु जान पड़ती है और आत्म वस्तु छिप सी जाती है। केवल आत्मा के सिवाय कहीं भी कुछ नहीं है, यह बात हज़ार बार समझ लेने पर भी प्रारब्ध-संस्कार-वश अनात्म वस्तु की प्रतीति होती ही रहती है। प्राण-प्रतिष्ठा ही अनात्म भाव दूर करने का एक अमोघ उपाय है। साधक को प्रथम मा (आत्मा) के अस्तित्व में सर्वत्र दृढ़ विश्वास होता है इसका नाम है "सत्य-प्रतिष्ठा"। इसके बाद प्राण ही मा (आत्मा) है प्राण ही जगत में सर्वत्र व्याप रहा है। विषय के आकार में प्राण की ही पृथक् पृथक् मूर्ति को हम सदा अनुभव करते हैं, बार बार यह अभ्यास करते हुए हुङ्कारादि मन्त्रों को "प्राण-प्रतिष्ठा" रूप साधना के सहकारी आधार रूप से ग्रहण करते हैं। यह तत्त्व श्रद्धापूर्वक विनीत भाव से श्री गुरुमुख द्वारा सिखाये हुए मार्ग से अभ्यास करने पर शीघ्र फलदायक होते हैं ॥११॥

भग्नां शक्तिं निपतितां दृष्ट्वा क्रोधसमन्वितः।
चिक्षेप चामरः शूलं बाणैस्तदपि साच्छिनत् ॥१२॥

अनुवाद। शक्ति अस्त्र निष्फल हुआ देख कर चामर ने क्रोधपूर्वक शूल चलाया, देवी ने बाण चला कर उसे काटकर गिरा दिया।

व्याख्या। विक्षेप शक्ति की आखिरी चेष्टा जैसे मूल अज्ञान का जागरण है, उसी तरह आवरण शक्ति का भी सबसे अन्तिम प्रयत्न शूल चलाना, या मूल अज्ञान की याद आ जाना है। साधक आवरण और विक्षेप दोनों शक्तियों को पकड़ कर प्राण प्रतिष्ठा के मार्ग पर अग्रसर होने से ही इस मूल अज्ञान

के समीप जा पहुंचते हैं। यहां पहुंचने पर मातृ कृपा से अनायास यह अज्ञान भेद हो जाता है। मा धारण चला कर अपनी आकर्षणी शक्ति के प्रभाव से थोड़े ही समय में सन्तान को अज्ञान से ज्ञानमय अवस्था में ले आती हैं।

यह कैसे होता है? "अपने को मैं नहीं जानता" यह जो मूल अज्ञान है यह भी जानने मात्र रूप विशुद्ध ज्ञान पर ही अवस्थित है, यही ज्ञान अज्ञान का अनिर्वचनीय सम्मेलन है। साधक जब गुरु कृपा से धीरे धीरे विक्षेप और आवरण शक्ति का मूल तलाश करते करते आगे बढ़ता है, तब इस अनिर्वचनीय अज्ञान पर जा पहुंचता है, बड़े सौभाग्य से, अनेक जन्मार्जित श्रद्धा विश्वास भक्ति के फल से, इस मूल अज्ञान का पता लगता है, यहां खड़े होने पर विशुद्ध ज्ञान का स्वरूप उदित होता है, क्योंकि यह अज्ञान विशुद्ध आत्मबोध पर ही प्रतिष्ठित है। आओ, अज्ञानान्ध, दुःखित, शोक कातर, संसार क्लिष्ट जीव! आओ, मा गुरु, आत्मा सत्य, प्राण कहते हुए दौड़ कर आओ, तुम अज्ञान से पार हो जाओगे। अमृत का पता पाकर धन्य होगे ॥१२॥

ततः सिंहः समुत्पत्य गजकुम्भान्तरस्थितः।
बाहुयुद्धेन युयुधे तेनाच्चैस्त्रिदशारिणा ॥ १३ ॥

अनुवाद। अनन्तर सिंह उछल कर और चामर राक्षस के हाथी के मस्तक पर खड़ा होकर राक्षस से घोरतर मल्ल युद्ध करने लगा।

व्याख्या। विक्षेप और आवरण शक्ति के अन्तिम प्रयत्न के फल से ही जीव मूल अज्ञान का पता पाता है और साथ ही साथ ज्ञानमय स्वरूप का अनुभव करता है। असुर आप ही अपने नाश का मार्ग खोल देते हैं। इसी से देखते हैं कि चिक्षुर और चामर दोनों ही ने देवी को लक्ष्य कर शूल चलाया और

उसी के फल से जीव ने यथार्थ ज्ञान का पता पाया। असुरों के अत्याचार की मात्रा जितनी अधिक होती है साधक की आत्म प्रतिष्ठा भी उतनी ही शीघ्र होती है। देखिये, असुर ने यहां विचार किया था कि मूल अज्ञान का स्वरूप साधक के सामने रख सकने से ही वह सदा की तरह आधीनता मान लेगा, परन्तु फल उलटा हुआ। साधक मूल अज्ञान के घोर अन्धकार की बगल में ही आत्मज्ञान का समुज्वल प्रकाश देख कर सिंह की तरह चामर से युद्ध करने लगा।

जीव अब यहां ज्ञान-अज्ञान के सम्मिलन स्थान (बन्धन और मुक्ति) के बीच में पहुंच गया है। यही "गज कुम्भान्तर स्थित" होना है। पूर्व कहा है कि—महासुर चामर हाथी पर सवार होकर युद्ध क्षेत्र में आया था, जहाँ बन्धन का अन्त और मुक्ति का आरम्भ होता है, उसी स्थान को 'गज कुम्भान्तर' कहा जाता है, मूल अज्ञान ही बन्धन का अन्तिम छोर है, उसी स्थान से मुक्ति का आस्वाद पाया जाता है। इस बन्धन और मुक्ति के बीच की जगह पर खड़ा होकर सिंह (जीव) प्राणपण से असुरों के नाश के लिये अपना पराक्रम दिखलाता है।

पूर्व कहा गया है कि जीव जब पहले पहल मुमुक्षु होता है, तब स्त्री पुत्र कुटुम्ब परिवार को ही बन्धन समझता है। परन्तु क्रम से ज्ञान विकाश के साथ ही साथ यह भी समझने लगता है कि देह इन्द्रिय मन बुद्धि ये उससे भी अधिक बन्धन हैं। फिर क्रम से अन्त में देखता है कि मेरा यथार्थ बन्धन तो यह मूल अज्ञान ही है, क्योंकि "मैं अपने आप को नहीं जानता।" न जाने किस अनादि काल से, किस खयाल से इस अज्ञान को मान लिया है कि उस एक बूँद अज्ञान पर खड़े हुए हमें अनेक युग युगान्तर बीत गये, लगातार जन्म मृत्यु का प्रवाह चल रहा है, अनेक सुख दुःख के स्वप्न देखते हैं और उस अज्ञान को

विलय करने की (भुलाने) अनेक चेष्टा, कई प्रकार की कठिन तपस्या, कठोर व्रत नियम, धर्म्मचर्य्या का अनुष्ठान करते आवे हैं। यह चित्र एकबार नेत्र गोचर होने से, आनन्दमयी, लीला-मयी, महामाया मा के चरणों में प्रणत हुए बिना रहा नहीं जाता।

धन्य मा तेरी यह अनिर्वचनीय लीला। मा! हज़ार बार समझ लेने पर भी भूल जाते हैं। यह जन्म। मृत्यु, हर्ष। शोक, बन्धन मुक्ति, जो कुछ है, वह सब इच्छामयि! तेरी ही इच्छा मात्र है, ये जले प्राण इस बात को किसी तरह मानना नहीं चाहते। मा! तुम्हारी इच्छा में ही अज्ञान, बन्धन और मोक्ष सब कुछ है। अब कब तक यह बन्धन—देखेंगे मा! तूने अपने दोनों हाथों को कैसे कठोर सङ्कल से जकड़ लिया है, जेट भरली है।

हे त्रिनयनि! एक बार नेत्र खोल कर देख, हम कितने काल से, कितने जन्म जन्मान्तर से इस अज्ञान के बन्धन की यातना सहते चले आ रहे हैं। अब नहीं सही जाती; छाती फटी जाती है। एक एक लहर आती है और मर्म स्थान से टकरा के चली जाती है। समुद्र की उत्ताल तरङ्गों की तरह एक एक भाव आकर न जाने कितने अनादि काल से ज़ोर की चोटें कर रहे हैं। मा! कितने दिन में यह मर्म की पीड़ा शान्त होगी। दिन पर दिन वर्ष पर वर्ष गुज़रते जाते हैं, हृदय में आशायें लगाये दिन गिन रहे हैं। कहां तक कहें मा! तू ही ऐसा करके हमारी व्यथा दूर करती—चिर-दिन की तरह जीवत्व के बन्धन के मुक्त करती, सो तू भी तो स्नेहमयी मा की तरह दौड़ कर नहीं आई, तूने भी तो हमारे इस क्षत विक्षत हृदय से कभी यथार्थ मुक्ति का अमृतमय स्पर्श नहीं कराया। मा! मा !! मा !!! अब और कुछ नहीं कहना है, तू केवल यह समझादे कि तेरा हमसे सच्चा स्नेह है। तू सचमुच हमारा प्राण है। तू ही सचमुच हमारी आत्मा है, हमारी मैं है, बस सिर्फ यही एक बात ठीक ठीक समझ में आ जाने से हमारी सब

वासनायें दूर हो जायेंगी।

अस्तु, इस मन्त्र में चामर के साथ सिंह के वाहु युद्ध की बात कही गई है। वाहु युद्ध का रहस्य प्रथम खण्ड में विशेष भाव से समझाया जा चुका है। जीव जब एक बार अज्ञान से परले पार का पता पालेता है, तब वह ज्ञान अज्ञान के बीच स्थान पर खड़ा होकर सब तरह के वैषयिक स्पन्दन को प्रवृति निवृति रूप दोनों हाथों से पकड़ पकड़ कर ज्ञान वक्ष पर विलीन करने का प्रयास करने लगता है ॥ १३ ॥

युध्यमानौ ततस्तौ तु तस्मान्नागान्महीं गतौ।
युयुधातेऽतिसंरब्धौ प्रहारैरतिदारुणैः ॥ १४ ॥

अनुवाद। वे दोनों (चामर और देवी का वाहन सिंह) युद्ध करते करते धरती पर उतर कर अत्यन्त क्रोधवश अति घोर प्रहार से युद्ध करने लगे।

व्याख्या। जीव जब प्राण प्रतिष्ठा की सहायता से प्रवृत्ति निवृत्ति रूप दोनों हाथों द्वारा वैषयिक स्पन्दनों को महा प्राणमयी मा के अङ्क में मिला देते हैं अर्थात् अनात्म वस्तु के आडम्बर को पूर्ण रूप से विलय करके, विशुद्ध आत्म बोध में अवस्थान करने की चेष्टा करते हैं, तब एक बार वे बन्धन और मुक्ति के केन्द्र पर उतर आते हैं अर्थात् उस सूक्ष्म बोधमय अवस्था से स्थूल में उतर आते हैं। उद्देश्य होता है—सब स्थूल ज्ञान को भी बोधमय अवस्था में ले जाना। यही गजकुम्भान्तर से पृथ्वी पर उतरना और आपस में घोर प्रहार करना है। भाजी! पार्थिव भावों ने जो चिरकाल से साधक के चित्त में सघन स्थूल संस्कार जमा दिये हैं, उन्हें विलय करने के लिये, बारबार पुनः पुनः बोधमय सत्ता पर लाना होता है। जिनको हम जल, मिट्टी, वृक्ष, पर्वत, जीव-जन्तु आदि अति स्थूल जड़ पदार्थ

रूप में देखते हैं, उनकी असलियत बोध वा प्राण के सिवाय और कुछ भी नहीं है, ऐसा अनुभव केवल बाहु युद्ध से ही दृढ़ प्रतिष्ठित हो सकता है ।

साधक ! तुम केवल देखते रहो—तुम्हारी प्रवृत्ति जिसे चाहे ग्रहण करे, और निवृत्ति जिसे न चाहे—उसका त्याग करे, परन्तु वे सब तुम्हारे प्राण (बोध) ही हैं । तुम एक बार मूल अज्ञान से क्षिति तत्त्व पर्यन्त प्रत्येक वस्तु को लेकर प्राणमय सत्ता में मिला देने की चेष्टा करो । यही आवरण शक्ति के साथ जीव का अति कठोर बाहु युद्ध है । असुर के पक्ष में (जड़ भाव के पक्ष) में, वास्तविक ही घोर प्रहार है । अनेक जन्म से जड़त्व का स्वांग ले रहे हैं और आज सब चैतन्यमय-बोधमय हो चला है । असुरों के पक्ष में इससे अधिक भारी चोट और क्या हो सकती है ? फिर जीव के पक्ष में भी यह असुर का दारुण आघात है । क्योंकि जीव गुरु कृपा से अच्छी तरह समझ सका है कि जगत नाम से जो प्रतीत हो रहा है, यह मेरे प्राण के सिवाय और कुछ नहीं है; किन्तु तो भी जड़ वस्तु की प्रतीति एकदम विलुप्त नहीं हुई । इसी से मन्त्र में भी आपस में घोर प्रहार ही कहा गया है ।

ततो वेगात् खमुत्पत्य निपत्य च मृगारिणा ।
कर प्रहारेण शिरश्चामरस्य पृथक् कृतम् ॥ १५ ॥

अनुवाद । अनन्तर मृगारि ने आकाश में उछल कर थापड़ मार कर चामर का शिर धड़ से अलग कर दिया ।

व्याख्या—यहां जीव को मृगारि कहा गया है । मृगारि का अर्थ है अन्वेषण का शत्रु । अन्वेषणार्थक मृग् धातु से मृग शब्द बना है । जीव जब मा के अन्वेषण का शत्रु हो, तब ही उसे मृगारि कहा जाय । कहो मा कहां है ? इस तरह अन्वेषण

का भाव जब एकदम तिरोहित हो जाय, तब ही जीव मृगारि हो। साधक! तुम्हें अन्वेषण के नेत्र बन्द कर लेने होंगे। तुम को मृगारि होना ही होगा। ऐसा हुए बिना चामर नहीं मारा जायगा—आवरण दोष दूर न होगा। अजी! किसका अन्वेषण करोगे? जो वस्तु कहीं छिपी हो उसी को तो ढूँढ़ कर बाहर लाना होता है। परन्तु हमारी मा तो सर्वत्र सुप्रकाश स्वरूपा है! मा के सिवाय कहीं भी कुछ नहीं है। तब उसे तलाश क्या और कहां करोगे? जो कुछ देखो, जो सुनो, जो विचारो तो यह सब मा ही तो है। तुम्हारे ऊपर-नीचे, दायें-बांयें, आगे-पीछे सर्वत्र ही तो मा है, और भी निकट तुम्हारे हृदय में वह नित्य विराजती है! अजी, इतना सुलभ, इतना सहज और क्या है? केवल मा को कहने का अभाव है, मा का अभाव कहीं नहीं। जब तक देखो तुम ध्यान धारणा की सहायता से मा को देखने की चेष्टा करते हो—तब तक भी समझो कि तुम मा को तलाश करते हो। अन्वेपण के चक्षु मूंद लो। सर्वत्र मा को देखो! मा कह कर, प्राण कह कर आदर करो। अपने प्राण का खूब आदर सत्कार करो, प्रेम करो! यह प्राण ही तो मा है, यह मा ही तो विश्व में व्याप्त हो रही है। अब अनादर और अविश्वास मत करो। प्रत्येक भाव में, प्रत्येक चेष्टा में, मा को देखते रहो। तुम भी मृगारि हो जाओगे, तुम्हारा अनेक जन्म सञ्चित अज्ञान का आवरण दूर हो जायगा।

जब तक जीव शिशु रहता है—अनजान रहता है, तब तक ही तो कहो मा कहां है, ऐसा कहता हुआ मा को ढूंढ़ता है; किन्तु एकबार यदि समझले कि "पूर्णमन्तर्बहिर्येन," "त्वया-ततं विश्वं" "स एव सर्वं," तब क्या फिर उसे ढूंढ़ता है। जो कुछ देखता, छूता, जानता है—वह सब ही प्राण है—मा है। साधक! यदि तुम मिट्टी पकड़ कर "मा" ही न कह सको, जल

को छूकर रसमयी मा की सत्ता न समझ सको, यदि समीरण के स्पर्श से मातृ-स्पर्श की तरह पुलक कण्टकित न हो, तो किस बल से, किस साहस से तत्यातीता, भावातीता. मा को पकड़ने के लिये आगे बढ़ोगे ? एक आत्म सम्वेदन में कहा है—"जगद्दर्शन मात्रेण न चेदात्म स्मृतिर्भवेत् । विश्वातिगं परं ब्रह्म कथं गच्छेन्निरञ्जनम्" जगत् को देखते ही जिसे आत्म स्मृति न हो—मा की याद न आजाय, वह किस तरह विश्व के अतीत निरञ्जन परब्रह्म तत्त्व पर पहुंच सकेगा ?

अस्तु, मन्त्र में कहा है कि—मृगारि ने आकाश में उछल कर चामर का शिर काट दिया । जीव का भी जब अन्वेषण का भाव दूर हो—साधक जब चक्षु से देखे तब मा ही दीख पड़े, तब ही मृगारि हो कर आकाश में उछलता है—निर्मल चिदाकाश में अवस्थान करता है और वहां से अनात्म भाव के आवरण को विलय करके, परमात्म रस के आस्वाद से अमर हो जाता है ।

इस तरह चिक्षुर और चामर निहत हुए—विक्षेप और आवरण शक्ति विलय हुई । विशुद्ध बोध खिल उठा । साधक! यह न समझें कि—एक दिन सिर्फ एकबार विक्षेप अथवा आवरण के पञ्जे से छूट जाने पर जीवन में फिर कभी चित्त क्षेत्र में विक्षेप न आवेगा, अथवा अनात्म भाव उदित न होगा। यह बात नहीं—जब तक देह है, तब तक ही विक्षेप और आवरण भी रहेंगे। परन्तु वे फिर कभी मा के दर्शन में बाधा नहीं पैदा कर सकेंगे, मा के अस्तित्व में संशय नहीं ला सकेंगे; मा के प्रकाश को नहीं छिपा सकेंगे । वे रहेंगे तो अवश्य—किन्तु बिना शिर के रह जाने से पीड़ित नहीं कर सकेंगे । जब तक प्रारब्ध क्षय न होगी तब तक वे शिर रहित मुर्दे की तरह पड़े रहेंगे । इस सम्बन्ध में आगे और बातें कहेंगे ।

उदग्रश्च रणे देव्या शिलावृक्षादिभिर्हतः।
दन्तमुष्टितलैश्चैव करालश्च निपातितः ॥ १६ ॥

अनुवाद। देवी ने उदग्र असुर को पत्थर और वृक्षादि प्रहार से एवं कराल असुर को दाँत, घूंसा और तल प्रहार से गिरा दिया।

व्याख्या—विक्षेप और आवरण शक्ति ही सब असुरों का आश्रय है। जब जड़ कट गई तब शाखा और डालियाँ तो सहज ही नष्ट हो जाती हैं। उदग्र—दर्प (कर्तृत्व अभिमान) है, यह पूर्व कहा है। देवी ने उसे शिला वृक्षादि के प्रहार से निहत किया। वृक्ष, पत्थर, मिट्टी आदि पार्थिव पदार्थ ही तो हमारे दर्प के विषय हैं। उन्हीं का कुछ संग्रह करके, अपना मानकर मन ही मन गर्व अनुभव करते हैं। कभी कभी बातों से अपना गर्व प्रकट भी कर देते हैं। किन्तु चिन्मयी मा का आविर्भाव होने से अर्थात्—सर्वत्र प्राणमय सत्ता के दर्शन का अभ्यास हो जाने से, वह दर्प समूल नष्ट हो जाता है। क्योंकि, तब इधर जैसे जड़त्व ज्ञान के अभाववश सञ्चय करने को कुछ मिलता नहीं और उधर "अपना" कहने को भी कुछ रहता नहीं। इस तरह उदग्र असुर का उन्नत शिर विच्छिन्न होता है। साधक याद रक्खें कि अहङ्कार का नाश ही मातृ-दर्शन का फल है। जब तक मा (यथार्थ मैं) को देखा न जा सके, तब तक ही इस कल्पित मैं को लेकर दर्प करने का अवसर रहता है। किन्तु एक बार मा का—मैं का पता पालेने से—फिर दर्प का लेश भी नहीं रहता। तब आचार्य शङ्कर के सुर में सुर मिला कर कहते हैं—"किं करोमि क्वगच्छामि किं गृह्णामि त्यजामि किं। आत्मना पूरितं सर्वं महाकल्पाम्बुना यथा ॥"

इसके बाद कराल असुर—इसका नाम भय अथवा अपना

अस्तित्व नाश की कल्पना के कारण चित्त का एक प्रकार सङ्कोच भाव है। मैं न रहूंगा, मैं मरूंगा, ऐसा कुछ कल्पित सङ्कोच होना शिशु जीवों का अत्यन्त स्वाभाविक है। अज्ञान के कारण ऐसा कल्पित भय उपस्थित होता है। इसी को कराल असुर कहा जाता है। यह मृत्यु भय मनुष्य को स्वाधीन भाव से आनन्द भोग नहीं करने देता, शिशु जीवों के लिये वह अत्यन्त हितकारी है; क्योंकि इससे उच्छृङ्खल गति संयत रहती है। यदि मृत्यु भय न होता तो मनुष्य पशु से भी अधम होता। यह कराल असुर का अत्याचार ही हमारी मातृ-मुखी गति फिरा देता है। साधारण मनुष्य जो दिन रात मृत्यु भय से शङ्कित हैं, यह बाहिर से किसी उपाय से समझ में नहीं आता। अच्छी तरह खाते-पीते, हँसते-खेलते, बातचीत करते, आमोद उत्सव मनाते हैं, तब उन्हें भय कहां ? किन्तु कुछ धीर भाव से देखने पर अच्छी तरह समझ सकोगे-कि जीव मृत्युभय से कितने सङ्कुचित हैं, खुले प्राण से, स्वाधीन भाव से कोई काम नहीं कर सकते। आहार विहार अत्यन्त तृप्तिप्रद होने पर भी अनिच्छा से त्यागने को बाध्य होते हैं; पीछे पीड़ा होती है, रोग होता है। इस तरह स्वाधीन भाव से कोई विषय भोग नहीं कर सकते। मृत्यु भय से भोग संकुचित होता है, इसी से मनुष्य मात्र ही भोग की अपेक्षा सञ्चय अधिक करने को बाध्य है। शास्त्र में कहा है—"सर्वं वस्तुभयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्।" पृथिवी सब वस्तुओं में भय है केवल वैराग्य ही अभय है! अभया-मा को पाये बिना वैराग्य आता नहीं। वैराग्य आये बिना कराल असुर निहत नहीं होता। कितना ही योग कौशल साधन क्यों न करो, मृत्यु भय जीव के साथ ही चलता है। मृत्यु का कराल चीत्कार पीछे से सुनाई देता रहता है, इसी से मनुष्य दिन रात चिन्ता, काम काञ्चन की सेवा

करने को बाध्य है। सूखी हँसी हँस कर उस चीत्कार को छिपाने की चेष्टा किया करता है। थोड़ा विचार कर देखने से समझ सकोगे कि हमारी जो आहार निद्रा विषय चिन्ता है वह सब मृत्यु के हाथ से बचने के लिये ही हैं। जीवन के मानी मृत्यु के साथ युद्ध करना है। कुछ दिन इस तरह आत्म रक्षा करके भी अन्त में किन्तु एक दिन उसी के हाथ में आत्म-समर्पण करना होता है। उससे बचने का उपाय केवल मा की कृपा है। तुमने मा को पकड़ लिया है, इसीसे मा ने तुमको इस मृत्यु भय रूप कराल असुर की पीड़ा से बचाने के लिये दांत, घूंसे और करतल से प्रहार किया है। पहले तो मा मुँह खोल कर भयानक (दांत) दाढ़ें कराल असुर को दिखाती है जो जगत् ग्रास करने वाली हैं। दूसरे मुट्ठी द्वारा उसे पकड़ती है, तीसरे करतल द्वारा अभयदान देती है। आध्यात्मिक रहस्य से देखो—कालज्ञान से मृत्युभय उपस्थित होता है। यह काल शक्ति जहां रुकी है उस महाकाली चितिशक्ति की ओर लक्ष्य स्थापन करने से सर्व भाव रूप मृत्यु भय अपने आप विलय हो जाता है। मुष्टिप्रहार शब्द का अर्थ आदान शक्ति समझिये। हमारी मा हजार हाथों की हजार मुट्ठियों से सब भावों को पकड़ पकड़ कर अपने अङ्क में विलीन कर देती है। फिर हाथ उठाकर हथेली दिखाती हुई जीव को अभय प्रदान करती है। अभय ज्ञान ही मा का करतल है। श्रुति भी कहती है—"द्वितीयाद्वै भयं भवति।" द्वितीय प्रतीति से ही भय लगता है। एकत्व ज्ञान पर उपनीत होने से अर्थात् सर्वभाव—बहुभाव सम्यक् विलय होने से ही जीव अभय होता है। मृत्यु भय सदा के लिये दूर हो जाता है।

देवी क्रुद्धा गदापातैश्चूर्णयामास चोद्धतम्।
वास्कलं भिन्दिपालेन बाणैस्ताम्रं तथान्धकम् ॥१४॥

उग्रास्यमुग्रवीर्यञ्च तथैव च महाहनुम् ।
त्रिनेत्रा च त्रिशूलेन जघान परमेश्वरी ॥१८॥
विडालस्यासिना कायात् पातयामास वै शिरः ।
दुर्द्धरं दुर्म्मुखं चोभौ शरैर्निन्ये यमक्षयम् ॥१९॥

अनुवाद। देवी ने क्रुद्ध होकर उद्धत असुर को गदाघात से, वास्कल असुर को भिन्दिपाल अस्त्र से, ताम्र और अन्धक असुर को बाण द्वारा निहत किया। इस तरह त्रिनयना परमेश्वरी ने त्रिशूल के आघात से उग्रास्य, उग्रवीर्य और महाहनु नामक तीन असुरों को निहत कर दिया। तरवार से विडालाक्ष नामक असुर का शिर काट दिया और दुर्मुख और दुर्द्धर दो असुरों को बाण द्वारा यमपुरी भेज दिया।

व्याख्या। इन तीन मन्त्रों में महिषासुर के अन्यान्य सेनापतियों के मरने का हाल कहा गया है। इससे पहले महिषासुर की सेना की व्याख्या करते समय महाहनु और विडालाक्ष का रहस्य कहा है। उनके सिवाय यहाँ उद्धत आदि और भी कई असुरों के नाम आये हैं। गीता में श्री भगवान ने— "दम्भोदर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेवच" इत्यादि वाक्य से अर्जुन को जो आसुरी सम्पद् का उपदेश दिया है, उसके साथ इन असुरों के नामानुसार मिलान कर लेने से पाठकजन सहज में यह रहस्य समझ सकेंगे। ऊपर कहे असुरों के नाम प्रायः सार्थक हैं, उद्धत=दम्भ, ताम्र-पारुष्य (कटु भाव), अन्धक-मोह, उग्रास्य=क्रोध, उग्रवीर्य-पशुबल, दुर्द्धर=अक्षमा, दुर्मुख-कटुवचन बोलना,। मा की कृपा से ये दम्भ पारुष्य आदि आसुरी वृत्तियां थोड़े ही समय में विलीन हो जाती हैं। केवल शरणागत भाव आने से ही साधक अनायास इन वृत्तियों के आक्रमण से बच जाते हैं। बार बार इनका

उल्लेख करना व्यर्थ है, यहां पर हमें केवल यही लक्ष्य करना है कि दम्भ,दर्प, अभिमान, क्रोध आदि आसुरी वृत्तियां मौजूद रहने पर भी जीव मा की कृपा प्राप्त कर सकता है। एक बार मा की कृपा अनुभव हो जाने पर वे सब वृत्तियां थोड़े ही समय में दुर्बल हो जाती हैं।

भगवान् ने अर्जुन को निमित्तमात्र करके हमको जो अभय वाणी सुनाई थी, उसी की कार्यकरी अवस्था असुरों के वध के रूपक से चण्डी में वर्णित हुई है। गीता में कहा है-"अपिचेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितोहि सः ॥ ६। ३०॥ क्षिप्र भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति। कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥ भगवान् ने कहा है-" जीव! तुम चाहे कितने ही बड़े दुराचारी क्यों न हो तो भी मेरा आश्रय करने अर्थात् मेरे शरणागत होने की तुममें योग्यता है। जो अनन्य भाव से मेरा भक्त होकर मुझको ही अपना एकान्त आत्मीय समझ कर भजता है वह साधु ही मानने योग्य है, तुम्हारा दुराचार उस सामर्थ्य को रोक नहीं सकता। यदि मेरी ओर मुख फिराओगे तो थोड़े ही समय—अल्पकाल में ही तुम धर्मात्मा, साधु हो जाओगे। तुम्हारे दुराचारों को मैं ही विलय करदूंगा, याद रक्खो, मेरे भक्त का कभी विनाश नहीं होता। यह अभय वाणी किस तरह कार्य में परिणत होती है, वह दिखाने ही के लिये मा की यह असुर वध लीला है। यह तत्व विचारने से भी विस्मित होना पड़ता है। गीता में जो उपदेश हैं-चण्डी में वही कार्य रूप में परिणत हैं। जिन्होंने प्रत्येक भाव में प्राण-मयी मा का विकाश देखने का अभ्यास किया है, उनके दम्भ, पारुष्य, मोह, क्रोध, पशुबल, अक्षमा, कठोर वाक्य द्वारा दूसरों के प्राण में व्यथा देना आदि दोष थोड़े ही

समय में दूर हो गये हैं।

एवं संक्षीयमाणे तु स्वसैन्ये महिषासुरः।
महिषेण स्वरूपेण त्रासयामास तान् गणान् ॥२०॥

अनुवाद। इस प्रकार अपनी सेना का वल क्षीण हुआ देख कर महिषासुर महिष का रूप धारण कर देवी के गणसैन्यवृन्द को विशेष त्रासित करने लगा।

व्याख्या। (महिषरहस्य) महिषासुर के सब सेनापति विलय होगये। रजोगुण के जितने वैषयिक स्पन्दन थे, उनमें कोई न वचा! अब सेना का वल न रहने पर स्वयं महिषासुर ने एक बार अन्तिम उद्योग किया। पहले महिष बनकर गण सैन्यों को दुःख देने लगा। 'मही-इष्यति इति महिषः' (ईकार ह्रस्व) जो मही (क्षिति तत्व अर्थात् स्थूल भाव) का सहारा लेना चाहे वही महिष है। स्थूलाभिमानी रजोगुण असहाय होने पर अपनी पूर्ण शक्ति से अन्तिम वस्तु पार्थिव देह से ही विशेष भाव से अकड़ता है। जब साधक के दर्प, अभिमान आदि रजोगुण से उत्पन्न दोष दूर हो जाते हैं, तब भी वह देहात्मबोध का मोह नहीं छोड़ सकता। स्थूल देह पर अत्यन्त आसक्ति ही उसका हेतु है। यही महिषासुर का अन्तिम आक्रमण है। जब तक पूर्ण ज्ञान के उदय से सञ्चित कर्म समाप्त न हो जावें तब तक किसी तरह देहात्मबोध शिथिल नहीं होना चाहता। अथवा जब तक देहात्मबोध की जड़ न कट जाय, तब तक सञ्चित कर्मों का शेष नहीं होता। याद रखिये साधक! अन्तर राज्य में कार्य कारण भाव का यथायोग्य पूर्व पर भाव स्थिर नहीं किया जाता। जगत् में पहले कारण और पीछे कार्य होना देखते हैं, किन्तु यहां कारण और कार्य मानो एक साथ रहते हैं—मिले रहते हैं। अनेक लोग कहते हैं—पहले साधना

है, इसके पीछे सिद्धि है। किन्तु हम देखते हैं—पहले फल और पीछे फूल। वास्तव में सूर्य और किरणों की तरह सिद्धि और साधना का मानों साथ ही है।

अस्तु, सञ्चित संस्कार फलोन्मुख न होने पर भी वे प्रारब्ध क्षय होने में बाधक स्वरूप है। क्योंकि पिछले संस्कारों के भार से दब जाने के कारण प्रारब्ध संस्कारों के विनाश का मार्ग रुक जाता है। स्थूल देह पर अत्यन्त आसक्ति उसका बाहिरी लक्षण है, यही महिष रूप धारी महिषासुर का अत्याचार है। इसका पहला आक्रमण-गणसैन्य के ऊपर होता है। गणसैन्य का रहस्य पूर्व व्याख्यात हुआ है। श्वास प्रश्वास ही गणसैन्य है। श्वास प्रश्वास लेकर ही देहात्म भाव फूट उठता है। साधक इसे अनायास अनुभव कर सकते हैं। जिस समय वे मातृ-युक्त होते हैं, विशुद्ध बोध स्वरूप में अवस्थान करते हैं, उसी क्षण श्वास प्रश्वास निरुद्ध हो जाता है। फिर जब देहात्मबोध फूट उठता है तब ही बाहिर श्वास प्रश्वास का लक्षण प्रकट हो जाता है। श्वास प्रश्वास के सहारे ही पार्थिव देह में बोध उतर आता है; इसी से ऋषि कहते हैं—महिष रूपी असुर ने प्रथम गणसैन्य को त्रासित किया था।

काँश्चित् तुण्ड प्रहारेण खुरक्षेपैस्तथापरान्।
लाङ्गूल ताडितांश्चान्यान् शृङ्गाभ्याञ्च विदारितान्॥२१॥
वेगेन काँश्चिदपरान् नादेन भ्रमणेन च।
निःश्वास पवनेनान्यान् पातयामास भूतले॥ २२॥

अनुवाद। महिषासुर ने कुछ गण सैन्य को, होठों की चोट से, कुछ को खुरों की चोट से, कुछ को पूंछ के आघात से, कुछ को सींगों के आघात से विदारित किया और कुछ को अपने वेग द्वारा, कुछ को गर्जकर और कुछ को निःश्वास की वायु

द्वारा धरती पर गिरा दिया।

व्याख्या। (आठ तरह से पीड़ित करना) इस मन्त्र में देखते हैं कि महिषासुर ने गणसैन्य के विनाश के लिये आठ उपाय किये थे। (१) तुण्डप्रहार (२) खुरक्षेप, (३) लाङ्गूलाघात (४) शृङ्गाघात (५) वेग (६) नाद (७) भ्रमण (८) और आठवां निःश्वास। साधक! तुम भी देखो, स्थूल देह पर अत्यन्त आसक्ति रूप महिष मूर्ति असुर अर्थात् स्थूलताप्रिय रजोगुण से उत्पन्न काम—"स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणं। सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्ति रेवच॥" इन आठ उपायों से तुम्हारे श्वास प्रश्वास को आधार बनाकर, एकदम स्थूल (पार्थिव) विषयों में उतार कर तुम्हें विशुद्ध बोध से, मा की स्नेहमय गोद से गिरा देता है।। आओ, एक बार हम मा का नाम लेकर, इस आठ प्रकार की पीड़ा का असल स्वरूप जानने की चेष्टा करें।

प्रथम स्मरण, अर्थात् रूप रसादि काम्य विषयों की स्मृति आती है। यही महिष रूपी असुर का पहला पीड़न है। याद रखिये कि जिस शक्ति-प्रभाव से काम्य विषयों की स्मृति जाग्रत हो, वही रजोगुण वा महिषासुर है। किसी विषय का बार बार स्मरण होने पर क्रम से उस विषय का कीर्तन आरम्भ होता है अर्थात् काम्य विषय की आलोचना चलने लगती है। फिर अकस्मात् किसी स्थान में उस विषय का सङ्ग हो जाता है, इसी का नाम केलि है। एक बार सङ्ग हो जाने पर ही विषय भोग के सुख का आस्वाद समझ सकते हैं; तब प्रेक्षण वा अन्वेषण आरम्भ होता है। अन्वेषण से इच्छित विषय का पता पा लेने पर उसे संग्रह करने का गुह्य भाषण (चुपचाप परामर्श) होने लगता है। ऐसा परामर्श अकेले में भी केवल मन बुद्धि के साथ हो सकता है। परामर्श स्थिर होने पर इसे पाने का दृढ़ सङ्कल्प

होता है। फिर सङ्कल्प से अध्यवसाय—तीव्र उपाय हो कर तब क्रिया निष्पत्ति (काम्य विषय की प्राप्ति) होती है। ये आठ उपाय केवल कामेन्द्रिय चरितार्थ ही के लिये प्रयोग नहीं किये जाते, बल्कि प्रत्येक इन्द्रिय के साथ इच्छित विषय का संयोग होने पर भी समझना चाहिये—ज्ञान से वा अज्ञान से यथायोग्य भाव से ये आठ उपाय किये ही जाते हैं।

मानलो कि तुम्हारी इच्छा धन मिलने की हुई। तो देखो किस तरह उसमें इन आठ अङ्गों का अनुष्ठान किया जाता है। प्रथम अर्थ (धन) का स्मरण हुआ (यह स्मृति संस्कार से होती है—ये संस्कार रजोगुण के उबाल मात्र हैं। इस रजोगुण का ही नाम महिषासुर है। यह पूर्व भी कहा गया है।) द्रव्य विषयक स्मृति से ही उसका कीर्तन वा आलोचना होती है। फिर किसी धनवान पुरुष का सङ्ग होता है—अर्थात् किसी धनी मनुष्य के आचार व्यवहार और कार्य प्रणाली के संसर्ग में आना होता है। इसी का नाम केलि वा क्रीड़ा है। फिर प्रेक्षण अर्थात् धन कहाँ है उसका पता लगाया जाता है। फिर गुह्यभाषण—किस उपाय से वह प्राप्त किया जाय उसका परामर्श। इस तरह क्रम से सङ्कल्प और अध्यवसाय द्वारा क्रिया निष्पत्ति होकर अभीष्ट अर्थ प्राप्त होता है। अब देखिये—तुम्हारे स्वस्थ चित्त को महिषासुर ने कैसा व्याकुल कर डाला। स्वस्थ अवस्था में श्वास प्रश्वास निरुद्ध होता और नासाभ्यन्तर चारी रहता है, और इस आठ प्रकार के पीड़न से उसकी गति अस्वाभाविक चञ्चल होने लगती है। तुण्ड प्रहार खुर क्षेप आदि उपाय से गण सैन्य को मथन करने का यही तात्पर्य है। मन्त्र में भी "पातयामास भूतले" अर्थात् गण सैन्य समूह को तुण्ड प्रहार आदि आठ उपायों की सहायता से भूमि पर गिरा देने की बात कही गई है। महिषासुर ने

चित्त किस तरह भूतल अर्थात् स्थूल भाव में उतर आता है, वही यहां अति सुन्दर भाव से दिखाया है। श्वास प्रश्वास की गति द्वारा ही चित्त की अवस्था प्रकाशित हो जाती है। प्राण वायु की चञ्चलता चित्त की चञ्चलता का ही वाहिरी लक्षण है।

शास्त्रकारों ने इस स्मरण कीर्तन आदि को अष्टाङ्ग मैथुन वा अब्रह्मचर्य कहा है। विषय और इन्द्रियों के संयोग रूप मिथुन भाव से ही उसकी उत्पत्ति है। इसी से उसको मैथुन कहा है। जिस किसी इन्द्रिय के साथ विषय का संयोग होने पर ही, यह अष्टाङ्ग मैथुन सिद्ध होता है। यह ब्रह्मचर्य का विरोधी अर्थात ब्रह्म में विचरने के विषय में भारी विघ्न है। साधक यह न समझें कि केवल उपस्थ संयम वा बिन्दु निरोध कर सकने से ही ब्रह्मचर्य का पालन होता है। "वीर्य धारणं ब्रह्म चर्यम्" यह ब्रह्मचर्य्य का बाहिरी लक्षण मात्र है। तुमने आंख से फूल मात्र रूप में फूल देखा, कानों से शब्द मात्र रूप में शब्द सुना, ये भी मैथुन हैं। यह भी ब्रह्मचर्य्य के विरोधी हैं। यथार्थ ब्रह्मचर्य तब ही सिद्ध होगा जब इन्द्रियां रूप रसादि विषयों के स्पर्श में आकर भी ब्रह्म संस्पर्श के सिवाय और कोई अनुभूति न लाया करें। जब तुम "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" "ईशावास्यमिदं सर्वं" इस ज्ञान पर प्रतिष्ठित होगे, जब "ब्रह्म के सिवाय और कुछ भी नहीं है" इस विश्वास पर दृढ़ होगे, केवल तब ही तुम असल ब्रह्मचर्य का स्वरूप अनुभव कर सकोगे। किन्तु हाय ! ऐसी अवस्था में उपस्थित होने पर भी फिर "इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः (गीता २। ६०)"! इन्द्रियाँ पूर्व अभ्यास वशतः विषय ग्रहण कर लेती हैं। दीर्घकाल सत्कार पूर्वक श्रद्धा के साथ इस ब्रह्मचर्य का पालन और अनुशीलन किये बिना पूर्वोक्त अष्टाङ्ग मैथुन या अब्रह्मचर्य्य के हाथ से छूटने की आशा नहीं।

फिर साधना की ओर से देखिये—ये स्मरण, कीर्तन, केलि आदि अष्टाङ्ग अनुष्ठान यदि आत्माभिमुखी हों, तो वे ही ब्रह्मचर्य के पूर्ण आदर्श बन जाते हैं। अजी ब्रह्म में विचरण करने का नाम ही तो ब्रह्मचर्य है। ब्रह्म तो हमारी आत्मा—मा है! अच्छा अब एक एक अङ्ग को देखिये। प्रथम स्मरण—मातृ-स्मृति। यदि गुरु की कृपा प्राप्त की है, तो अवश्य ही मातृ अस्तित्व में विश्वासवान हुए होंगे। यह विश्वास ही तुम्हारा वृत्रघ्न, वही रजोगुण का अन्तरमुखी विकाश वा पुरन्दर है। महिषासुर जिस तरह विषयों की स्मृति लेकर आता है, पुरन्दर वैसे ही मातृ-स्मृति लेकर आवेगा। अवश्य ही आवेगा। जितना स्मरण होता है उतना ही कीर्तन आरम्भ होता रहता है—मा के स्नेह, दया, महत्व स्वरूप आदि की आलोचना होती रहती है। ईश्वरीय कथा अच्छी लगती है। गीता में भी कहा है:—

"कीर्तयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति रमन्ति च।" (१०।६) कीर्तन के परे केलि (खेल) होता है, स्तव जप पूजा वन्दना इत्यादि। हां जी हां! जिसको तुम साधना, उपासना कहते हो, वह सब खेल ही तो हैं। जो अनन्त ब्रह्माण्ड की सृष्टि, स्थिति और प्रलय करने वाली महाशक्ति और जो वाक्य मन के अतीत है, उसको लेकर जब हम साधना उपासना करते हैं। तब उसको खेल के सिवाय और क्या कहा जाय? शास्त्र में भी कहा जाता है—"बाल क्रीड़नवत् सर्वं, नाम रूपादि कल्पनम्"। साधना मात्र ही बालकोचित क्रीड़ामात्र हैं। कितनी ही कठोर तपस्या करो, अथवा कितने ही योग-कौशल का सहारा लो, परन्तु मा के समीप वे बच्चों के खेलमात्र हैं। सुनो, मा को पाने का अर्थ ही—मा का होना वा मा होना है। "सो जाने जेहि देउ जनाई, जानत तुमहिं तुमहिं हुइ जाई।" अनेक लोग भगवान् का मिलना ऐसा समझते हैं जैसा कि जगत की कोई वस्तु मिलती है। यह

बात नहीं, उनको पाने के मानी है आप उनका हो जाना, अपने को उनके चरणों में अर्पण करना। इसी से तो कहा है—मा को पाना, मुझको देना और मा होना, ये तीनों एक ही बात है। क्या यह साधना या खेल करके हो सकता है? नहीं हो सकता! होता है उनकी दया से, उनकी इच्छा से! वे आप इच्छा करके अपना प्रकाश करती हैं। इसी से जीव अपने को दे डालता है या अपने को भूल जाता है। जगत में जो कुछ साधना का भाव देखते हैं उसका तात्पर्य दूसरा है—जब मा अपना प्रकाश करती हैं-आती हैं, तब उनके आगमन के पूर्व लक्षण रूप कुछ घटनायें जीव में संघटित होने लगती हैं, उसी का नाम साधना है। जैसे ज्वार होने से जल फूलने लगते हैं, ठीक उसी तरह मातृ आगमन के पूर्व लक्षण स्वरूप जीव साधन भजन का अनुष्ठान करने लगता है। आज तक जितने लोगों ने मा को पाया है उनमें कोई यह बात नहीं कहता कि "मैंने साधना कर मा को पाया है" साधना और मा, यह पूर्वी और पश्चिमी समुद्र की तरह बिल्कुल जुदे जुदे हैं। जब तक मा को न पाया जाय, तब तक ही जान पड़ता है कि "मैं, कठोर साधना करता हूं।" किन्तु मा को पा लेने पर भली भांति समझा जा सकता है कि साधना करके यह वस्तु नहीं पाई जाती, ऐसा कोई उपाय नहीं, जिसके द्वारा मा को पकड़ा जाय। अजी साधना या उपाय तो मन और बुद्धि के हिलाने डुलाने के सिवाय और कुछ है नहीं! मा हमारी इससे बहुत दूर अवस्थित है। अस्तु, हम अप्रासङ्गिक बात कहते हुए बहुत दूर आ गये हैं, आओ साधक! फिर हम प्रस्तावित विषय पर पहुंच जायें।

कह रहे थे—कीर्तन से केलि वा खेल होता है। खेल से प्रेक्षण वा अन्वेषण आरम्भ होता है। मा की बाट देखती हुई साधक-सन्तान अपेक्षा में बैठी रहती है, अथवा मा की ओर

तक देखती रहती है। उसके बाद होता है "गुह्यभापण"। मा के समीप होने पर जो कुछ आवेदन, निवेदन, सुख-दुःख की कहानी चुपचाप प्राण में चलती रहती है। अनन्तर मातृ लाभ विषयक दृढ़ संकल्प और उसके अनुसार अध्यवसाय वा तीव्र यत्न आरम्भ होता है। पूर्व केलि के समय अर्थात् साधन काल में जो चेष्टा यत्न रहता है, वह मृदु वा सामान्य कुछ ऊपरी अनुष्ठान मात्र है और यह अध्यवसाय जब उपस्थित होता है (याद रखिये, मा को पाने से पूर्व यथार्थ अध्यवसाय नहीं आता) तब साधक प्राण की आकर्पण शक्ति से, प्रबल आकांक्षा से महाप्राण में मिल जाने की चेष्टा करता है। सबसे अन्त में क्रिया निष्पत्ति-सब कर्मों का अवसान वा नैष्कर्म्य (गीता १८। ४६) (ब्रह्मविषय विचार निष्पन्नज्ञान) होता है। जीव तब ब्रह्म हो जाता है। "ब्रह्मवेद ब्रह्मैवभवति।"

फिर विषय की ओर से देखिये—तुमको गुलाब का फूल भाता है। फूल को फूल मात्र न समझकर प्राण रूप समझने की चेष्टा करो। फूल के स्मरण कीर्तन के साथ ही साथ प्राण (मा) का स्मरण कीर्तन आरम्भ हो। इस तरह अष्टाङ्ग अनुष्ठान द्वारा महाप्राण में ही तुम्हारी क्रिया निष्पत्ति हो। जब गुलाब का फूल पाओ, तब यह मन में न हो कि हमने फूल पाया। तब देखो—सत्य ही अनुभव करो—हमारे प्राण ही गुलाब के फूल का रूप धारण कर हमको तृप्त करने आये हैं। इस तरह जब विषयों को एक मात्र प्राण की मूर्ति रूप से मिल सकोगे, तब ही तुम यथार्थ राग-द्वेप-विमुक्त फलाकांक्षा-रहित आसक्ति वर्जित होने से गीता में कहे हुए निष्काम कर्मयोग के अधिकारी हो सकोगे। यह सुनने में जितना कठोर है, कार्य में परिणत करना उतना कठिन नहीं है। कुछ दिन अभ्यास करने से यह स्वाभाविक हो जाता है। तब फिर चेष्टा करके

वियय को प्राण रूप नहीं समझना होता। अपने आप वह सिद्ध हो जाता है।

वैष्णव शास्त्र में जो प्रेम लक्षणा भक्ति का उल्लेख है वह भी इस स्मरण कीर्तन आदि आठ अङ्गों के अनुष्ठान द्वारा ही प्राप्त होने लगती है। अद्वय ज्ञानस्वरूप एक मात्र परम पुरुष श्रीकृष्ण, ये ही ब्रह्म परमात्मा भगवान् आदि शब्द से प्रसिद्ध हुए हैं। इन्द्रियद्वारों का नाम है=गो। इन्द्रिय प्रवाह वा शक्तियां–गोपी। परमात्मा के आकर्षण से विषयाशक्ति रूपिणी गोपियां विषय रूपी कुल छोड़कर, कृष्ण प्रेमसागर में निमज्जित हैं। विषय को विषय रूप में दर्शन न करके, कृष्ण स्वरूप में दर्शन करने का अभ्यास होने से ही स्मरण कीर्तन आदि अष्टाङ्ग अनुष्ठान श्री कृष्ण में ही निःशेष हो जाते हैं; अतएव जगत के कार्यों में भी एकमात्र कृष्ण की सेवा वा परमात्मप्रीति प्रकटती रहती है। वही शान्त, दास्य, वात्सल्य, सख्य और मधुर इन पांच भाव रूप से बाहिर प्रकाशित होती है। पूर्व कहे हुए स्मरण कीर्तनादि अष्टाङ्ग मैथुन अर्थात् विषयेन्द्रिय संयोग जब इस तरह श्रीकृष्ण प्रीति रूप में ही समाप्त होते हैं तब उनका नाम होता है 'प्रेम'; और उसके विपरीत भाव से जब तक केवल अपनी इन्द्रियतृप्ति में ही तृप्त रहते हैं तब तक उन्हें 'काम' कहते हैं। प्रेम और काम में यही भेद है। किन्तु वह दूसरी बात है।

निपात्य प्रमथानीकमभ्यधावत सोऽसुरः ।
सिंहं हन्तुं महादेव्याः कोपश्चक्रे ततोऽम्बिका ॥२३॥

अनुवाद। गणसैन्यादि को निपातित करके वह असुर महादेवी की हत्या करने को दौड़ा। इससे अम्बिका ने कोप प्रकट किया।

व्याख्या—महिषासुर पूर्वोक्त आठ प्रकार के उपायों से गणसैन्यदल को वित्रस्त करने लगा। चित्त को एक बार विषय की ओर से आकृष्ट कर सकने से ही साधक के जपाङ्क श्वास प्रश्वास, साधारण जीवों की तरह ही चलने लगते हैं, महिषासुर का उद्देश्य सिद्ध होता है। साधक! जब तुम श्वास प्रश्वासों को मातृ निःश्वास रूप में अनुभव करके देहात्मबोध को शिथिल करना चाहते हो, ठीक उसी समय अन्तर में कोई वैषयिक स्मृति आ खड़ी होती है, और क्रम से वह कीर्तन केलि आदि द्वारा—क्रियानिष्पत्ति रूप में परिणत होने पर ज्योंही तुम स्थूल बाह्य वस्तु में आकृष्ट हुए, त्योंही देखोगे कि तुम्हारा जो मातृ निःश्वास का अनुभव था वह लुप्त हो गया। वह जो आत्म-समर्पण का विपुल आनन्द था उससे गिर गये हो। अब तुम्हारी वृत्ति निरोध की अवस्था न रही। याद रक्खो—यही महिषासुर द्वारा गण सैन्य का विनाश है।

केवल इतना करके ही असुर चुप न रह गया, बल्कि सिंह पर भी आक्रमण किया। तुम्हारी जीव भाव पर जो हिंसा थी उससे भी रहित हो गये। साधारण जीवों की तरह विषयों के पीछे दौड़ने लगे। बड़े कष्ट से एक बार देहादि से पृथक् जिस विशुद्ध बोधमय मातृ स्वरूप पर स्थिर रहने का प्रयास किया था, उससे तुमको विच्छिन्न कर दिया। तुम जो सत्य ही देवी के वाहन मातृ-शक्ति के परिचालक यन्त्र मात्र हो, इस बोध से भी तुम विच्युत हो गये। साधक! एक बार ज्ञानचक्षु खोलकर देखो, तुम्हारा इतना यत्न, इतनी साधना, क्षणभर में सब व्यर्थ करके असुर-शक्ति अपनी सामर्थ्य प्रकाश कर बैठी। यदि साधक हुए हो तो यह अत्याचार अक्षर अक्षर अनुभव कर सकोगे। किन्तु भय नहीं। "कोपं चक्रे ततोऽम्बिका" मा ने अपनी बोधमयी मूर्ति से प्रकाश किया है, वे शीघ्र ही इस असुर के

हाथ से तुम्हारी रक्षा करेंगी।

सोऽपि कोपान्महावीर्य्यः खुरक्षुण्णमहीतलः।
शृङ्गाभ्यां पर्वतानुच्चांश्चिक्षेप च ननाद च ॥२४॥

अनुवाद। (अम्बिका का क्रोधभाव देखकर) वह महावीर्य महिषासुर भी क्रोधित होकर खुरों से धरती खोदने (अवलारे करने) लगा। सींगों के द्वारा ऊँचे-ऊँचे पर्वत फेंकता और भयानक शब्द करता था।

व्याख्या। गण सैन्य निपातित होने पर कुछ काल के लिये साधक अपने को मातृ-अङ्ग से विच्युत होना मानता है; यही दुर्बलता है। ऐसी दुर्बलता साधक मात्र में आती रहती है। अन्तर्निहित कामना के बीज एक साथ अङ्कुरित होकर साधक को अत्यन्त विव्रत कर डालते हैं। बुझने के पूर्व दीप शिखा अत्यन्त उज्ज्वल होती है, मृत्यु के पूर्व रोगी में जिस तरह आरोग्य लक्षण प्रकाश पाते हैं, महिषासुर का यह आक्रमण भी ठीक वैसा ही है। जीव का जब प्रज्ञाचक्षु खुलता है, आवरण विक्षेपादि निर्वीर्य हो जाते हैं तब ऐसा मनमें होता है—मानो हमारे अन्तर से कामना की जड़ उखड़ गई है। परन्तु उस समय तक वह वास्तविक निष्काम पुरुष नहीं हो सका है। तब भी साधक के अन्तर में कामना के बीज छिपे रहते हैं। उन गुप्त बीजों को प्रकट कर दिखाने के लिये ही मा की यह लीला है। यही रजोगुण रूपी महिषासुर का चरम आक्रमण है। साधक! जब तुम अपने को निष्काम पुरुष समझ कर प्रसन्नता प्राप्त करो, तब भी विचार कर देखो कि तुम्हारे भीतर कामनाओं के बीज गुप्त भाव से मौजूद हैं। अथवा अनुसन्धान करने की आवश्यकता नहीं। मा स्वयं ही उनको प्रकट कर, प्रत्याचार के आकार में तुम्हारे सामने धरेंगी। तब प्रत्यक्ष कर सकोगे कि

ने धरती खोद रहे हैं अर्थात् तुम्हारी पार्थिव देह तक विच्छिन्न हो रही है। केवल मन ही विषयों के पीछे नहीं दौड़ रहा है; बल्कि तुम्हारा स्थूल देह, वाक्, पाणि आदि कर्मेन्द्रियां भी विषय आहरण में लगने लगी हैं। और भी देखोगे—तुम्हारी देह और मन जितना विषयों की ओर खिचता है, उतना ही "मैं मुक्त होऊं, मैं सदा मा की गोद में अवस्थान करूं।" आदि पर्वत तुल्य आशायें इधर उधर बिखर रही हैं, एवं चित्तक्षेत्र में अनेक प्रकार के वैषयिक गोलयोग रूप नाद अर्थात् कोलाहल उपस्थित हो रहे हैं। ऐसे असम्भव आक्रमण से अनेक साधक हताश और उदास हो जाते हैं। "कि हमने समझ लिया कि अब हम मोक्ष मार्ग में आगे नहीं बढ़ सकेंगे।" यह कह कर अत्यन्त विषाद ग्रस्त हो जाते हैं।

वेग भ्रमण विक्षुण्णा मही तस्य व्यसीर्य्यत ।
लाङ्गूलेनाहतश्चाब्धिः प्लावयामास सर्व्वतः ॥२५॥
धूतशृङ्ग विभिन्नाश्च खण्डखण्डं ययुर्घनाः ।
श्वासानिलास्ताःशतशो, निपेतुर्नभसोऽचलाः ॥२६॥

अनुवाद। उसके भ्रमण वेग से मही ने क्षत विक्षत होकर विशीर्ण भाव धारण किया। पूंछ के आघात से समुद्र उमंग कर चारों ओर डुबाने लगे। सीगों के आघात से बादल टुकड़े टुकड़े होते थे। एवं निःश्वास की वायु के वेग से ऊपर फेंके हुए पर्वत आकाश से भूतल पर गिरते थे।

व्याख्या। कैसा शोचनीय अत्याचार है! इसमें अक्षर भी कल्पित नहीं है। मुमुक्षु साधक जब अन्तर से कामना के बीज मेटने को तैयार होते हैं, तब उन पर बार-बार ऐसे अत्याचार होते रहते हैं। पूर्व महिषासुर की जो आठ प्रकार के अत्याचार की चर्चा की गई है, वही उसका एकमात्र सम्बल है। कहीं तो,

कहीं चार, कहीं छः, कहीं आठ, अस्त्रों का प्रयोग किया जाता है। असुर के पास इनके सिवाय अस्त्र वा अत्याचार और कुछ भी नहीं है। यहां वेग से भ्रमण, लाङ्गूलाघात, सींग हिलाना एवं श्वास वायु रूप चार अस्त्रों का प्रयोग हुआ है। उनके द्वारा यथा क्रम से, मही (पृथ्वी) अब्धि (अप्) घन (तेज) मरुत् और नभः (आकाश) ये पाँचतत्व ही विक्षुब्ध होने लगे हैं। यहां घन शब्द वायु और तेजस्तत्व का उपलक्षण है। यद्यपि मेघ जल का ही परिणाम मात्र है, तथापि वायु मार्ग ही उसकी गति स्थिति और उत्पत्ति होने के कारण घन शब्द से यहां मरुत् तत्व ही समझना चाहिये। मन्त्र में तेजस्तत्व का कुछ उल्लेख न रहने पर भी बिजली संयुक्त रहने के कारण घन शब्द से तेजस्तत्व भी समझना होगा। स्थूल बात यह है कि पञ्चतत्त्व, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय और पञ्च कर्मेन्द्रिय इनके ऊपर ही कामना का सब कुछ अत्याचार है। क्षिति तत्त्व की ज्ञानेन्द्रिय नासिका और कर्मेन्द्रिय पायु है। अप् तत्व की ज्ञानेन्द्रिय रसना, कर्मेन्द्रिय उपस्थ है। तेजस्तत्व की ज्ञानेन्द्रिय चक्षु और कर्मेन्द्रिय पाद हैं। मरुत् तत्त्व की ज्ञानेन्द्रिय त्वक्, कर्मेन्द्रिय पाणि एवं व्योमतत्व की ज्ञानेन्द्रिय कर्ण, कर्मेन्द्रिय वाक्। इस तरह पञ्चतत्त्व, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय, एवं रूप रस शब्द स्पर्श और गन्ध, ये पाँच विषय; यहाँ तक ही कामना का क्षेत्र है। इसके ऊपर कामना कहने को कुछ नहीं है। इन्द्रियां क्षिति आदि पञ्च भूतों के ही सात्विक वा राजसिक परिणाम मात्र हैं। अतएव कामना क्षेत्र कहने से—संक्षेप में क्षित्यादि पञ्चभूत तक ही समझा जाता है। इसी से मन्त्र में देखते हैं—कि महिषासुर के अत्याचार ने मही, अब्धि (तेज और मरुत्) एवं नभः इन पञ्च तत्त्वों को विक्षुब्ध किया है। साधारण जीवों और साधकों में यही भेद है। विषय

को विषय रूप से ग्रहण करने से, वह जो असुर का अत्याचार होता है, उसे साधारण जीव किसी तरह नहीं समझ सकते। हज़ार बार समझा देने पर भी धारणा नहीं कर सकते—वे उस समझने को पागल का प्रलाप मात्र समझते हैं। हमने गुलाब का फूल देखा, इसमें असुर का अत्याचार क्या ? इसलिये पहले ही कह रक्खा है, कि जो विज्ञानमय कोष में आत्मबोध संग्रह कर सके हैं, केवल उन्हीं को श्री श्री चण्डी का यह आध्यात्मिक रहस्य अमृत के समान प्रिय (आनन्द दायक) होगा।

अस्तु, पञ्चतत्त्व, पञ्च इन्द्रिय एवं पञ्चविषय रूप कामना क्षेत्र में जिनका आविर्भाव है, वे भी इस बोध के सिवाय और कुछ नहीं है, चैतन्य वा प्राण ही उनकी एक मात्र सत्ता है, इस अनुभव से साधक जिस घड़ी गिर जाते हैं, उसी समय वे पृथक् रूप से सत्तावान होकर, चित्त क्षेत्र को चञ्चल कर देते हैं। यह मर्म मर्म में समझा देने ही के लिये ही यह अत्याचार का अभिनय है।

साधक ! तुम भी अपने चित्त क्षेत्र में छिपी हुई कामनाओं का कार्यकलाप बड़े विचारपूर्वक देखते रहो तो देखोगे कि वे जब प्रकाश करते हैं, तब सचमुच मही वेग भ्रमण से खण्ड-खण्ड होने लगती है। ऐसी आकस्मिक कामनाओं के वेग से अनेक साधक अपने को मा की गोद से फिसल पड़ना समझ लेते हैं, उसे विचारने में भी दिल काँप जाता है। जब प्रबल भाव से कामना का वेग प्रवाहित होता है, तब यथार्थ ही अपने को अत्यन्त क्षुद्र, हीन मानते हैं। मानो ऊंची साधना, कठोर तपस्या, अलौकिक योग शक्ति सब क्षण भर में बहा ले गया हो।

इसके पश्चात् "लाङ्गूलेनाहतश्चाब्धिः," पूंछ से आहत होकर समुद्र ने सर्वत्र लाभित कर दिया। अब्धि शब्द से केवल जलसमुद्र न समझ कर, रस का समुद्र और पुच्छ शब्द से

कर्म फल समझलो। पुच्छ—कामना रूप असुर का अन्तिम अङ्ग है। कर्म फल ही कामना की चरम प्रतिष्ठा है। उपनिषद् में भी पुच्छ, प्रतिष्ठा रूप से ही कही है। किसी विशिष्ट कर्म फल के मोह में साधक अत्यन्त मुग्ध हो जाते हैं। चाहे वह अतितुच्छ अति सामान्य ही हो; किन्तु जिस रस समुद्र में अवगाहन करके साधक ने सब विषयों की आकांक्षा से पार चले जाने की आशा की थी, वह रस समुद्र भी तुच्छ विषयासक्ति द्वारा लहराकर इधर उधर विक्षिप्त हो गया है। केवल यही नहीं सींगों के आघात से मेघ टुकड़े टुकड़े हो रहे हैं। शृङ्ग=उत्तमाङ्ग। मेघ—तेज और मरुत तत्त्व। विषयों की चिन्ता से देह में स्थित तेज और मरुत् तत्त्व उमड़ने लगे हैं। वे सदा वैषयिक स्पन्दन में व्यस्त ही हो रहे हैं। उसी के फल से श्वास प्रश्वास की जो शमता—नासाभ्यन्तर चारिता थी, वह भी नहीं रही; वह अस्वाभाविक होगई है। वैषयिक चिन्ता होते ही श्वास प्रश्वास की गति का बदलना तो प्रत्येक मनुष्य धीर भाव से देखे तो समझ सकता है। जब तक मातृ-निश्वास बोध रहता है, तब तक उसकी गति अति मृदु—उफान रहित रहती है; किन्तु ज्योंही विषय चिन्ता आ जाती है, त्योंही वह अति चञ्चल होने लगती है। साथ ही साथ मातृ लाभ विषयक अन्तर की बड़ी ऊंची ऊंची आशायें विलाय जाती हैं। यही मन्त्रस्थ—श्वास वायु के वेग से पर्वत पतन कहने का तात्पर्य है।

इस तरह कितने ही अत्याचार आवें, तुम साधक हो, तुम मा को पाने की इच्छा वाले सन्तान हो, व्याकुल और हताश न हो। अपने अङ्ग पर विरुद्ध कर्म फल की मलिनता देख कर मा की ओर से दृष्टि मत फिराओ। अपनी मलिनता की चिन्ता न करो, विषय-संसार की चिन्ता न करो। चिन्ता यदि करनी हो मातृ-चिन्ता ही करो। विषयों में चिन्ता करने की

कुछ आवश्यकता नहीं। जगत् के कार्य उपस्थित होने पर वे साधारण ज्ञान से ही ठीक-ठीक पूरे हो सकते हैं। चिन्ता करके, माथा पच्ची करके जगत् का कोई कार्य नहीं किया जाता। हमें बहुत दिन से विषयों की चिन्ता करते करते इतना अभ्यास हो गया है कि चिन्ता कहते ही विषय की चिन्ता समझ लेते हैं। वास्तव में जगत् के कार्य बिना चिन्ता के भी अच्छी तरह पूरे हो सकते हैं। जैसे भूख लगने पर आहार करते हैं, मल-मूत्र का वेग आने पर उन्हें त्याग देते हैं। इन विषयों के लिये पहले से कुछ चिन्ता नहीं की जाती। ठीक उसी तरह द्रव्योपार्जन विषय संरक्षण इत्यादि भी बिना चिन्ता के भी अच्छी तरह सिद्ध हो सकते हैं—यदि मातृमुखी चिन्ता प्रवाह रहे। श्री भगवान् ने कहा है—"अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योग क्षेमं वहाम्यहम्।" "मैं के सिवाय और कुछ भी नहीं है, अतएव चिन्ता करो तो मेरी (आत्मा की) ही करो। ऐसा करने से तुम्हारा योगक्षेम मैं स्वयं वहन करूंगा, तुम्हारी जो कुछ आवश्यकता है वह मैं प्राप्त कर दूंगा। अप्राप्त वस्तु का मिलना योग, उसकी रक्षा करना क्षेम।

मा, समझे कि तुम्हारी भावना कर सकने से, फिर अपने लिये कोई भावना रहती ही नहीं। किन्तु उसे कर तो नहीं सकते! बार बार अनावश्यक विषय चिन्तायें आकर चित्त क्षेत्र को आकुल कर डालती हैं और ऐसा अवसर देखती रहती हैं कि आत्मा की भावना छोड़ कर कब विषय चिन्ता करने लगें! यदि कुछ तुम्हारी कथा लेकर बैठें तो केवल समय की बाट देखते रहते हैं कि कब विषय चिन्ता (व्यवहारिक कार्य) में लग जावें। मा! हमारी प्रकृति ऐसी ही बहिर्मुखी है। हमारे ऊपर महिषासुर का ऐसा ही अत्याचार है। हम समझते हैं कि यह अन्याय है, यह अत्याचार है; तो भी मा हमें वे ही

अच्छे लगते हैं कि विषय बड़ी प्रसन्नता कराने वाले हैं। मा! कब हमारी यह आसुरी प्रकृति बदल जायगी ? कितने दिन में हम केवल तुम्हारी ही चिन्ता में कालातिपात करने लगेंगे? कितने दिन में हमारी सब प्रकार की वैषयिक प्रीति तुम मय हो जायगी ? कितने दिन में हमारा सब मोह केन्द्रीभूत होकर आत्मारूपिणी मा तुममें ही पर्य्यवसित होगा ? कितने दिन में परम प्रेम के आस्वाद से हमारा जीवन धन्य होगा ? मा, सन्तान की यह आशा कितने दिन में पूर्ण होगी ?

इति क्रोधसमाध्मातमापतन्तं महासुरम् ।
दृष्ट्वा सा चण्डिका कोपं तद्वधाय तदाकरोत् ।२७।

अनुवाद। इस तरह उस महासुर को क्रोधमय आता देखकर उसके वध के लिये चण्डिका ने कोप किया।

व्याख्या—इससे पहले इस महिष ने जब सिंह पर पहला आक्रमण किया था, तब भी मा ने एक बार क्रोध प्रकट किया था। उस क्रोध से जीव की सञ्चित कामनाओं की जड़ शिथिल हो गई थी। अब कुछ आगे चलकर हम देखेंगे, फिर देवता कहेंगे—"रुष्टातु कामान् सकलानभीष्टान्" मा के रुष्ट होने से सन्तान की सब कामनाओं का विनाश होता है। यहां भी मा के कोप से वही होता है—जीव अब ऐसी अवस्था पर आ पहुंचा है कि वह अब सञ्चित कामनाओं का बिन्दुमात्र उभरना नहीं देखना चाहता। तो भी छिपी हुई कामनाओं के बीज कभी कभी आकर अपने प्रकाश से साधक को पीड़ित करते हैं।

इसी से मा ने देखा कि अब चुप रहने से अथवा केवल क्रोध करने से ही काम न चलेगा। इस असुर को निहत करना ही होगा। जितना क्रोध उद्दीपित करने से उसका निधन किया जा सके, मा ने उतना ही क्रोध प्रकाश किया। इसी से मन्त्र में

कहा गया है—"तद्वधाय कोपमकरोत्"। असुर निधन के उपयुक्त क्रोध का विकाश हुआ है। यही मा की चण्डिका मूर्ति है। । से ऋषि ने मन्त्र में "चण्डिका शब्द का प्रयोग किया"।

पूर्व कहा है—सन्तान जहां पीड़ित हैं, माता वहां कुपिता हैं; यही चण्डिका मूर्ति का रहस्य है। हम जो सौ अत्याचारों से भी पीड़ित नहीं होते, इसी से तो मा चण्डी मूर्ति से अपना प्रकाश नहीं करती। जिस समय हम अपने को सचमुच पीड़ित समझ सकेंगे, उसी क्षण मा के हृदय में स्नेह की बाढ़ उठेगी, मा सन्तान को असुर-ग्रास से मुक्त करेंगी। यही मातृत्व है। नहीं तो मा कैसी ? अजी, मा से कहना नहीं पड़ता—"मा हमें भय से छुड़ाओ"। यथार्थ भीत होने पर मा स्वयं ही परित्राण करती है। हम मुख से हज़ार बार कहें—"त्राहिमांभव सागरात्"। परन्तु क्या प्राण से हम सचमुच इस भवसागर को दुःखदायक समझते हैं! सो नहीं, दस जन कहते हैं, इसी से हम भी मुंह से कहने लगते हैं! मा तो हमारे प्राण देखती हैं। जिस दिन समझेंगे कि यह संसार यथार्थ ही दुस्तर भव सागर है, उस दिन फिर "त्राहिमां" न कहना पड़ेगा। बोलने से पूर्व ही मा गोद में उठाकर छाती से लगा लेंगी। हम भी दुस्तर भव सिन्धु से अनायास ही उत्तीर्ण हो जायेंगे। वह देखो साधक ! तुम्हारे प्राण में यथार्थ पीड़ा बोध हुआ है या नहीं, उसे देखने के लिये, स्नेहमयी मा इकटक दृष्टि से तुम्हारी ओर देख रही हैं। अजी कब तुम सचमुच मा कहते हुए रोने लगोगे ?

सा क्षिप्त्वा तस्य वै पाशं तं बबन्ध महासुरम् ।
तत्याज माहिषं रूपं सोऽपि बद्धोमहामृधे ॥२८॥

ततः सिंहोऽभवत्सद्यो यावत्तस्याम्बिका शिरः ।
छिनत्ति तावत्पुरुषः खड्गपाणिरदृश्यत ॥२९॥

ततएवाशु पुरुषं देवी चिच्छेद सायकैः ।
तं खड्ग चर्म्मणा सार्द्धं ततः सोऽभून्महागजः ॥३०॥

करेण च महासिंहं तञ्चकर्ष जगर्ज्जच ।
कर्षतस्तु करन्देवी खड्गेन निरकृन्तत ॥३१॥

ततो महासुरो भूयो माहिषं वपुरास्थितः ।
तथैव क्षोभयामास त्रैलोक्यं स चराचरम् ॥३२॥

अनुवाद। देवी ने पाश फेंक कर उस महासुर को बांध लिया, वह भी उस युद्ध क्षेत्र में बंधा हुआ ही भैंसे का रूप बदल कर सिंह रूप बन गया। देवी ने उसका शिर काट दिया। तब वह हाथ में तलवार पकड़े हुए मनुष्य या मानुष रूप में दिखाई पड़ा। देवी ने उस ढाल तलवारधारी पुरुष-मूर्ति क बाण से काट दिया। असुर तब महागज का रूप धारण कर देवी के वाहन महासिंह को सूंड़ से खींचकर भयानक गर्जना करने लगा। देवी ने भी उस आकर्षण कारी हाथी की सूंड़ खड्ग से काट दी। अनन्तर वह महासुर फिर महिष वपु धारण कर पहले की तरह प्रायः तीनों लोक को चञ्चल करने लगा।

व्याख्या—तात्पर्य समझने में सुविधा होने के लिये पांच मन्त्रों की व्याख्या एक साथ ही लिखी गई है। इन मन्त्रों का संक्षिप्त विवरण—महिषासुर ने जब सिंह के ऊपर अत्यन्त अत्याचार आरम्भ किया, तब देवी ने क्रुद्ध होकर उसे पाश बद्ध कर लिया। तब पाश से बँधे हुए महिष ने सिंह मूर्ति धारण करली। सिंह का शिर कटते न कटते वह खड्गपाणि पुरुष रूप में दिखाई दिया। देवी ने बाण से उसको बेध दिया। त्योंही महागज मूर्ति धारण कर सूंड़ से देवी के वाहन सिंह को आकर्षण और गर्जना करने लगा। देवी ने उसकी

सूंड़ काट दी। तब उसने फिर महिष मूर्ति में आविर्भूत होकर पूर्ववत् आठ तरह की पीड़ा देना आरम्भ किया।

बड़ा सुन्दर रहस्य है! आओ साधक! हम मा के चरणों का स्मरण कर इस रहस्य में अवगाहन करें। वे हमारी धी खोल दें। हम चण्डी का रहस्य अच्छी तरह जान कर संशय रहित (पार) हो जायें।

प्रथम महिषासुर के रूपों के बदलने का रहस्य जानना आवश्यक है। (१) महिष (२) सिंह (३) खड्गपाणि पुरुष (४) महागज (५) फिर महिष। इनमें पूर्व पूर्व निहत होने पर, पर पर मूर्ति प्रकाशित हुई थी। सञ्चित कामनाओं का प्रथम अत्याचार महिष रूप धारी असुर का पीड़ा देना है। यह पूर्व मन्त्र में व्याख्यात् हुआ है। उसकी दूसरी मूर्ति सिंह है। जीव जब कामना की प्रतिहिंसा करना आरम्भ करता है, तब ही महिष सिंह रूप में बदल जाता है। यह बात कुछ अच्छी तरह समझ लेना आवश्यक है। जीव सञ्चित कामनाओं की पीड़ा से बार बार पीड़ित होकर उसके नाश करने के लिये, गृहस्थी का त्याग, सन्यास वा वैराग्य का आश्रय लेता है। स्त्री पुत्र त्याग कर वृक्ष के नीचे वा पहाड़ की गुफा में रहने लगता है। इसी का नाम कामना का महिष रूप त्यागकर सिंह रूप धारण है। जीव अब तक केवल वासनाओं द्वारा पीड़ित होता था, अब वासना त्याग की वासना से पीड़ित रहता है याद रखिये—वासना-त्याग की वासना भी वासना के सिवाय और कुछ नहीं है। अन्तर में वासना के बीज जमा रहते हैं; और बाहिर से अनेक कठोर संयम व्रत नियमादि की सहायता से उन्हें उगने से रोकने की चेष्टा की जाती है। साधारण दृष्टि से अवश्य यह अवस्था बहुत ऊंची है; किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से यह वासना का ही ... [illegible] है। रोककर

वस्त्र धारण करने अथवा वृक्ष तले निवास करने कीवासना भी वासना है। तत्त्वज्ञ जन इन दोनों में कुछ भेद नहीं देख पाते। एक सन्यासी पेड़ के नीचे धरती पर शयन करके यदि मानता है कि मैं संसार त्याग कर भूमि शय्या पर शयन करता हूँ; तो उसकी अपेक्षा तो वह साधक जो अट्टालिका में बिछी हुई अति कोमल शय्या पर शयन कर मा की गोद में शयन के सम्वेदन से पुलक रोमाञ्चित होता है, वह अधिक त्यागी है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

इसी से कहा है कि—वासना-त्याग की वासना भी असुर का अत्याचार है। मा ऐसे अत्याचार से पीड़ित सन्तान की रक्षा के लिये सिंह का शिर काट देती है, अर्थात् वासना की प्रतिहिंसा भाव पोषण करना भी वासना का ही रूपान्तर मात्र है, यह भली भांति समझा देती है। तब फिर त्याग की वासना भी नहीं रहती। इस अवस्था में कामना दूसरी मूर्ति से प्रकट होती है। वह मूर्ति—खड्ग पाणि पुरुष है। खड्ग पाणि शब्द छेदन-तात्पर्य्य बोधक है। मातृ-कृपा से जीव जब समझ सकता है कि त्याग की वासना भी तो वासना है, तब फिर जिससे चित्त क्षेत्र में कामना के बीज किसी तरह अङ्कुरित न हो सकें, उसका उपाय करता है। वह उपाय है—वृत्ति-निरोध। यही खड्ग पाणि पुरुष है। किसी तरह यदि चित्त के वृत्ति प्रवाह को निरुद्ध किया जाय, भला बुरा, त्याग ग्रहण, किसी तरह की वृत्ति को फिर प्रकाशित न होने दिया जाय, तब ही सब आपदायें दूर हो जायें, यह समझ कर जीव प्राण पण से वृत्ति निरोध का यत्न करने लगता है। सब काट छांट कर छोड़ देना ही उसका उद्देश्य होता है, यही खड्ग पाणि पुरुष का आविर्भाव है। किन्तु मा शीघ्र ही बाण द्वारा इस पुरुष के भी दो टुकड़े कर देती है; अर्थात् स्नेह की सन्तान को धीरे-धीरे दिखा

देती है—वृत्ति निरोध रूप कार्य्य भी चित्त का धर्म्म है। व्युत्थान चञ्चलता, विक्षेप, ये जैसे चित्त-धर्म्म हैं; वह निरोध नामक अनुष्ठान भी ठीक उसी तरह चित्त का ही एक प्रकार धर्ममात्र है। योग सूत्रकार पातञ्जलि देव ने भी स्वयं इसकी व्याख्या की है। जीव का उद्देश्य आत्म-प्राप्ति है। चित्त वृत्ति निरोध रूप चित्त-धर्म प्राप्त करना, उसका लक्ष्य नहीं है। ऐसे निरोध में भी कुछ अव्यक्त सुख अवश्य है। पाँच मन बोझा लादे हुए बेगारी आदमी के शिर पर से यदि वह बोझ उतार दिया जाय तो वह जैसे अपना बहुत कल्याण मानता है, वृत्ति निरोध में भी ठीक वैसा ही सुख है। बार बार एक के बाद एक लहर आकर चित्त क्षेत्र को स्पन्दित करती है, एक वासना पूरी नहीं होने पाती कि दूसरी वासना आकर चित्त क्षेत्र में झाँकने लगती है। ऐसा होते हुए एक दो दिन नहीं हुआ बल्कि जन्म जन्मान्तर से होता आरहा है। किसी तरह यदि इनके हाथ से परित्राण पाया जाय, तो वही परम लाभ है। ऐसा विचार कर ही जीव वृत्ति निरोध का यत्न करने की कोशिश करता है। किन्तु परम सुख वा यथार्थ शान्ति यहां नहीं है। चित्त शान्ति क्षेत्र नहीं है। निरुद्ध हो चाहे विक्षिप्त ही हो, वहां यथार्थ शान्ति नहीं पाई जाती। शान्ति पाने के लिये बुद्धि के भी ऊपर उठना होगा। आत्मक्षेत्र में अमृतमय मातृ-अङ्क में आरोहण करना होगा। जहां न चित्त है, न वृत्ति है, न विक्षेप ये कुछ भी नहीं हैं, वहाँ जाना होगा केवल शिर का बोझा पटक कर विश्राम प्राप्त करने से ही यथार्थ शान्ति नहीं मिलती बल्कि राज सिंहासन पर बैठना होता है। जो आसन मन बुद्धि चित्त अहङ्कार से बहुत ऊँचे पर प्रतिष्ठित है, उसी—स्नेहमयी मा की मधुमय गोद में अवस्थान करना होगा—आत्मसंस्थ होना होगा, जहां पहुंचने से भ्रान्ति, संशय, अज्ञान सदा के लिये दूर हो जाते हैं उसी

अपने परम धाम में अवस्थान करना होगा। यह तत्व मा जब कृपाकर जीव को अनुभव करादें, तब ही वृत्ति-निरोध पर जीव की जो प्रबल आसक्ति है, वह दूर हो जाती है। यही देवी द्वारा खड्ग पाणि पुरुष का निधन है।

इसके पश्चात महागज रूप में आविर्भाव! गज धातु का अर्थ बन्धन है। महागज शब्द का अर्थ महाबन्धन है जिसका काटना अति कठिन है। इस अवस्था में जीव समझ सकता है कि, वृत्ति निरोध, वासना त्याग, अथवा सात्विक मा की गोद में अवस्थान कुछ भी क्यों न करो, वासना के अत्याचार से एक दम किसी के द्वारा नहीं छूटा जाता। जब तक कौशल की सहायता से वृत्ति निरोध पूर्वक शून्य-वत् भाव से सुषुप्तवत् बैठा जाय, तब तक तो वासना का अत्याचार नहीं होता; किन्तु निरोध तो चिरस्थायी नहीं है, फिर व्युत्थित होना होता है। अथवा मा–भी तो दीर्घकाल तक अपनी गोद में स्नेह के स्पर्श से सन्तान को नहीं पकड़ रखती, फिर छोड़ देती है। तब फिर कामनायें दीखने लगती हैं। जब तक आत्म संस्थ होकर रहा जाता है, तब तक उनका नाम वा गन्ध अवश्य नहीं रहता, किन्तु क्षण भर बाद फिर अनात्म बोध फूट उठता है। इस तरह बार बार पीड़ित होते रहने से कामना जय बिलकुल असम्भव जान पड़ता है। तब साधक को बड़ी व्यथा जान पड़ती है। "हाय! इस अव्यक्त अच्छेद्य बन्धन के हाथ से परित्राण पाने का कुछ भी उपाय नहीं है!" ऐसा समझ कर जीव कुछ दिन के लिये हताश हो जाता है। यही "तच्चकर्ष जगर्ज्जच" यही महागज रूपधारी महासुर का आकर्षण और गर्जना रूप आक्रमण है। तत्वदृष्टि से देखा जाता है—जीव जब अपने को बद्ध मानता है तब तक ही वह बद्ध है। वास्तव में बन्धन वा मुक्ति कुछ भी नहीं है। नित्य मुक्त नित्य

स्वाधीन परमात्मा का बन्धन ज्ञान कल्पना मात्र—एक लीलामात्र है। तथापि जीव के पक्ष में यह बन्धन ज्ञान भी अति दुर्लभ है! अनेक जन्म के बाद, अनेक साधना के फल से, मा की कृपा से जीव अपने को यथार्थ बद्ध रूप मान सकता है। अरे! बन्धन ज्ञान होना ही तो साधना का फल है! मुक्ति साधना का फल नहीं है। मुक्ति तो नित्य-चिरमुक्त है। बन्धन बोध होता कहां है? मुख से हजार बार कहा जाय-मैं बद्ध हूँ; किन्तु बन्धन कहां है, उसे जीव प्रथम समझ नहीं सकता। साधारण जीवों का बन्धन ज्ञान सांसारिक पीड़ाओं के कारण एक प्रकार का आनुमानिक ज्ञान मात्र है। बद्ध अवस्था का यथार्थ अनुभव भी उनको नहीं है, किन्तु मा अपनी स्नेह की सन्तान को मुक्ति का आस्वाद भोग करावेंगी; इसी से आज महाबन्धन स्वरूप जीव के सामने प्रकाशित किया। इसीसे आज महिपापुर महाराज मूर्ति से आविर्भूत हुआ। क्षण भर के लिये मुक्ति का आस्वाद पाये बिना, क्या यथार्थ बद्धभाव का अनुभव होता है?

बन्धन, बन्धन नाम से एक आर्तनाद जगत में बहुत दिन से उठ रहा है। आजकल ही नहीं, दार्शनिक युग के विषय आलोचना करने पर भी अच्छी तरह समझा जा सकता है, कि बन्धन ज्ञान इस देश में बहुत दिन से चला आता है। "हम बद्ध जीव हैं" ऐसी भावना करना भारत ने जिस दिन से सीखा है उसी दिन से माया का बन्धन नहीं मान लिया; बल्कि बाहिर के बन्धन भी भारतवासियों को जर्जरीभूत और अवसन्न करते रहते हैं। परन्तु वह दूसरी बात है।

अजी, हम कल्प वृक्ष के मूल पर बैठे हैं। यहां बैठ कर जो विचारेंगे, वही पावेंगे! वही सत्य होगा! सुनिये, एक कहानी कहते हैं। एक बटोही अत्यन्त थक कर मैदान में एक वृक्ष के नीचे विश्राम के लिये बैठ गया। जेठ मास की घोर

दोपहरी, प्यास के मारे प्राण ओष्ठगत हो रहे हैं। वह विचारने लगा—आहा; इस समय यदि एक डाव (हरा) नारियल मिले तो प्राण बचें, नहीं तो आज प्यास से प्राण चले। ऐसी चिन्ता करते करते ही बटोही ने देखा कि उसके सामने एक सुन्दर डाव-नारियल पड़ा है। उसे देख कर आनन्दित अवश्य हुआ, परन्तु उसे काटने को कोई अस्त्र पास न रहने के कारण हताश हो अस्त्र का विषय चिन्ता करने लगा। तुरन्त सामने एक सु तीक्ष्ण कटारी पड़ी देख कर, आह्लाद से नारियल काट कर जल-पान किया और स्वस्थ हुआ। तब धीरे-धीरे नींद आने के लिये शय्या की आवश्यकता अनुभव की। त्योंही बगल में देखा कि एक पलँग पर शय्या बिछी हुई है। तब प्रफुल्ल चित्त से उस वृक्ष की छाया में शय्या पर शयन कर विचारने लगा कि यह मामला क्या है ! जो विचारता हूँ, वही मिल जाता है, यह तो बड़ा चमत्कार है ! अच्छा है, इस समय यदि कोई स्त्री आकर मेरी पद सेवा करती तो बड़े ही आनन्द से सो जाता। यह चिन्ता करते ही देखा कि—एक सुन्दरी रमणी पैरों की तरफ बैठी है और हाथ बढ़ा कर पद सेवा करने को तय्यार है, पथिक के मन में विपरीत भावना हुई। क्यों ! यह क्या कोई भौतिक कार्य्य है ? जन हीन, उस हीन जङ्गल में, ये घटनायें भूत का कार्य्य होने के सिवाय और क्या हो सकती हैं ! यह अवश्य ही स्त्री रूप में भूत (चुड़ैल) है ! सर्वनाश, अब यह यदि मेरी गर्दन पकड़ कर मरोड़ दे, तो क्या हो ? ज्योंही यह विचारा त्योंही वह स्त्री चुड़ैल रूप से उसकी गर्दन तोड़ कर अदृश्य हो गई। पथिक नहीं जानता कि वह जिस वृक्ष के नीचे बैठा था, वह कल्पतरु है।

ठीक इसी तरह हम भी नित्य कल्पतरु के मूल पर बैठ कर विचारते हैं कि "हम बद्ध हैं" इसी से हमारा बन्धन किसी

तक दूर नहीं होता। प्रथम स्त्री पुत्रादि को बन्धन मानते हैं, फिर इस देह को बन्धन समझ लेते हैं, उनमें जो मन बुद्धि इन्द्रिय को बन्धन रूप समझ सके हैं, वे तो शीर्ष स्थानीय हैं। जगत में वे साधु महा पुरुष कहे जाते हैं। यद्यपि वर्तमान वेदान्त दर्शन ने इन बन्धनों को भी कल्पित, मिथ्या, भ्रान्ति बतला कर उड़ा देने की प्राणपन से चेष्टा की है, तथापि उनके हाथ से एक दम परित्राण नहीं पाया। वे कहते हैं—ज्ञान प्राप्त होने से, अर्थात् एक बार भ्रान्ति दूर होने पर भी भ्रान्ति का फल कुछ समय तक रहता है। जैसे रज्जु में सर्प भ्रान्ति होकर भय से भागना, दिल धड़कना आदि लक्षण प्रकाशित होने के बाद सर्प भ्रान्ति दूर होने पर भी, पूर्व प्राप्त भीति भाव—दिल की धड़कन आदि लक्षण कुछ कुछ देर तक रहते हैं; ठीक इसी तरह ब्रह्म ज्ञान के बाद भी कुछ समय तक माया का अध्यास रहता है। बना रहे, जो माया को बन्धन कहते हैं, वे बन्धन देखें। हमारी तो माया भी मा है, अतएव माया का बन्धन हमारे निकट माया का स्नेहालिङ्गन ही है और कुछ नहीं! हम नित्य मुक्त हैं। हम मा की गोद में स्थित नग्न शिशु हैं; अतएव हम को बन्धन भी नहीं, मुक्ति भी नहीं। अजी, जगत् माया का अथवा मा का खेल है; यह ठीक ठीक जिस दिन समझ सकोगे उसी दिन देखोगे कि यह जगत् हमारा ही खेल है। फिर अपना खेल रूप जिस दिन ठीक ठीक समझ सकोगे, उसी दिन देखोगे कि खेल कहने को कहीं भी कुछ नहीं है। केवल "मैं" है। नहीं—तत्र में शब्द भी नहीं रहता, जो रहता है, वह क्यों कर समझावें? यदि "मैं" शब्द शून्य "मैं" वस्तु की धारणा कर सकोगे, तब उसका कुछ आभास पाओगे। अः वह कैसी मधुमय अवस्था है! वह स्वरूप कैसा आनन्द-मय है। न जाने कोई कोई साधक क्यों कहते हैं कि चीनी

होने की अपेक्षा चीनी खाना अच्छा है!" शायद वे निर्विकल्प अवस्था को सुपुप्तिवत् मैं बोध शून्य अन्धकार मय अवस्था समझते होंगे! अजी ऐसा नहीं है, वह परम ज्ञानमय, परम आनन्द मय, परम प्रेममय अवस्था है। भोग्य नहीं, भोक्ता नहीं, केवल आनन्द स्वरूप है! अजो! यहां चीनी हुए बिना चीनी का आस्वाद नहीं पाया जाता। यह भाषा में किस तरह प्रकाश करें? अस्तु, उस अवस्था से उतर आने पर फिर जगत् का खेल देखते हैं—यह जो है हमारा ही खेल है! आ-मा' र ई खेल है जी! हमारी इच्छा होती है; इसी से खेल करते हैं। "स्त्रियन्नपानादि विचित्र भोगैः=स एव जाग्रत् परितृप्तिमेति"। हमारी इच्छा हुई कि स्त्री, अन्न, पानादि विचित्र भोगों का लीला विलास करेंगे, इसी से हम सुखी होंगे, इसी से खेलते हैं। अब जिस दिन खेल अच्छा न लगेगा, जिस दिन यह जगत् स्वप्न देखने की इच्छा न होगी, उसी दिन सब छोड़ बिल्कुल नग्न होकर हम इस खेल से पार चले जायंगे। इस समय एक बार "मैं को देखेंगे, फिर जगत के खेल में सहायक होंगे। इसमें बन्धन कहां और मोक्ष कहां? योग शास्त्र कहता है—विषयासक्त चित्त ही बन्धन है, और निर्विषय चित्त ही मोक्ष है। जो विषय को "मैं" से पृथक् एक सत्ता रूप देखते हैं, उनके चित्त विषयों पर आकृष्ट होंगे, विषयाशक्ति रहेगी, अतएव वे अवश्य ही बन्धन देखेंगे और प्राणपण से विषय से दूर अवस्थान करने की चेष्टा करेंगे। किन्तु जो देखते हैं-सब ही मैं हूं, सब ही मा है, उनका विषय पर न अनुराग है न विद्वेष होता है। त्याग नहीं, ग्रहण भी नहीं, इसी से उनका बन्धन भी नहीं, मुक्ति भी नहीं। किन्तु इन अन्य बातों को लेकर हम प्रस्तावित विषय से कुछ दूर चले आये हैं।

महाराज वा महाबन्धन ज्ञान से ही जीव का नीचे की ओर

आकर्षण होता है। अपने को बद्ध मानने से ही, जीव की निम्न गति होती है। यही इस मन्त्र में आये हुए "चकर्ष" पद का तात्पर्य है। मा दया करके जीव का यह नीचे की ओर का आकर्षण दूर करदें। यही "कर्षतस्तु करं देवी खड्गेन निरकृन्तत" रूप से व्यक्त हुआ है। जिन्होंने मातृचरणों में आत्म-समर्पण किया है, वे कितने ही बन्धन ज्ञान के निकटवर्ती क्यों न हों, उससे उनकी निम्नगति सूचित नहीं होती। क्योंकि वे जानते हैं— "मैं" नित्य मुक्त हूँ। जिन्होंने सर्वावस्था में मा के चरण जकड़ कर पकड़ लिये हैं। आकर्षण उनका क्या करेगा ? नहीं, नहीं, उन्होंने मा को नहीं पकड़ा बल्कि मा ने स्वयं उनका हाथ पकड़ा है, अतएव महागज कितना ही आकर्षण क्यों न करे, किसी तरह नीचे नहीं गिरा सकता। अपने दुर्बल हाथों से मा को पकड़ें तो हाथ छूट जाने का भय है, किन्तु हमें तो मा सर्वभाव से पकड़े हुए हैं; अतएव उसके हाथ से हमारा छूटना असम्भव है।

अस्तु, इस तरह मा के खड्गाघात से महागजमूर्ति के दो खण्ड हो गये—विमल विज्ञान के प्रकाश से कल्पित बन्धन का स्वरूप दूर हो गया। तब असुर ने फिर महिषमूर्ति धारण की। सञ्चित कामना के बीज अनेक प्रकार की मूर्ति बदल कर भी जब कुछ नहीं कर सके, बल्कि प्रत्येक कपट वेश भी मा की तीक्ष्ण दृष्टि से पकड़ा जाने लगा, तब विवश हो फिर उसी महिष मूर्ति से प्रकाश्य कामना वासना के आकार से पूर्वोक्त स्मरण कीर्तनादि आठ प्रकार के अस्त्र प्रयोग करने लगा। उन आठ के सिवाय कामना का और कोई अस्त्र नहीं, इसी से मन्त्र में—"तथैव क्षोभयामास" कहा गया है। पहले भूतल और आकाश में खलबली डाल दी थी, अब तीन लोक व्यापी अत्याचार आरम्भ किया है। मूलाधार से मणिपुर पर्यन्त एक लोक, मणिपुर से विशुद्ध पर्यन्त दूसरा लोक, एवं विशुद्ध से

आज्ञा चक्र तक तीसरा लोक है, सहस्रार लोकातीत है, इसी से वहां असुर का अत्याचर नहीं पहुंचता। मणिपुर तक भूलोकीय या पार्थिव अत्याचार, अर्थात् पुत्र धन, गौरव पदप्राप्ति आदि की कामना है। विशुद्ध पर्य्यन्त भुव या देवलोकीय अत्याचार, अर्थात् दया, क्षमा, उदारता, श्रद्धा, भक्ति, विश्वास आदि की कामना, और आज्ञाचक्र पर्यन्त सिद्धिशक्ति, सर्वज्ञता, सर्वभावाधिपत्य इत्यादि ऐश्वरिक शक्ति विषयक कामनाओं का अत्याचार है। इसी से मन्त्र में कहा है कि महिषासुर ने प्रायः तीनों लोकों को क्षुब्ध कर डाला था। मन में रखिये-ये कामनायें आगन्तुक नहीं हैं—सञ्चित संस्कार मात्र हैं। असुर ने क्रम से ऊंचे, ऊंचे लोकों की कामनाओं के बीज उद्घाटित करके तुम्हारी आंखों के सामने रक्खे हैं। उद्देश्य—तुम्हारी अलक्ष्य दुर्बलता तुम्हें दिखाकर सदा के लिये आत्म राज्य से वञ्चित रक्खे। किन्तु भय नहीं—साधक, जब तुम मा की कृपा से इन उच्चतर की कामनाओं को असुर का अत्याचार रूप ही समझ सके हो, तब फिर तुम्हें कुछ भय नहीं है। मा की कृपा से शीघ्र ही इस अत्याचार से तुम परित्राण पाओगे।

ततः क्रुद्धा जगन्माता चण्डिका पानमुत्तमम्।
पपौ पुनः पुनश्चैव जहासारुण लोचना ॥ ३३ ॥

अनुवाद। अनन्तर क्रुद्धा जगन्माता बार बार उत्तम मधुपान और आरक्त नयन से हास्य करने लगीं।

व्याख्या। महिषासुर ने अनेक प्रकार से अपना रूप बदल कर सिंह को विमथित करने का प्रयास किया था; किन्तु मा के अस्त्र प्रभाव से वे सब चेष्टायें व्यर्थ हुईं; यह देख कर भी जब फिर पूर्ववत् अत्याचार करना बन्द नहीं किया, तब मा फिर चुप न रह सकीं; अब अपने हाथ से उसका निधन करने के लिये

बार बार मधुपान करने लगीं। मधुपान रहस्य कुछ आगे वर्णित होगा। मा बार बार मधुपान कर लाल नेत्र कर हँसी करने लगीं। यही महिपासुर निधन का पूर्वरूप है। साधक! क्या तुमने मा के उस हास्यमय आरक्त नयन की मुखभङ्गिमा देखी है? स्नेह और क्रोध, दया और निष्ठुरता, रक्षा और नाश, अभय और भीषण ये परस्पर अत्यन्त विरुद्धभाव एक साथ जिस मुख पर प्रकट हों, वह मुख, अजी वह मुख! मा के उस हास्य क्रोधमय मुखभङ्गिमा की बात स्मरण करने पर भी दिल कैसा होने लगता है! मा हमसे कितना स्नेह करती है, वह मा की उस मुखभङ्गिमा से ही सम्यक् प्रकाशित है। इसी से कहा था—मा के उस रक्तिम आनन (मुख) की अपूर्व भङ्गिमा यदि न देखी हो, तो अब भी अपने को यथार्थ पीड़ित नहीं समझ सके! अब भी विषय रस पान को ही परम पुरुषार्थ मान रक्खा है। इसी से मा ने चण्डिका मूर्ति से अभी तक दर्शन नहीं दिये हैं। वह विषय रस ही असुर का अत्याचार है; और उस अत्याचार से तुम जर्जरी भूत हो। सैकड़ों पुरुषकार प्रयोग करके भी तुम उस अत्याचार से अपनी रक्षा होती न देख कर, जब "त्राहि मां शरणागतम्" कहते हुए एक बार मा की ओर देखो, तब देखोगे—मा हमारी रण चण्डिका मूर्ति से आविर्भूत हुई है। आनन्द रूप मधुपान से मा के तीनों नेत्रों में लाली आ रही है। ओष्ठाधर से अपूर्व हास्य विकाश पाता है।

विपद में पड़ कर, रोग, शोक अभाव से पीड़ित हो कर अनेक समय मा के शरणागत होने की चेष्टा करते हैं। उस समय भी हम मा को नहीं चाहते, मा की कृपामात्र प्रार्थना करते हैं। उद्देश्य—विपद से मुक्त होना। अतएव मा—भी उस स्थान पर यथा योग्य कृपा मात्र वितरण करती हैं। अपना स्वरूप प्रकाश नहीं करतीं। किन्तु जब हम इस जीवत्व को

ही एक महा पीड़ा रूप समझ सकें, इस मन, बुद्धि, इन्द्रिय द्वारा प्रकाशित होने को ही आसुरी अत्याचार अनुभव कर सकें, तब ही मा असुर-दलनी चण्डिका मूर्ति से अपना प्रकाश करने को वाध्य हों।

ननर्द चासुरः सोऽपि बलवीर्य्यमदोद्धतः।
विषाणाभ्याञ्च चिक्षेप चण्डिकां प्रति भूधरान् ॥३४॥

अनुवाद। बलवीर्य्य-मद गर्वित वह असुर भी भयानक गर्जन और सींगों से चण्डिका पर पर्वत फेंकने लगा।

व्याख्या—साधक। मा के प्रति ये पर्वत फेंकने का मामला एक बार समझ लें, पर्वत प्रमाण दुर्लङ्घ्य कामनायें--हमारे अन्तर्निहित अनेक जन्म सञ्चित वासनाओं के ढेर पर्वत आकार से मा के अङ्ग पर फेंके जाते हैं। अजी देखो—हमारे एक एक शैशव प्रार्थना (बालकों के से चाव) पूर्ण करने में मा को कितना कष्ट, कितना दुःख पाना होता है। ज्ञान से, अज्ञान से जो चाहना कर चुके हैं उन्हें देने, उन वासनाओं को निर्मूल करने में स्थिरा, शान्तिमयी मा को कितना अस्थिर होना पड़ता है, कितनी अशान्ति भोगनी पड़ती है। जीव यह न समझें कि उनकी तुच्छ वासनायें भी व्यर्थ जायेंगी, प्रत्येक वासना ही पर्वत हैं। वह महिष के सींगों के आघात से—रजोगुण की की-हुई उद्दीपना के प्रभाव से, उचिट कर मा के अङ्ग पर चोट करती है। अजी! मा का कमनीय वपु हमारी वासनाओं रूप भारी पर्वतों की चोट से क्षत विक्षत है। तो भी मा हमारी हैं और किसी की नहीं, केवल हमारे ही मुख की ओर ताकती हैं कि कब हम केवल एकबार मा कह कर बुलावें। यह स्नेह किस भाषा में प्रकट हो? मा, अब कभी कुछ न चाहेंगे; किन्तु जो चाह चुके हैं, उसके लिये तुम्हें कितनी व्यथा सहन करनी

होती है। मा ! इतने दिन में समझ चुके हैं कि वासना का जितना हम को पीड़ित करना है उससे हज़ार गुना अधिक तुम्हें पीड़ित करना है। हम उत्कट लालसा के वश होकर, कामिनी काञ्चन चाहते हैं, तब तुम (हमारी मा) स्वयं उस कामिनी काञ्चन का रूप धारण कर हमारी प्रचण्ड वासनाग्नि में अपनी आहुति देती हो। ऐसा कार्य एक दो दिन नहीं, अनेक जन्म जन्मान्तर से चला आता है। अजी जो तुम हरि-हर ब्रह्मादि के भी ध्यान के अगम्य हो, वे ही तुम हमारी कामना पूर्ण करने के लिये कितना सूक्ष्म और स्थूल होकर प्रकट होती हो। कितने अज्ञात भावों में आकर हमारे इन्द्रिय भोग्य पदार्थ रूप से उपस्थित होता हो ! मा !,हमने कभी विचार कर देखा नहीं ! कभी सरल प्राण शिशु की तरह मा कह कर बुलाया नहीं। इतनी अकृतज्ञता का भार कैसे उठावें मा ? हमारा हृदय इतना कठोर है कि इस कृतघ्नता के भारी बोझ से भी वह विदीर्ण नहीं होता ! छाती फट कर टुकड़े टुकड़े नहीं हो जाती। मा हमारा हृदय क्या वज्र द्वारा बनाया गया था ?

केवल इतना ही नहीं। यदि कभी सचमुच मा कह कर तुम्हारे सामने खड़े हों, यदि कभी तुम्हारे आगमन का कुछ भी आभास पावें, तो तुरन्त "हर पापं हर क्षोभं हराशुभम्" यह कह कर अपनी सब मलिनता, अपवित्रता, तुम्हारे उस विशुद्ध अङ्ग पर लपेट देवें। अजी ! जो पुत्र हैं, जिन्होंने मा कह कर बुलाना सीखा है; वे कितनी श्रद्धा, भक्ति, प्रेम, विश्वास की पुष्पाञ्जलि से तुम्हारे रातुल चरण सजा देते हैं। और हम ऐसे अकृति सन्तान हैं कि तुम्हें बुला कर लाते और अकृतज्ञ की तरह, मूढ़ की तरह कहते हैं "लेउ मा हमारे पाप ताप, आधि व्याधि और मलिनता और ग्रहण करो हमारे अनादि जन्म [illegible]

इस तरह तुम्हें कलुषित करते रहें ? कब तक अपने कर्तृत्व भोक्तृत्व, अपने मलिन संस्कार, तुम में अर्पण कर तुम्हारा विशुद्ध चिन्मय देह कलङ्कित करें मा ?

सा च तान् प्रहितांस्तेन चूर्णयन्ती शरोत्करैः।
उवाच तं मदोद्धूत मुखरागाकुलाक्षरम् ॥३५॥

अनुवाद। देवी उस असुर के फेंके हुए पर्वतों को बाणों द्वारा चूर चूर करके गर्वित भाव से, आरक्त मुख से उससे कहने लगीं।

व्याख्या। अनेक जन्म-सञ्चित वासना के बीज जब रजःशक्ति के प्रभाव से फलोन्मुख होते हैं, तब मा उन्हें इकट्ठे कर बाणों के द्वारा चूर चूर कर डालती हैं। जिस तरह एक पत्तों के ढेर को तले ऊपर सजाकर, एक शर तीर द्वारा उन पत्तों को एक साथ वेध दिया जाता है, उसी तरह मा ने छिपे हुए संस्कारों को प्रकट करके, जन्म कर्म रूप तीर से विध्वस्त कर दिया। यहां जन्म कर्म्म रहस्य सम्बन्ध में कुछ आलोचना करने से विषय सहज ही समझ में आ जायगा। (गीता ४।६)

अनेक जन्म-सञ्चित वासनाओं के बीज लेकर तब जीव जन्म लेता है। जिस जन्म में जीव मा के लिये रो उठता है, आत्म राज्य फिर लौटा लेने के लिये यत्नशील होता है, उसी जन्म में अनेक जन्म भोग्य कर्म संस्कार इकट्ठे होते हैं। जिन कर्मों का फल भोग करने में दश बीस जन्म धारण करने पड़ते, उनका भोग मा की कृपा से दो एक जन्म में ही शेष हो जाता है! यही मा को स्मरण करने (बुलाने) का फल है। नहीं तो मा को बुलाने की कोई आवश्यकता ही न थी। स्वाभाविक गतिवश एक दिन अवश्य ही तो जीव मा की-गोद में स्थान पावेगा! चाहे वह कितना ही बड़ा पापी, कितना ही बड़ा

मूर्ख भी क्यों न हो। मा किसी दिन गोद में उठावेंगी ही। तब उन्हें बुलाने की आवश्यकता क्या? आवश्यकता है शरवेध की। (अनुवादक का एक ही शरीर से दूसरा जन्म प्रत्यक्ष चल रहा है) अनेक जन्मों में भोग कर कर के क्रम से अग्रसर होना पड़ता, वे दो-एक जन्म में ही समाप्त हो जाते हैं। जब जीव भोग बीत जाते हैं, अथवा थोड़े ही भोग में, अनेक जन्म के संस्कार क्षीण करना चाहता है, तब ही जीव मा–मा कर रोने लगता है। जिन महाराज सुरथ की कथा के द्वारा यह देवी माहात्म्य वर्णित होता है उन्होंने भी लक्ष पशुओं का खड्गाघात, लक्ष जीवन में भोग न करके, मातृ कृपा से एक जीवन में ही भोग लिया था। एवं इसी प्रकार भगवत्मुखी जीव अनेक स्थानों में सांसारिक जीवन में नाना प्रकार के रोग, शोक, असुख, अशान्ति, लाञ्छना, तिरस्कार इत्यादि भोग करते हैं। यह सब देख कर साधारण लोग शायद विचार करें—आहा! अमुक लोग ऐसा साधु प्रकृति, निष्ठावान् भक्त है, तो भी भगवान उसके ऊपर न जाने क्यों अत्याचार करते हैं? किन्तु चक्षुष्मान् व्यक्ति देखते हैं कि वह अत्याचार वा भगवान की निष्ठुरता नहीं है। निष्ठुरता से ढकी हुई असीम करुणा धारा है। दुष्ट फोड़े से शीघ्र आराम पाने के लिये सर्जन (अस्त्रोपचारकारी वैद्य) की ही आवश्यकता है। रोगी की देह में चीर फाड़ करते समय निष्ठुरता प्रकाश करने पर भी वह उस रोगी का यथार्थ कल्याण कारी है, उसमें कुछ सन्देह नहीं।

अस्तु, अबकी बार मा ने आनन्द से हर्षित होकर विह्वल कण्ठ से असुर से एक बात कही। अगले मन्त्र में वह कही जायगी। कोई चाहे कैसा ही अर्थ करे, परन्तु हम मदोद्धूत शब्द का आनन्द विह्वल अर्थ ही समझ लें। हर्ष अर्थ में ही मदधातु का प्रयोग है।

गर्ज गर्ज क्षणं मूढ़ मधुयावत् पिवाम्यहम्।
मयात्वयि हतेऽत्रैव गर्जिष्यन्त्याशु देवताः ॥३६॥

अनुवाद। देवी ने कहा—हे मूढ़! मैं जब तक मधुपान करूँ, तब तक तुम गर्जना करो। मेरे द्वारा तेरे मारे जाने पर, देवता इस स्थान पर शीघ्र गर्जना करेंगे।

व्याख्या। मा ने महिषासुर को मूढ़ सम्बोधन किया। जिसके प्रकाश से समस्त अज्ञान-ग्रन्थि खुल जाती हैं, उस चिन्मयी मा ने अपना प्रकाश किया है। जीव आज मा के चरणों के शरणागत हुआ है, भावातीता नित्य शुद्धा मा का सन्धान पाया है; तो भी महिषासुर जीव पर अत्याचार करने से बन्द नहीं हुआ है; इसी से वह मूढ़ है। मा कहती हैं—मैं महाप्राण रूपिणी, सृष्टि स्थिति प्रलयङ्करी, महाशक्ति हूं, जीव मेरे ही स्नेह की सन्तान है, उसने पीड़ित होकर मुझे मा कह कर पुकारा है, मुझको ही एकान्त आश्रय समझ लिया है। अरे मूढ़! तू सञ्चित संस्कारों के मोह से मेरी उस स्नेह की सन्तान को पीड़ित करता है? अब भी हमारी सन्तान के वासना विजड़ित हृदय पर क्षुद्रता का मलिन अभिनय करता है? अब भी उसे दूर हटाकर पूर्ण भाव से मेरी ओर दौड़कर नहीं आने देता? अब भी मेरी महती आकर्षणी शक्ति, तेरे अत्याचार की सीमा से सन्तान को वेग से आकर्षण कर मेरी छाती से नहीं लगाती? इसी से गर्जता और उछलता है! तो सुन, जब तक मेरा मधुपान समाप्त न हो, तब तक ही तू गर्जता रह। किन्तु शीघ्र ही तू मेरे हाथ से मारा जायगा, देवता प्रफुल्ल होंगे।

मधु शब्द का अर्थ है—आनन्द। आनन्द ही मा का स्वरूप है। "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन।" जिन्होंने आनन्द स्वरूप ब्रह्म को जाना है वे फिर किसी से नहीं डरते। निरञ्जन

सर्वभावातीत ब्रह्म जब अपने को बहुधा विभक्त कर, परस्पर भोक्ता और भोग्य रूप से आनन्द लीला का अभिनय करते हैं, स्वयं आनन्द स्वरूप होकर भी जब वे लीलावश अपने में आनन्द का अभाव सा कल्पना कर के द्वैत भावापन्न होते हैं, तब से ही एक तरफ़ आनन्द का अन्वेषण चलता रहता है। आनन्द ही जिनका स्वरूप है, उनका नाम हुआ तब आनन्द का भोक्ता वा द्रष्टा। फिर दूसरी ओर स्वयं वही आनन्द का सौदा लेकर प्रकृति रूप में–विषय रूप में भोक्ता के साथ लुका चोरी सी खेलने लगे। इसका नाम हुआ भोग्य वा दृश्य। यह जो भोक्ता भोग्य का मिलन और विरह है, यह जो आनन्द का अन्वेषण और उसके पाने का लीला रस है, यही मधु है। साधक धैर्य से प्रीतिपूर्वक ज्ञान चक्षु उन्मीलन कर देखिये—जगत्मय इसी तरह मा का निरन्तर मधुपान चलता रहता है। हम मा के मधु हैं, मा हमारी मधु है। हम मधुरूपिणी महामाया को पान करते हैं फिर मा भी हमको लेकर लीला–मधुपान करती है। प्रति परमाणु रूप जीवाणु से जीव श्रेष्ठ मानव और देवता वृन्द ज्ञान से वा अज्ञान से इस मधु को ढूँढ़ते हैं। मधु ही जिनका स्वरूप है, वे जैसे मधु को भूलकर मधु के अन्वेषण रूप लीला करने लगे। यही सृष्टि का मूल रहस्य है। "कहां है मधु" यह कहते हुए एक दिन हम मधुमय अवस्था से उछल पड़े थे। तिल तिल भर मधुपान करते करते, किसी दिन फिर उस नित्य मधुमय स्वरूप पर ही पहुंच जायेंगे। यह जो मधु का अन्वेषण और समाप्ति है, यही सृष्टि और प्रलय है। यह जो देखते हो कि— कौड़ी कौड़ी का मुहताज सौ रुपये की आशा करता है। सौ रुपये मिल जाने पर हज़ार रुपये की आशा करता है। हज़ार मिल जाने पर लाख रुपये की आशा करता है। ऐसा करते करते किसी तरह उस आशा की निवृत्ति नहीं होती, उसका हेतु–

यथार्थ मधु का अभाव बोध है। मधु का अभाव बोध रहने से ही जीव जब तक आत्म-मधु को नहीं पाता, तब तक पागल की तरह एक विषय से दूसरे विषय की ओर दौड़ा करता है। बड़े आदर से गुलाब का फूल छाती से लगाकर समझता है कि "मधु मिल गया"। किन्तु क्षण भर बाद दूसरे के लिए दौड़ता है तब फिर उस फूल में मधु नहीं पाता। इस तरह अनेक जन्म जन्मान्तर कट जाते हैं। जब तक इस मधु का केन्द्र तलाश न कर पाओगे, जब तक पूर्ण मधु चक्र न बन जायगा, तब तक जीव की यह मधुकर-वृत्ति, विषय से विषयान्तर की दौड़ धूप—लोक से लोकान्तर में गति-निवृत्ति न होगी।

यह मधु कहाँ है ? सर्वत्र है, अथवा कहीं भी नहीं है, मधुमयी को याद देने से कहीं भी मधु नहीं है। केवल तृष्णा, केवल उत्कण्ठा है। और मधुमयी को देख लेने पर—सर्वत्र मधु ही विराजमान है। मधु का अभाव कहीं भी नहीं है, वह हमारे ही अन्तरस्थित मधु—मधुमयी मा का ही मधु है। प्रथम खण्ड में यह बात एक बार कही गई है, तो भी फिर एक बार उस बात की आलोचना करेंगे। शास्त्रं सुचिन्तित मपि प्रति चिन्तनीयम्" "श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः"।

टुक ध्यान पूर्वक सुनने और समझने की चेष्टा करो। केवल परमात्मा ही आनन्द वा मधु है। महत्तत्व वा बुद्धि ही परमात्मा की सब से प्रथम अभिव्यक्ति है। अर्थात् हमारी बुद्धि में ही परमात्मा का विशेष प्रकाश है। यह बुद्धि जब तक विषय को ढूंढ़नेवाली इन्द्रियों के केन्द्र स्वरूप मन के पीछे पीछे दौड़ती है अर्थात् इन्द्रियों द्वारा लाये हुए विषयों को प्रकाश करने रूप कार्य में व्यस्त रहती है; तब तक जीव किसी तरह मधु का पता नहीं पाता। मन सदा एक के बाद दूसरा विषय इन्द्रियों की सहायता से लाकर बुद्धि के सामने रखता है और बुद्धि के प्रकाश से विषयों को प्रकाशित

कर लेता है। जब तक आकाङ्क्षित वस्तु प्राप्त न हो तब तक इन्द्रिय और मन को विश्राम नहीं; अतएव बुद्धि को भी अवकाश नहीं। किन्तु ज्योंही अभीष्ट वस्तु प्राप्त हुई, त्योंही क्षण भर के लिये मन विषय संग्रह करने से कुछ विश्राम पाता है। तब—उस घड़ी में बुद्धि अपने में प्रतिबिम्बित परमात्म स्वरूप का अनुभव कर लेती है; इसी का नाम जीव का मधुपान वा विषयानन्द लाभ है। साधारण जीव समझते हैं कि "हम विषय भोग करके—कामिनी काञ्चन का सम्भोग करके आनन्द पाते हैं। किन्तु वास्तविक विषय में आनन्द नहीं है, आनन्द हमारे ही अन्तर में है। कुत्ता जैसे सूखी हड्डी चबाते-चबाते अपना मुंह घायल कर लेता है और घाव से निकलने वाले रुधिर से लिप्त हड्डी को रसमय बोध करता है, ठीक उसी तरह जीव अपने अन्तरस्थित मधु को विषय से मल कर विषय भोग का आनन्द भोगता है। साधक! बार बार ध्यान विचार और अनुशीलन द्वारा यह सत्य एक बार अनुभव कर लेने से तुम्हारी विषय पर से आसक्ति अवश्य ही तिरोहित हो जायगी।

देखो जीव! तुम्हारी भोग्य वस्तु में आनन्द नहीं है, आनन्द तुम्हारे अन्तर में ही है। विषय सम्भोग का आनन्द विषय में नहीं है, वह तुम्हारे अन्तर में ही है। तुम्हारे अन्तर स्थित गुप्त मधु को उद्दीप्त–प्रकाशित करने ही के लिये तुम्हारा यह विषयाहरण—जन्म मृत्यु है। विषय के साथ इन्द्रिय का संयोग मन्थन जैसा है, बुद्धि वा अन्तर मानो क्षीर सागर है और इसके मन्थन के फल से ऊपर आ जाता है—अमृत वा मधु। एक तरफ़ आत्मा की ओर से निवृत्तिमुखी आकर्पण और दूसरी ओर विषय की ओर से प्रवृत्तिमुखी विकर्पण। प्रति जीव में, प्रति क्षण यह समुद्र मथन चलता रहता है। न जाने कितने अनादि काल से यह मन्थन आरम्भ हुआ है, इसे कौन कह

सकता है? वह बृहदारण्यक के ऋषि ने जगतमय इस अमृत का पूर्ण आस्वाद पाकर ही ऊंचे स्वर से गाया है। (अध्या० २ ब्रा० ५) "यह पृथिवी सब प्राणियों का मधु है, और सब प्राणी इस पृथिवी के मधु हैं। यह जल सब भूतों का मधु है, सब भूत इस जल के मधु हैं (मधु=उपकारी, विज्ञान,) यह वायु सब भूतों का मधु है, सब भूत इस वायु के मधु हैं। यह आकाश सब भूतों का मधु है, सब भूत इस आकाश के मधु हैं। यह प्राण सब भूतों का मधु है, सब भूत इस प्राण के मधु हैं। यह आत्मा सब भूतों का मधु है, सब भूत आत्मा के मधु हैं"। अजी देखो, सब ही सब के मधु हैं। जिन्होंने विश्वमय इस मधु का सन्धान पाया है वे आनन्द से गान करते हैं "मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः।"

साधक! अब कब तक अज्ञान से मधुपान करोगे? कर्म जान बूझकर, सुनकर यह मधुपान करो। एक बार नेत्र खोलकर देखो—तुम्हारा अर्थात् जीव का मधुपान करना वास्तविक कुछ नहीं है, सर्वत्र केवल मा का ही मधुपान चलता है। नित्यानन्द मयी नित्य मधुमयी सदा यह मधुपान करती है। मा जानती है—"सब ही मैं हूं। सब भूतों में एकमात्र मैं ही निरन्तर विराजता हूँ, अतएव यह जगत हमारा ही मधुपान है।" इसी से कहती हैं—"रे मूढ़! जब तक मैं मधुपान करूं, तब तक तू गर्जन कर" जब तक जीव मातृ-चरण में आत्म-समर्पण न करे, तब तक किसी तरह मा के इस वाक्य का-तात्पर्य नहीं समझ सकता—तब तक किसी तरह मा का सर्वतोव्यापी यह मधुपान प्रत्यक्ष नहीं कर सकता। मा आप ही जीव हृदय में वासना की अग्नि रूप से प्रज्वलित हो उठती है, फिर आप ही त्रिपत्र रूप से उस आग में आत्माहुति देकर आत्म मधुपान की अपूर्व लीला सम्पादन करती है, यह तत्व सम्यक् हृदयङ्गम करने के

लिये मा के चरणों में अत्यन्त आत्म निवेदन आवश्यक है। जब तक मा के इस मधुपान की निवृत्ति न हो—जब तक मा इस अद्भुत लीला से विरत न हो, तब तक किसी तरह इस असुर गर्जना की निवृत्ति हो नहीं सकती।

अजी! तुम देखो, एक बार मा का मधुपान। तुम काञ्चन की आशा से दिन रात परिश्रम करते हो, वह मा का ही मधुपान मात्र है, तुम रोग की ज्वाला से नरक यातना भोग करते हो वह मा का मधुपान मात्र है। तुम प्रियजन के विरह से दुर्विसह शोक से गुह्यमान हो रहे हो, वह भी मा का ही मधुपान है। यह यदि समझ सको, तब ही तुम्हारा जीवन मधुमय हो जाय। दुःख, कष्ट, जन्म-मृत्यु, रोग-शोक कुछ भी न रहे।

किन्तु हम कहते हैं मा! तुम्हें अब यह लीला-मधु-पान करने का काज नहीं है। नित्या मधुमयी हमारी मा! तुम में क्या मधु का अभाव है, जो लीला करके विषय-इन्द्रिय रूप में परिणत होकर, अपने को खण्ड खण्ड करके, विन्दु विन्दु मधुपान करती हो? हे हमारी मधुसिन्धु! यह विन्दु विन्दु मधुपान परित्याग करो। जहाँ पान करके मधु का आस्वाद न लेना पड़े, जहाँ मधु के सिवाय और कुछ नहीं, जहाँ भोक्ता भोग्य नहीं, जहाँ केवल मधु है, वहाँ हमको ले चलो मा! अब तुम्हारे इस लीला मधुपान का ताण्डव नृत्य सहा नहीं जाता मा! यद्यपि यह तुम्हारे पक्ष में मधुपान है, तथापि हमारे पक्ष में अब यह असह्य होने लगा है। यह बार बार जन्म-मृत्यु, यह हँसना-रोना, यह मन-बुद्धि, यह विषय-इन्द्रिय, यह ध्यान-धारणादि ये सब तुम्हारा मधुपान होने पर भी, हमारे लिये विष पान के समान हो रहे हैं। हमारी इस विष के हाथ से रक्षा करो मा! एक दिन विश्वेश्वर विश्व की रक्षा के लिये समुद्र मथन से उत्पन्न विषपान कर अचेत हुए थे, उस समय

तुमने उन्मादिनी की भांति शीघ्रता से आकर उनके नीलकण्ठ पर अपना मधुमय हाथ-स्पर्श कर मृत्यञ्जय का मृत्यु भय दूर कर दिया था। आज हम भी इस कराल विषय विष पान से जर्जरीभूत होते हैं; अतएव ठीक उसी तरह हमारी पगली मा की तरह, स्नेह की उन्मादना से दौड़कर आओ मा! हमको विष की ज्वाला से बचाओ मा! एक बार अपने उस अमृतमय हाथ से हमारा यह विष विदग्ध देह स्पर्श करो, हमको शान्ति मिले, अमर हो जायें। मा! यह विषय विष नही हैं, मधुमात्र है, मधु ही विषय के आकार में प्रकाशित है, इस सत्य पर जगत को प्रतिष्ठित कर दो, जगत विष की ज्वाला भूल जायें और मधुपान कर मधुमय हों। अब यह दीन सन्तान जगत की सरल सत्य हँसी में हँसी मिलाकर आनन्द से भुजा उठाकर जय मा! ध्वनि कर धन्य हो; परन्तु वह और बात है।

जब तक मा का मधुपान शेष न होगा, तब तक असुर का अत्याचार रहेगा ही। तब भी यह भरोसा है। मा कहती है—"मयात्वयि हते ऽत्रैव गर्जिष्यन्त्याशु देवताः"! "मैं तुम्हारी अहंता को निहत करूंगी, और देवता शीघ्र ही आनन्द से गर्जना करेंगे। एक "मैं" को छोड़, दूसरा "मैं" रूप से जो तुमको दीख पड़ता है, इसका विनाश कर दूंगी। तब देवतागण भी (इन्द्रियाधिष्ठित चैतन्य वर्ग भी) अन्तिम जय ध्वनि उच्चारण कर मुझ में मिल जायँगे। यह रहस्य शुम्भ वध में प्रकाशित होगा। शुम्भ वध न होने तक, यथार्थ अहंता का विलय नहीं होता। महिषासुर वध उसका पूर्व आयोजन मात्र है। कामना—विलय और अहंनाश, एक बात नहीं है। हां अहंनाश होने से, कामना रहती नहीं, यह सत्य है, किन्तु मा प्रथम कामना विलय करके, तब अहंनाश करती हैं, यही मा की लीला का रहस्य है।

ऋषिरुवाच ।

एवमुक्त्वा समुत्पत्य सारूढा तं महासुरम् ।
पादेनाक्रम्य कण्ठे च शूलेनैनमताडयत् ॥ ३७ ॥

अनुवाद ! ऋषि कहते हैं—देवी ने ऐसा कह कर छलाँग मार उस महासुर के ऊपर आरोहण किया एवं पैर से आक्रमण कर उसके कंठ पर शूलाघात किया।

व्याख्या। कामना के ऊपर मा का अवस्थान ही महिष के ऊपर मा का आरोहण है। कामना का अर्थ यहां आप कोई पार्थिव कामना मात्र न समझिये; जिन्हें धन सन्तान विषयक फलाकाङ्क्षा है, वे अब भी चण्डी-तत्त्व में प्रवेश करने योग्य सामर्थ्य नहीं पा सके हैं। गीता के निष्काम कर्मयोग में अधिकारी होकर अर्थात् "सर्व धर्म्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" इस मन्त्र की साधना में सिद्ध होकर, तब चण्डीतत्त्व में प्रवेश करते हैं। यहां जो घटना हो, उसे साधना न समझ कर मातृ-लीला दर्शन मानना ही अच्छा है। इस लीला के प्रथम ही भविष्यत् कर्म-बीजों का विनाश होता है। उसके बाद सञ्चित कामना का मूल उखड़ता है। यहां कामना शब्द से इच्छा वा 'आरम्भ' समझना चाहिये। इससे पहले हमने जितनी बार कामना वासना आदि शब्दों का प्रयोग किया है, उसके प्राय सब ही स्थानों में उन शब्दों का आरम्भ अर्थ में ही प्रयोग किया है। आसक्तिपूर्वक अर्थात् इच्छापूर्वक कार्य करने को ही कामना कहते हैं। पञ्चदशीकार ने इस इच्छा का तीन प्रकार का स्वरूप कीर्तन किया है। आत्मेच्छा, परेच्छा और अनिच्छा। उनमें से अपनी इच्छा से कार्य के प्रारम्भ को ही कामना वा महिष समझिये। साधारण लोग जिस तरह प्रवृत्ति की ताड़ना से, फल के लोभ से कार्य में नियुक्त होते हैं, इस चण्डीतत्त्व के साधक उस भाव से

कार्य कभी नहीं करते वा कर नहीं सकते। किसी विशेष फलाफल की इच्छा न होने पर भी कार्य करने की प्रवृत्ति जागना ही चण्डी का कामनारूपी महिष है। साधारण लोग विचार सकते हैं कि ये भी शायद हमारी तरह प्रवृत्ति के दास हैं, नहीं तो कार्य में प्रवृत्ति क्यों हो ? वास्तविक ऐसा नहीं है। वे कार्य मात्र करते हैं; क्यों करते हैं, इसका उत्तर शायद वे खुद भी नहीं दे सकते। परन्तु सब कार्यों के मूल में एक सिद्धान्त उनका स्थिर है, वह है मातृ-प्रीति। नित्य तृप्त मा की प्रसन्नता के उद्देश्य से ही चण्डी तत्त्व में प्रविष्ट साधक का कर्मानुष्ठान है। आहार, निद्रा, भ्रमण आदि व्यवहारिक कर्म भी इस मातृ-प्रीति-साधन के उद्देश्य से ही किये जाते हैं। गीता के उस "तत्कुरुष्व मदर्पणम्" मन्त्र की यही सिद्धावस्था है। चाहे कोई भी कार्य आरम्भ किया जाय, वह मातृ-अर्पणमय होकर ही आरम्भ हो। इस अवस्था का नाम—महिष के ऊपर मातृ-आरोहण है इस तरह मा जब महिष मर्दिनी मूर्ति से साधक के हृदय में आविर्भूत हो, तब उसके सञ्चित कर्माशय से चाहे जैसे कर्म की फुरना क्यों न हो, उसके ऊपरी भाग में मा का पादाक्रमण देखा पाया जाता है। कार्य के आरम्भ रूप महिष का अत्याचार होता अवश्य है, किन्तु उसके ऊपर मा की सत्ता मौजूद रहती है। मा ! स्वयं कामना के ऊपर अधिष्ठित है। पद द्वारा महिष विशेष भाव से अभिभूत है; तो भी अत्याचार बंद नहीं करता है, यह देख कर मा ने उसके कण्ठ पर शूलाघात किया। शूल शब्द का अर्थ पूर्व ही किया गया है। कण्ठ—वाक्य स्थान। जिस द्वार से संस्कार वाक्य द्वारा भाषा के आकार में प्रकाशित होते हैं, उसी स्थान में संहरण शक्ति का प्रयोग किया। यही कण्ठ देश पर शूलाघात शब्द का तात्पर्य है। यदि किसी प्रकार भाषा का द्वार रोक दिया जाय, तो फिर (पूर्व जन्मों के कर्म्म फल)

संस्कार अपनी शक्ति प्रकट कर स्थूल में आकर जीव को अत्याचार से पीड़ित न कर सकें। याद रखिये—मौनी होकर रहने से ही, भाषा का द्वार निरुद्ध नहीं होता। भावातीत स्वरूप का सन्धान पाये विना यथार्थ मौनी नहीं हुआ जाता। यद्यपि भाषा ही भाव का शरीर है, तथापि भाव शून्य भाव भी होता है, वह आयत्त होने से ही जीव मुक्ति का आस्वाद पाता है। जिस ध्यान में, जिस स्मरण में, जिस चिन्ता में किसी प्रकार के शब्द की सहायता नहीं लेनी होती, उस स्वरूप में उपस्थित होना ही जीव का चरम लक्ष्य है। जिन्होंने भाषातीत स्वरूप का सन्धान नहीं पाया है. वे शब्द शून्य चिन्ता वा ध्यान की कल्पना भी नहीं कर सकते। किन्तु हम कह देते हैं कि किसी दिन सब साधक—साधक मात्र ही इस कथा की सत्यता अनुभव करेंगे। जो भावातीत, त्रिगुण रहित है, जिससे वाणी लौट आती है, उस स्थान पर उपस्थिति होने से जीव जैसी अनुभूति पाता है, वही शब्द शून्य अवस्था है। उसे ध्यान, समाधि वा स्मृति, जो चाहो, कह सकते हो। किन्तु वास्तव में वह एक भी नहीं। जहां से मन के साथ वाक्य लौट आता है, उस स्थान में शब्द कैसे जायगा ? अस्तु, यदि किसी तरह भाव की उद्‌बोधक भाषा का द्वार रोक दिया जाय, तो ही कामना रूपी महिष की शक्ति विलुप्त प्राय हो जाती है; इसी से महिष-मर्दिनी ने महिष के कण्ठ स्थान पर शूलाघात किया। इस अवस्था में कामनायें पूर्ण मातृमय हो जाने से फिर कामना का उद्दीपक भाव वा भाषा तक नहीं रहती। प्राण प्रतिष्ठा का यही अपूर्व फल है। जगतमय प्रत्येक पदार्थ में, तथा अन्तर की प्रत्येक चिन्ता में, प्राण-रूपिणी-मातृ-दर्शन के अभ्यास से साधक का अन्तर बाहिर एक हो गया। उसने सर्वत्र अखण्ड प्राणमय सत्ता का पता पाया।

उसे फिर जगत् की किसी वस्तु की कामना नहीं रही; अतएव साधारण जीवों की तरह बद्ध भाव भी न रहा। तब उसका काम काञ्चन भी मा! ध्यान धारणा भी मा! मा को छोड़ और कुछ भी उसे नहीं दीख पड़ता। क्योंकि मा ने स्वयं ही महिष के ऊपर आरोहण किया है। खुलासा कहते हैं—आत्म समर्पणकारी साधक की अपनी चेष्टा कुछ न रहने पर भी, कर्तृत्वाभिमान एक दम दूर नहीं हुआ। वह जीव–कर्तृत्व लेकर जब तक सत्य और प्राण प्रतिष्ठा का अभ्यास करता है, तब तक कुछ त्रुटि रह जाती है. यथार्थ सत्य और प्राण का स्वरूप हृदयङ्गम नहीं कर सकता। सत्य वस्तु को अनुष्ठान–साध्य रूप मानता है। फिर मा दया करके महिष–मर्दिनी मूर्ति से आविर्भूत होती है। अर्थात् रूप रसादि प्रत्येक विषय के छद्म वेश में छिपी हुई प्राण रूपिणी मा, विषय के भीतर से (द्वारा) अपना स्वरूप प्रकाश करती रहती है। साधक तब अन्तर बाहिर सर्वत्र मा का ऐसा आविर्भाव देख कर धन्य होते हैं। अजी रूप रसादि विषय भी तो कामना वा महिष की मूर्ति हैं। इनको प्राण रूप समझ सकने से कामना वा महिष विमर्दित होता है, अर्थात् जड़त्व विलुप्त प्राय होकर चैतन्यमय स्वरूप प्रकाशित होने लगता है। यही महिष की पीठ पर मा का आरोहण वा महिष मर्दिनी मूर्ति से मा का आविर्भाव है। इस अवस्था में साधक महाप्राण समुद्र में निमज्जित रहने की चेष्टा करता है। प्राणमयी मा के सिवाय साधक की और कोई भाषा भी नहीं रहती। यही महिष के कण्ठ पर देवी का शूलाघात है।

ततः सोऽपि पदाक्रान्तस्तया निज मुखात्ततः।
अर्द्धनिष्क्रान्त एवाति देव्या वीर्य्येण संवृतः ॥३८॥

अनुवाद। अनन्तर वह असुर भी देवी के पद भार से आक्रान्त होकर अपने (महिष मूर्ति) मुख से आधा बाहिर होते ही, देवी के अत्यन्त पराक्रम के कारण रुक गया; अर्थात उसके सब अङ्ग बाहिर न निकल सके।

व्याख्या। महिपासुर ने जब देखा कि इतने विभिन्न भावों से रूपान्तरित होने पर भी जीव की आत्माभिमुखी-गति किसी तरह नहीं रुक सकी, तब विवश हो अपनी मूर्ति से आविर्भूत हुआ–महिष के कण्ठ से असुर मूर्ति आधी बाहिर हुई। मा ने जब महिषमर्दिनी मूर्ति से अपना प्रकाश किया, अर्थात् रूप रसादि विषय भी प्राणमय–मातृमय होकर प्रकाश पाने लगे, रजोगुण के बाहिरी स्थूल भाव जब दूर हो गये, तब स्वयं रजोगुण पर ही लक्ष्य पड़ा। 'कार्य-शक्ति विनाश होने पर ही कारण-शक्ति पर लक्ष्य पड़ता है। अब तक मूल रजोगुण रूपी कारण-शक्ति की ओर जीव का विशेष लक्ष्य नहीं था, केवल उसके अत्याचार वा कार्य लेकर ही व्यस्त थे। अब कामनायें मातृमय हुई हैं, मा ने महिष की पीठ पर आरोहण किया है, अतएव कार्यशक्ति वा अत्याचार भी शान्त हुआ है। अब साधक ने अत्याचार के मूल स्थान में पहुंचकर देखा कि एकमात्र रजोगुण ही उसका मूल हेतु है; वही महिपासुर की अपनी मूर्ति है। अब वह मूर्ति महिष के कण्ठ देश से आधी भी बाहर न होने पाई थी कि मा ने अपनी शक्ति के प्रयोग से उसका बाहिर निकलने का प्रयास व्यर्थ कर दिया।

पूर्व कहा है—आत्मेच्छा से कार्य का आरम्भ ही कामना है। आरम्भ मातृमय होने पर भी उसके आस-पास रजोगुण की उद्वेलन-शक्ति देखी पाई जाती है। साधक जब मातृ-स्नेह में इतना मुग्ध हो जाय कि केवल देह रक्षा के उपयोगी जितना आरम्भ आवश्यक है, उसके सिवाय और किसी कार्य का

आरम्भ भी सहन नहीं कर सकता, जब आरम्भों को अतीव कष्टदायक समझ लेता है, तब उस आरम्भ के मूल पर साधक की दृष्टि आकर्षित होती है; तब वह समझ सकता है—बीज वा कारण रहने से, वह हर समय प्रकाशित होने के लिये चेष्टा करेगा ही। यही प्रकृति का शाश्वतिक नियम है। जहां कारण मौजूद रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति न हो; समझ लीजिये—वहां कोई भी प्रवल रुकावट है। प्रतिवन्धक रहने पर भी कारण अपना कार्य उत्पन्न करने में नहीं चूकता। यदि कभी कारण की कार्य उत्पन्न करने की चेष्टा का लोप हो जाय, तो फिर उसका कारणत्व ही नहीं रहता। उसी को कारण कहते हैं जो निरन्तर कार्य उत्पन्न करने की शक्ति प्रयोग करने में सचेष्ट है। मानलो कि, एक इस्पात के बहुत बड़े स्प्रिङ्ग को कौशल से सङ्कुचित और गोल करके, उसके ऊपरी भाग पर एक बड़ा पत्थर रख कर दबा दें, तो इस्पात अपनी स्थिति स्थापकता शक्ति के प्रभाव से हर समय प्रसारित होकर पूर्व अवस्था पाने की चेष्टा करता है; किन्तु भारी पत्थर के प्रतिवन्ध के कारण उसकी वह चेष्टा सफल नहीं होती। ठीक उसी तरह मातृमय कामनाओं के दबाव में पड़कर विषयकामना रूप से परिणामयोग्य रजोगुण की क्रियाशक्ति रुक जाती है। वाहिर किसी तरह की क्रियाशक्ति न रहने पर भी, रजोगुण ठीक स्वप्रतिष्ठ ही रहता है। यदि कभी प्रतिवन्धक दूर हो जाय तो उसी समय उसकी कार्य करने की शक्ति बाहर प्रकट हो जाती है, अर्थात् रूप रसादि विषय, कामना रूप से प्रकटित होकर पूर्वोक्त स्मरण, कीर्तन, केलि आदि आठ प्रकार का अत्याचार करने लगता है। मा की कृपा से इतने दिनों में जीव की दृष्टि ने इस मूलीभूत दोष को तलाश कर पाया है, जिसके अत्याचार से पूर्ण सौ (१००) वर्ष व्यापी देवासुर संग्राम

संघटित हुआ था। इतने दिनों में जीव ने उसको पूर्ण भाव से सहाय सामग्री रहित कर, अकेला पाया है। यह भी सम्पूर्ण नहीं, अर्द्ध निष्क्रान्त, अर्द्ध निष्क्रान्त शब्द कहने का तात्पर्य यह है कि, प्रबल प्रतिबन्धक वश कारण-शक्ति पूर्ण भाव से अपना प्रकाश, अर्थात् कार्य उत्पन्न करने की शक्ति वा प्रयोग नहीं कर सकते। खुलासा यह है कि परमार्थमात्र की जो सूक्ष्म अवस्था है, उसका नाम कारण, और स्थूल वा प्रकाश अवस्था का नाम कार्य है। जैसे वटबीज सूक्ष्म रूप से वटवृक्ष का कारण है। जब तक बीज आकार में रहता है, तब तक वटवृक्ष अवश्य नहीं देखा पाया जाता; किन्तु उस सूक्ष्म बीज के भीतर ही अति बड़ा वृक्ष छिपा है, यह चक्षुष्मान् व्यक्ति प्रत्यक्ष कर सकते हैं। ठीक इसी तरह कामना के सूक्ष्म बीज रूपी महिषासुर, पूर्ण भाव से अपना प्रकाश न कर सकने से आधा बाहर निकला; अर्थात् सञ्चित कर्म के संस्कारमात्र रूप में प्रतीति योग्य हुआ। किन्तु "देव्यावीर्य्येण संवृतः"—मा की शक्ति के प्रभाव से और बाहर न आ सका—अन्तर में ही बीजाकार से रह गया। सूक्ष्म बीज को मा ने फिर कार्यरूप में प्रकटित न होने दिया।

इस अवस्था में भीतर वासना के बीज रहते हैं, तो भी वासना के आकार में कार्यरूप से बाहिर प्रकाशित नहीं होते। कारण मातृस्नेह से मुग्ध साधक अन्तर बाहर सर्वत्र सत्य और प्राण प्रतिष्ठा के फल से निरन्तर मातृ-सत्ता मात्र देखने में अभ्यस्त है। यह जो अवस्था है, इसी का नाम "अर्द्ध निष्क्रान्त एवाति देव्यावीर्य्येण संवृतः"। गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने जिसको (३।६ में) मिथ्याचार कहा है, किन्तु यहां वह अवस्था नहीं है। यहां देखते हैं—कर्मेन्द्रियों को संयत करके मन ही मन विषयों की चिन्ता करना ही मिथ्याचार

है। और यहां—क्या कर्मेन्द्रिय, क्या अन्तरेन्द्रिय, कहीं भी विषय का ग्रहण वा चिन्तन नहीं है। यहां विषय प्राणमय-मातृमय हुए हैं; अतएव त्याग वा ग्रहण कहने को कुछ नहीं है। यहां विषय कामनायें "देव्यावीर्य्येण संवृतः;" सब अवस्थाओं में साधक महाप्राण का विकासमात्र देखने में अभ्यस्त है। केवल कामनाओं के भविष्यत् उमगने की आशङ्का मौजूद है। यह मिथ्याचार नहीं है ॥ ३८ ॥

अर्द्धनिष्क्रान्त एवासौ युद्धमानोमहासुरः।
तया महासिना देव्या शिरश्छित्त्वा निपातितः॥ ३९ ॥

अनुवाद। वह महाऽसुर अर्द्धनिष्क्रान्त अवस्था में ही युद्ध करने लगा, किन्तु देवी की महा असि के आघात से शिर कट जाने से धरती पर गिर गया।

व्याख्या। यद्यपि कामना के सब अवयव मातृमय हो गये हैं, तथापि उसके मूलीभूत रजोगुण का उबाल सहसा अव्यक्त में परिणत नहीं होना चाहता। वह हर घड़ी कार्य रूप में परिणत होने की चेष्टा करता है, और साधक ज़ोर से प्राणप्रतिष्ठा करता है। सञ्चित संस्कार जिस घड़ी अपने बीज भाव को त्याग कर, कार्य रूप में प्रकाशित होने के लिये उन्मुख होते हैं, उसी क्षण साधक उन्हें प्राण रूप से दर्शन करता है। अतएव कामना के आकार से फिर बाहर प्रकाश नहीं पा सकते। इस तरह बार बार रजोगुण के उद्वेलन और-प्राण-प्रतिष्ठा के प्रयोग से उसकी निरोध-क्रिया चलती रहती है। यही अर्द्धनिष्क्रान्त असुर के साथ युद्ध है। यह युद्ध बाहर से दीखने का नहीं है; अति सूक्ष्मतम क्षेत्र में हुआ करता है। ज्ञान-चक्षु उन्मीलित होने पर साधक इस युद्ध का स्वरूप अनुभव कर सकते हैं। पूर्वोक्त इस्पात और पत्थर का दृष्टान्त याद कीजिये। वहां भी ये दो

शक्तियां आपस में भयानक युद्ध करती हैं। तो भी बाहर वह युद्ध नहीं देखा पाया जाता। यदि कोई वैज्ञानिक वहाँ मौजूद हो, तो वह अच्छी तरह देख सके कि इस्पात और पत्थर में एक दूसरे की शक्ति के पराभव करने रूप भयानक युद्ध चलता है। किन्तु साधारण लोग इतना ही देख पाते हैं कि—एक पत्थर ने इस्पात दबा हुआ है। ठीक इसी तरह यह अर्द्धनिष्क्रान्त असुर का युद्ध केवल विज्ञानमय कोष में स्थित साधक ही लक्ष्य कर सकते हैं। एक एक संस्कार शिर पाने की चेष्टा करते हैं, और मातृ-संस्कार आकर उसके सामने खड़े होकर उनको रोकते हैं। साधक! क्या एकबार वह युद्ध देखोगे? यदि हाँ, तो क्षणभर स्थिर भाव से बैठो। मा का नाम लेकर अपने प्राण में प्रवेश करो, फिर उसी को विश्व प्राण रूप समझने की चेष्टा करो तो दीख पड़ेगा—अन्तर में एक एक वैषयिक संस्कार झांक रहा है और तुम्हारे चित्त को उस महा-प्राण से गिरा देने की चेष्टा करता है; किन्तु तुम प्राणमय मातृ-स्वरूप में मुग्ध हो, उधर भ्रूक्षेप नहीं करते; अतएव संस्कार विफल मनोरथ होकर कभी तो अव्यक्त में मिल जाते हैं और फिर फूट उठने की चेष्टा करते हैं।

ऐसा युद्ध कुछ दिन चलने पर साधक उसको भी एक महान् पीड़ा मानने लगता है। तब पर-वैराग्य ही उसका एकमात्र अभीष्ट हो जाता है। तब मा अपनी सन्तान की आशा पूर्ण करने के लिये, महा खड्ग के आघात से इस आधे निकले हुए महाऽसुर का शिर काट देती है; अर्थात् कारण रूपी रजोगुण की कार्य्य उत्पन्न करने की शक्ति का लोप कर देती हैं। शिरच्छेद का अर्थ है—उत्तमाङ्ग—काटना। जिस वस्तु की जो शक्ति है, वह शक्ति ही उसका उत्तमाङ्ग है। शक्ति नाश ही उत्तमाङ्ग—नाश है। पूर्व कहा है—कारण जब कार्य्य उत्पन्न करने की शक्ति से

रहित हो जाय तब फिर उसका कारणत्व नहीं रहता। अतएव सम्पूर्ण रूप से कार्य उत्पन्न करने की शक्ति रहित होकर रजोगुण भी अब नित नई कामनाओं की सामग्री लेकर उपस्थित न हो सकेगा। यही महिषासुर वध है।

वेदान्त कहता है—"पूर्वोत्तरयोरश्लेष-विनाशौ। प्रारब्धस्तु भोगादेव क्षयः।" ज्ञान प्राप्त होने से, पूर्व अर्थात् सञ्चित कर्म का अश्लेष (फल संयोग का अभाव हो जाता है) उत्तर अर्थात् भविष्यत् कर्म का विनाश होता है। रहा प्रारब्ध उसका भोग के द्वारा ही क्षय होता है। भविष्यत् कर्म का विनाश प्रसंग हम प्रथम खण्ड के मधुकैटभ वध में लिख चुके हैं।

यह महिषासुर वध ही पूर्व कर्म्म का अन्त है। "अब नया कुछ नहीं चाहिये" यह ज्ञान प्रथम चरित्र में स्थिर हुआ है। जो चाहा था, उसका भी फल भोग न करूँगा," यह स्थिर हुआ—इस द्वितीय चरित्र में। यह ग्रन्थि ही सबसे कठोर है। नई कुछ चाह नहीं, अतएव कुछ गोल योग भी नहीं। प्रारब्ध तो अवश्य ही भोग करना होगा। किन्तु जो भी इकट्ठे हो चुके हैं, अभी फलोन्मुख नहीं हुए, उनकी फल देने की सामर्थ्य का विनाश करना बड़ा ही कठोर है।

अनेक जन्मार्जित सुकृति के फल से, मा की कृपा से, श्रीगुरु के अमोघ आशीर्वाद से यह दुस्तर विष्णु-ग्रन्थि विच्छिन्न होती है। विष्णु-स्थिति-शक्ति वा प्राण। सञ्चित संस्कार समूह ही व्यष्टि-प्राण को महाप्राण रूप में प्रकाशित नहीं होने देते। जीव की अनेक जन्म की संग्रहीत वासनाओं को जो पकड़ रखता है, साधारण बोलचाल में जिसको ममता वा "मेरा मेरा" भाव कहते हैं, पुराणादि शास्त्रों में जिसे विष्णु माया कहा है, वही स्थिति-शक्ति वा व्यष्टि प्राण, अतएव वही विष्णु है। प्रत्येक जीव में ही यह विष्णु सत्ता

विद्यमान है। उसी का नाम विष्णु-ग्रन्थि है। और जिसने इस विराट ब्रह्माण्ड के अनादि सङ्कल्प को पकड़ रक्खा है; वही लीलामय महाविष्णु है! इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि स्थिति प्रलय लीला विष्णु शक्ति में ही अवस्थित है। वह उस शक्ति में मुग्ध या अभिमानाबद्ध नहीं है; इसीसे उनके पक्ष में यह ग्रन्थि या अज्ञान नहीं है—लीला है। किन्तु जीव के पक्ष में वह सङ्कल्प ही बन्धन; अर्थात् बार बार जन्म मृत्यु, अथवा स्वप्न जागरण और सुषुप्ति रूप से प्रकाश पाता है। जीव उसमें मुग्ध और अभिमानाबद्ध है; अतएव यही ग्रन्थि-अज्ञान-बद्ध है। व्यष्टि भाव से प्रत्येक जीव में जो विष्णु ग्रन्थि है, समष्टि भाव से वही परमेश्वर की विष्णु लीला है।

खुलासा कहते हैं—साधक! जिसको अपने "प्राण" रूप समझते हो उस प्राण को जब तक विश्व प्राण रूप से दर्शन न कर सकोगे, तब तक विष्णु ग्रन्थि भेद न होगा। तुम्हारे जितने जीव भावीय संस्कार हैं, वे सब ही प्राण में अवस्थित हैं। उसको सङ्कीर्ण करके—छोटा बना रक्खा है, इसी से वे महाप्राण रूप में प्रकाशित नहीं हो सकते। इसी से तुम्हारी प्राणमय ग्रन्थि का उद्भेद नहीं होता। अजी, परमेश्वरी अपनी मा को कङ्गालिनी सजा रक्खा है। जीवत्व की कालोंछ से मुंह काला कर संस्कारों के फटे वस्त्र पहनाकर देह रूपी कुटीर में बैठा रक्खा है! फिर उसके ऊपर अपने अभाव अभियोगों का प्रतीकार होते न देखकर उसे कङ्गालिनी समझ कर अनेक विद्रूप वाक्य प्रयोग करते हो। अरे, अमुक कितने सुख में है, अमुक कितनी साधना करता है, अमुक ने कैसी सिद्धि शक्ति प्राप्त की है, अमुक ने कैसी प्रेम भक्ति प्राप्त की है, अमुक कैसा ज्ञानी हुआ है, अमुक कैसा सर्वस्व त्यागकर संन्यासी हो गया है, पर हमारा कुछ भी न हुआ! इस तरह

चाहे जौनसा तिरस्कार लेकर जब दीर्घ श्वास छोड़कर तुम तब एक बार कभी मा के मुख की ओर निगाह की है क्या ? उस स्नेहपूर्ण आरक्तिम मुख पर कैसा मर्म पीड़ा का प्रतिबिम्ब फूट उठता है। वे सर्वेश्वरी होकर भी, उसी समय सन्तान का अभाव अभियोग दूर न कर सकने से उनकी आंखों में आंसू बहने लगते हैं, मा के पास वह दुःख रखने को स्थान नहीं मा कभी तुम्हारे मुख की ओर देखती है और कभी अपनी अवस्था स्मरण कर आकुल प्राण से जो व्यथा सहन करती है उसे विचारने से पत्थर का दिल भी गड़बड़ा जाता है। विचार देखो—जो एक दिन राजरानी थी, वह यदि भाग्य दोष से भिखारिणी हो जाय और उस दुर्दिन में उसका शिशु पुत्र उत्तम आहार वस्त्र न पाकर, मा को लक्ष्य कर कटु वाक्य कहता रहे, तब वह दुःख सहन करना मा के लिये कितना कठिन है।

अजी ! जब देखो कि रोग, शोक, अनाहार, अभाव और दुश्चिन्ता से पीड़ित होकर मनुष्य हा हताश करते हैं, विषाद की कालिमा मुख पर लगाकर हताश प्राण से दिन काटते हैं तब ही हमारी राजराजेश्वरी मा की कङ्कालिनी मूर्ति आंखों के आगे प्रकाशित होने लगती है। मा ! मा ! हमारी मा ! तुम ही तो दीन मलीन मूर्ति से जीव को गोद में ले बैठी हो ! जीव ने तुमको भिखारिनी किया है। जीव की मनमानी कामनायें पूर्ण करते करते ही आज तुम भिखारिनी हो रही हो। अपना सर्वस्व तुमने दे डाला है। मा ! तुम्हारा वह करुणाश्रुलिप्त मुख देखकर वज्र भी फट जाय, पर हमको ऐसी धातु से बनाया है कि तुम्हारा वह दुःख अनुभव करना तो दूर रहा बल्कि ऊपर से तुमको ही कङ्कालिनी समझकर तिरस्कार करते हैं। मा ! कब हम मनुष्य होंगे ? कब हम अपने को मा की सन्तान समझ सकेंगे ? मा ! क्षमा करो ! अकृतज्ञ, अधम शिशु पुत्र को

यह अज्ञान-कृत-अपराध क्षमा करो; और कुछ कहना और विचारना नहीं है; मा ! तुम क्षमा करो।

सुनो जीव ! तुम्हारा यह कल्पित अभाव, कल्पित दीनता देख कर मा के प्राण रोने लगे हैं, वह पुत्र-स्नेह से आकुल होकर तुम्हारे सब अभाव अभियोगों का प्रतीकार करने को तैयार हुई हैं। आज उनका जो आशीर्वाद नहीं, नहीं—वर, जिस वर के लिये द्वार द्वार फिरते थे वही वर ग्रहण करो। जीव ! तुम्हारे सब अभाव दूर होंगे। गीता में सुना है—"यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः। यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।" ६। २२ जिसको प्राप्त कर लेने से उससे बड़ा कोई लाभ ध्यान में नहीं आता, जिसमें अवस्थान करने से भयानक दुःख उपस्थित होने पर भी विचलित नहीं होना पड़ता, यह वही वस्तु है, यह वही वर है। आओ जीव ! आदरपूर्वक ग्रहण करो।

प्राण प्रतिष्ठा। अपने प्राण का मा समझ कर आदर करो। प्राण ही इस जगत आकार से आकारित है, यह विश्वास करो, प्रत्यक्ष करो, अनुभव करो। जगत् के प्रत्येक पदार्थ को अपने प्राण की ही मूर्ति देखो; प्राण की घनीभूत अवस्था ही जड़ाकार में प्रतीत होती है, यह अनुभव कर सकने से ही, तुम्हारे प्राण विश्व-प्राण रूप से अपना प्रकाश करेंगे; मा की कङ्कालिनी मूर्ति दूर हो जायगी; तुम्हारा सब अभाव अभियोग का रोना रुक जायगा। मा हमारी ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर आदि देवताओं की आराध्या राजराजेश्वरी मूर्ति से प्रकाशित होंगी। तब तुम सचमुच अपने को धन्य और पूर्ण रूप समझ सकोगे। इसमें शाक्त, वैष्णवादि सम्प्रदाय भेद नहीं। हिन्दू, मुसलमानादि जाति भेद नहीं। साकार निराकारादि का वितर्क नहीं। सब अपने अपने धर्म में [illegible]

चित आचार अनुष्ठान ज्यों के त्यों रख कर, अभीष्ट देवता के दर्शन कर धन्य हो सकेंगे। वह प्राण ही विशिष्ट मूर्ति से दर्शन देंगे। फिर वे ही अमूर्त, अन्तव्यापी, अद्वय चित्-स्वरूप से अपना प्रकाश करेंगे । जीव ! तुम्हारे हृदय का ग्रन्थि भेद होगा। सब संशय दूर होंगे।

परन्तु एक बात है, इस प्राण को मा रूप समझने के लिये—प्राण ढालने होते हैं। प्राण दिये बिना प्राण का पता नहीं मिल सकता। किसी न किसी जगह तुमको आत्म-समर्पण करना ही होगा। अतएव मा—ही भिखारी की तरह द्वार द्वार पर आकर, थोड़ा थोड़ा भिक्षा करती हैं। जीव ! तुमने अपने नव द्वार बन्द कर रक्खे हैं। किसी प्राण की भिक्षा देना चाहते नहीं। इसीसे तो मा ने एक दिन वृन्दावन धाम में अवतीर्ण होकर, माखन चोरी वा प्राण चोरी की थी। आज फिर भिखारी होकर "अजी प्राण भिक्षा दो" कहती हुई द्वार द्वार फिरती हैं। देउ सन्तान ! प्राण भिक्षा देउ—महा-प्राण में मिलोगे। अमृत का पता पाओगे। नित्यानन्द में निवास करोगे। कितनी कातर प्रार्थना करती हैं—प्राण देउ ! पुत्र ! प्राण देउ ! क्या सुनते नहीं ? प्राण देउ ! सारा प्राण नहीं दे सकते तो थोड़ा सा देउ। अरे ! अपने उस इतने बड़े प्राण के एक कोने में मुझ को थोड़ा सा स्थान देउ; थोड़ा सा प्रेम करो ! मैं तुम्हें महाप्राण का पता दूंगी। देखो—ब्रह्मा, विष्णु के भी ध्यान में अगम्या मा आज पुत्र-स्नेह से व्याकुल होकर, कङ्गालिनी वेश में तुम्हारे द्वार पर उपस्थित है, तुम एक बार उससे मा कहो । थोड़ी सी प्राण भिक्षा देउ ।

ततो हाहा कृतं सर्वं दैत्यसैन्यं ननाश तत् ।
प्रहर्षञ्च परं जग्मुः सकला देवतागणाः ॥ ४० ॥

अनुवाद । इस के बाद बचे हुए दैत्य-सैन्यगण हा हा करते हुए अदृश्य हो गये । देवताओं को अत्यन्त आनन्द प्राप्त हुआ ।

व्याख्या । विक्षेप आवरण आदि प्रधान वृत्तियों और उनके आश्रय स्वरूप रजोगुण के विलय से, उसके अङ्गीभूत संस्कार आप ही अदृश्य हो गये । पक्षान्तर में इन्द्रियाधिष्ठित चैतन्य वर्ग महाप्राण के सम्भोग से अति हर्षित हुए । प्राण-प्रतिष्ठा के फल से साधक सर्वत्र प्राणमय सत्ता में अभ्यस्त हो जाने से आसुरिक वृत्तियां भी प्राणमय होने लगीं । तब बहुत्व के साँचे रहने पर भी भेद ज्ञान दूर होगया । एक ही प्राण वा सच्चिदानन्द वस्तु संस्कार के साँचे में पड़ कर विभिन्न नाम रूप से प्रकाश पाती है, यह अच्छी तरह अनुभव हुआ । चीनी के खिलौनों का दृष्टान्त याद करो । चीनी का ज्ञान होने से, हाथी, घोड़ा, मठ सब चीनी मात्र ही तो हैं, यह समझने में फिर देर नहीं होती । फिर वे विभिन्न नाम रूप सामने उप-स्थित होने पर भी उनका असली रूप छिपा नहीं रहता । इसी की शास्त्रीय परिभाषा—दग्ध बीजवत् संस्कार है ।

भेद ज्ञान पुष्ट रहने से ही त्याग और ग्रहण रहता है । भेद ज्ञान दूर हो जाने पर त्याग वा ग्रहण नहीं रहता । प्राणमय ग्रन्थि खुल जाने से, सञ्चित् संस्कार भुने बीज की तरह (अङ्कुर उत्पन्न करने की सामर्थ्य रहित) वे कभी कर्म वा फल भोग के हेतु न होंगे, इस तरह सञ्चित संस्कारों का फल भोग न करके, जीव मातृ-अङ्क में आरोहण कर सकते हैं । विष्णु-ग्रन्थि भेद का यही विशेष फल है । इस अवस्था में साधक केवल प्रारब्ध-क्षय की अपेक्षा करते रहते हैं । वह रहस्य शुम्भ वध में व्याख्यात होगा ।

तुष्टुवुस्तां सुरा देवीं सहदिव्यैर्महर्षिभिः ।
जगुर्गन्धर्वपतयो ननृतुश्चाप्सरोगणाः ॥ ४१ ॥

इति श्री मार्कण्डेय पुराणान्तर्गत सावर्णिक मन्वन्तरीय उपाख्याने देवीमाहात्म्यवर्णने महिषासुर वध समाप्त।

अनुवाद। तब देवतागण दिव्य महर्षि वृन्दों सहित एकत्र होकर, देवी का स्तव करने लगे।

व्याख्या। महिषासुर निहत हुआ—रजोगुण से उत्पन्न सञ्चित संस्कारों की फलोत्पादन शक्ति विलुप्त हुई। साधक का प्राणमय ग्रन्थि भेद हुआ। इन्द्रियाधिष्ठित चैतन्य वर्ग ने जड़त्व की पीड़ा से परित्राण पाया। जिनकी कृपा से, जिनकी अमोघ इच्छा शक्ति के प्रभाव से, यह अघटन संघटन हुआ, उनके प्रति कृतज्ञता प्रकाश की इच्छा स्वभावतः ही उपस्थित हुई। इसी से देवता और महर्षिगण मिल कर मा की स्तुतिमङ्गल कीर्तन करने में प्रवृत्त हुए। आगे के अध्याय में यह स्तुति व्याख्यात होगी।

इतने दिन तक संस्कार राशि के कोलाहल से अनाहत नाद सुनाई नहीं दिया था। अब वह कोलाहल निवृत्त हुआ है, इसी से अनाहत से निकली हुई आकर्षणमय प्राणस्पर्शी मधुर प्रणव-ध्वनि सुनाई देने लगी। यही गन्धर्वों का सङ्गीत है। इस तरह अन्तर में अति मधुर अनाहत ध्वनि सुख से मातृस्तुति मङ्गल कीर्तन करते रहने से साधक के स्थूल शरीर में भी पुलक स्पन्दन विक्षेप, आदि लक्षण प्रकाशित होते हैं; यही अप्सराओं का नृत्य है।

मा का विभोर आलिङ्गन! मा की अचिन्तनीय विभूति का अनुभव! मा के अतुलनीय महत्व की अनुभूति! अफुरन्त मातृ-स्नेह का सम्भोग। अजी! किस तरह समझावें-उस समय शरीर, मन और इन्द्रियों में क्या लक्षण प्रकाश होते हैं! अजी, उस सुख की तुलना नहीं, उस आनन्द का अन्त नहीं। उस आनन्द रस से शरीर का प्रत्येक परमाणु गलता हुआ सा

जान पड़ता है, पैर के नख से चोटी के सिरे तक ऐसा कोई स्थान शेष नहीं रहता जो उस सुखमय स्पर्श से आकुल न हो जाय। तब फिर देह को जड़ मांस-पिण्ड नहीं जान पड़ता। केवल सुखमय अनुभूति ! केवल सुखमय अनुभूति ! यह देह उस समय मधुमय अनुभूति स्वरूप हो जाती है। एक घन आनंदमय बोध के सिवाय और कुछ भी नहीं रहता। मैं आनन्दभोग करता हूँ," ऐसा बोध भी नहीं रहता। भोग्य भोक्ता एक हो जाते हैं। तो भी कैसा कुछ भेद रहता है, वह भाषा में प्रकाश कर कहा नहीं जाता। परन्तु वह और बात है।

अप्सराओं के नृत्य वा इस अङ्ग विक्षेप सम्बन्ध में एक बात है। योग शास्त्र में उसको चित्त विक्षेप के सहभावी समाधि के अन्तराय (विघ्न) स्वरूप कहा है। यौगिक भाषा में उसका नाम-अङ्गमेजयत्व है। स्थूल देह में विक्षेप देखते ही समझ लेते हैं-मनोमय देह में भी विक्षेप चलता है; अतएव उसका निरोध ही निःसन्देह सर्वोत्तम अवस्था है। किन्तु इन अप्सराओं के नृत्यरूप अङ्ग विक्षेप देवभाव का सूचक है। साधक ! प्रथम से वे देवभाव ही प्रकाश पावें, फिर भावातीत स्वरूप में-सम्पूर्ण निरुद्ध अवस्था में प्रवेश करें !

इति साधन-समर वा देवी माहात्म्य व्याख्या में महिषासुर वध।



साधन-समर

वा

द्वितीय खण्ड— विष्णुग्रन्थि भेद।

शक्रादि स्तुतिः।

[प्रार्थना-सङ्कट छुड़ाओ। स्तव—गुणानुवाद, सङ्कट दूर होने पर।]

ऋषिरुवाच

शक्रादयः सुरगणानिहतेऽतिवीर्ये
तस्मिन दुरात्मनि सुरारिवले च देव्या।
तां तुष्टुवुः प्रणतिनम्र शिरोधरांशा
वाग्भि प्रहर्ष पुलकोद्गमचारुदेहाः ॥१॥

अनुवाद। ऋषि कहते हैं—देवी द्वारा वह अति बलशाली दुरात्मा महिषासुर, और उसकी सेना मारी गई, इन्द्रादि देवता वर्ग शिर और कन्धे झुकाकर प्रणाम करते हुए, वाक्य द्वारा उनका स्तव करने लगे। आनन्दवश पुलकायमान होने से, उस समय देवताओं का देह अति मनोहर हो गया था।

व्याख्या। इस अध्याय में देवताओं की स्तुति वर्णित होगी। महिषासुर—दुरात्मा—असत् प्रकृति। प्रकृति जब तक असत्प्रिय, परिच्छिन्नता में मुग्ध, खड्गज्ञान से तृप्त रहती है, तब तक ही उसको असत् स्वभाव या दुरात्मा कहा जाता है। अमितवीर्य्य असत् स्वभाव महिषासुर सेना सहित मारा गया है। बहिर्मुख वृत्ति प्रवाह समन्वित रजोगुण सम्यग्बाधित हुआ है। अतएव

सात्विक प्रकाश स्वरूप देवता वृन्द, अब स्थिर भाव से मातृ-स्वरूप दर्शन अनुभव करते हैं। मा का वह विश्व विमोहन रूप प्रत्यक्ष होने से कोई भी चुप रह नहीं सकता। बाहिरी लक्षण ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनों एक साथ प्रकाश पाते रहते हैं। इसी से इन्द्रादि देवता आनन्द से मातृ-महत्त्व कीर्तन रूप स्तव करने लगे।

इस स्तव में तीन विषय विशेष भाव से लक्ष्य करने होंगे। (१) प्रणति नम्र शिरोधरांसाः, (२) चारुदेहाः (३) एवं वाग्भिः। कायिक, मानसिक और वाचिक, इस तीन प्रकार की स्तुति को लक्ष्य करके ही इन तीन शब्दों का प्रयोग हुआ है। हम क्रम से इन्हें समझने की चेष्टा करें। देवता ऐसे भाव से प्रणत हुए थे, कि उनकी गर्दन और कन्धे बिलकुल झुक गये थे। यही कायिक स्तुति वा साष्टाङ्ग प्रणाम है। मा का स्मरण करते ही उनके चरणों में सब अङ्ग इस तरह नत होना आवश्यक है। जो मा, जो अनन्त जन्म मरण में एकमात्र सारथि है, जिसका एक बार दर्शन करने के लिये लाखों जनम मरण रूप चक्की के पाटों से पिसे हैं, रगड़ सही हैं, आज उनके सामने उपस्थित हैं; उनका स्नेह, उनका विराट ,कर्तृत्व, उनकी महती शक्ति याद आने पर सन्तान की देह अवश्य ही झुक पड़ेगी। आनन्द से देह पुलकायमान होगा, अश्रु पुलक कम्प इत्यादि सात्विक लक्षण प्रकाश होंगे। यही मानसिक स्तुति का लक्षण है। इन दोनों के साथ साथ वाक्य द्वारा मा का महत्त्व कीर्तन करते हैं। यही वाक्य की शुद्धि है। मा तुम अनिर्वचनीया हो—मन और वाणी का अगोचर हो; तो भी हम वाक्यों से तुम्हारी स्तुति करते हैं; इसके फल से वाणी विशुद्ध होगी; रसना की जड़ता दूर होगी सदा झूठ बोलते रहने से बिगड़ी हुई रसना (जीभ) पवित्र हो जायगी।

उच्च स्वर से जप और मन ही मन स्तुति करना शास्त्र में वर्जित है। मन में स्तोत्र पाठ करने से वह प्रायः निष्फल होता है। इसी से "वाग्भिः तुष्टुवुः"। साधक तुम भी जब मा के सामने पहुंचो (सत्य और प्राण प्रतिष्ठा के फल से, ऐसी उपस्थिति सुलभ है) तब इन तीन बातों पर विशेष लक्ष्य रहे। स्तुति के आरम्भ में ही मा के चरणों में स्थूल देह बिलकुल झुकादो, मा के चरण-स्पर्श से देह पुलक कण्टकित होने लगे और ऊँचे स्वर से स्तव पाठ करते रहो, इससे बाहर के शब्द न सुनोगे और न चित्त में विक्षेप होगा। चित्त विक्षेप हुए बिना तुम्हारे शब्दों का अर्थ की ओर ही लक्ष्य रहेगा। साथ ही साथ अर्थानुसार भाव या अनुभूति, चित्त क्षेत्र में जाग्रत होती रहेगी। संक्षेप में इसी को मन्त्र चैतन्य कहा जाता है। (मन्त्र चैतन्य पहले खण्ड में व्याख्यात हुआ है।) मन्त्र समूह चैतन्य मय कर पाठ करने से, जो बाहिरी लक्षण प्रकट होते हैं, वे ही यहाँ संक्षेप में "पुलकोद्गमचारुदेहाः" पद से प्रकट हुए हैं। केवल स्तोत्र ही क्यों, कोई भी मन्त्र साध्य कार्य, जैसे—जप, पूजा, होम आदि कार्य्य करते समय भी, इसकी ओर लक्ष्य रखना अत्यन्त आवश्यक है। चैतन्य मय मन्त्र युक्त वैध कर्म्म के अनुष्ठान से प्रसाद—चित्त की प्रसन्नता, धन-मातृ महत्त्व की अनुभूति, एवं भोजन—पञ्च कोषों की पुष्टि विधान, अनायास सिद्ध होता है। (प्रसाद, धन और भोजन क्या है—यह प्रथम खण्ड में व्याख्यात हुआ है।)

श्रीमद् भागवतकार ने भी कहा है कि—रसिक और भावुक हुए बिना भागवत धर्म में अधिकार नहीं होता। इसीसे कहते हैं, साधक! जब जो करो, अपनी सामर्थ्यानुसार तब उस भाव में भावुक और रसिक होने की चेष्टा करो। ऐसा कर सकने से ही सब कर्म सफल होते हैं। [illegible] की ही

होती है। भावातीत स्वरूप की क्या उपासना है ? नहीं है। पहले जगत् के भावों को—विषय रसों को भगवद्भाव से भावित और रसमय कर लेने पर धीरे धीरे उन्हीं की कृपा से भावातीत स्वरूप में प्रवेश करने की योग्यता प्राप्त होती है।

हमारे पूर्ववर्ती आचार्य भी सामादि वेद पाठ करते थे; अग्नि, जल, वायु, आकाश, सूर्य्य, पर्वत, नदी आदि का स्तुति गान करते थे। वह उनके सरल प्राण का स्वाभाविक उच्छ्वास था। उसमें किसी तरह का कपट नहीं था। सर्वत्र प्राणमय सत्ता दर्शन करते और सर्वत्र ब्रह्मसत्ता अनुभव करने से उनका जड़त्व ज्ञान दूर होगया था; इसी से सब जड़ वस्तुओं के साथ वे इस देश के लोग अब भी तुलसीदल चयन करते समय सरल प्राण से कहते हैं—"हे तुलसि! तुम अमर हो, केशव की प्रिय हो, केशव की पूजा के लिये ही तुम्हारे दल चयन करते हैं। तुम कुछ विचार न कीजिये। हमें क्षमा करो।" केवल तुलसीदल लेने के समय ही नहीं बल्कि दैनिक अधिकांश कार्य्यों में साधारण की दृष्टि में जो जड़ वस्तुयें हैं उनके साथ भी चैतन्य वद व्यवहार देखा जाता है। धन्य उस देश के लोग, जो स्नान के समय बदन से मिट्टी लेपन करते करते "मृत्तिके हर मे पापं यन्मयादुष्कृतं कृतम्" बोल सकते हैं, जो पीपल के वृक्ष पर जल चढ़ाते समय "अश्वत्थ रूपी भगवान् प्रीयतां मे जनार्दनः" कह सकते हैं, जो शालग्राम शिला को प्रत्यक्ष भगवान् रूप में देख सकते हैं। परन्तु वह और बात है:—

स्तवादि सम्बन्ध में और एक बात यहां बतलाये देते हैं—आधुनिक किसी मनुष्य के बनाये हुए स्तोत्रादि की अपेक्षा ऋषियों के प्रवर्तित मन्त्र वा स्तव की शक्ति बहुत अधिक है। चिरकाल तक गुरु परम्परा-क्रम से महापुरुषगण जिस मन्त्र वा स्तोत्रादि का पाठ करते आते हैं, उसकी शक्ति अधिक होने

में कहना ही क्या है। आधुनिक लोगों के बनाये हुए स्तव वा सङ्गीत होते अवश्य हैं परन्तु ये वैसे भाव और रस की उद्दीपना नहीं कर सकते, यह हम नहीं कहते। परन्तु ऋषि-प्रवर्तित शब्दों की शक्ति इससे और भी अधिक है, यह अनेक स्थानों में परीक्षा करके भी देखा गया है। कुछ तत्त्व का आस्वाद पा लेने पर, फिर ऊपरी आभास के रसयुक्त सङ्गीत, अथवा आधुनिक स्तुतियों में कुछ सौन्दर्य्य नहीं रहता। वैदिक शब्द मानो प्राण से गठित हैं। उनके उच्चारण से शरीर के प्रत्येक अणुपरमाणु में एक पवित्रता, सात्विकता का स्पन्दन अनुभूत होता है। अस्तु, स्तव पाठ करते, अथवा मन्त्र साध्य कोई भी अनुष्ठान करते समय, सब को ही पूर्वोक्त तीन विषयों पर विशेष लक्ष्य रखना आवश्यक है कि काम, मन और वाक्य मानो तीनों एक सुर में बजने लगें; वैधकर्म्म जिससे कुछ शब्द उच्चारण मात्र में ही समाप्त न हो जाँय। अर्थहीन, भावहीन, मन्त्र का उच्चारण, अथवा किसी बहुत दूर स्थित सत्ता के उद्देश्य से अनुष्ठित कर्म्म प्रायः निष्फल होते हैं। अतएव इस विषय पर साधकों का बहुत ध्यान होना आवश्यक है।

इसके सिवाय उस प्रणति, पुलक और पाठ, इन तीन विषयों की ओर लक्ष्य रखने से ही, ज्ञानभक्ति और कर्म का एक साथ अनुशीलन होता रहता है। पूर्व कहा है—ज्ञान के मानी उनको जानना, भक्ति के मानी उनसे प्रेम, और कर्म के मानी उनके उद्देश्य से कुछ करना। जिनको जानते नहीं उनसे प्रेम नहीं कर सकते। अतएव उनके उद्देश्य से विशेष कुछ कर्म भी नहीं करते हैं। साधक! मा का स्वरूप जितना जानोगे, मा का महत्व जितना अनुभव करोगे, उतना ही तुम्हारा जीव भाव झुकता जायगा। यही ज्ञान का फल है; उसी का बाहिरी लक्षण है—प्रणति। परन्तु परम प्रेममयी मा का स्वरूप समझ सकने से,

प्राण में अपने आप कुछ प्रेम भाव सञ्चित होगा। यही भक्ति है और उसी के बाहिरी लक्षण पुलक, अश्रु, कम्प इत्यादि हैं। फिर जितना भक्तिभाव पुष्ट होता जाता है, उतना ही उनके उद्देश्य से–उनको प्रसन्न करने के लिये वैध कर्मों का अनुष्ठान आरम्भ होता है। वही बाहर से जप, पूजा, स्तोत्र, परोपकार अथवा विश्व हित आदि रूप से प्रकाशित होता है।

देव्या यया ततमिदं जगदात्मशक्त्या
निःशेषदेवगणशक्तिसमूह मूर्त्या।
तामम्बिका मखिलदेव महर्षि पूज्यां
भक्त्यानताः स्म विदधातु शुभानि मा नः ॥३॥

अनुवाद। सब देवशक्ति सम्भवा जो देवी, अपनी शक्ति द्वारा वह सर्वत्र व्याप्त हो रही है; देव और महर्षियों की पूजनीया उस माता अम्बिका को हम भक्तिपूर्वक प्रणाम करते हैं। वह हमारा कल्याण विधान करें।

व्याख्या। मा तुम देवी–द्योतनशीला, नित्य प्रकाशमयी हो। जगत की सब वस्तुओं को प्रकाश करने के लिये दूसरी किसी प्रकाशक वस्तु की आवश्यकता होती है; किन्तु तुम स्वप्रकाश-स्वरूपा हो, तुम्हारे प्रकाश के लिये दूसरे किसी प्रकाश की आवश्यकता नहीं पड़ती। जो कहते हैं अज्ञान की सहायता से ही ज्ञान प्रकाश होता है अर्थात् अज्ञान वा माया नामक प्रकाश्य वस्तु होने से ही, ब्रह्म वा ज्ञान प्रकाशमय है। प्रकाश्य वस्तु के अभाव में प्रकाश कुछ रह नहीं सकता, जैसे यह पृथिवी न रहे तो सूर्य का प्रकाश स्वरूप रहकर भी न रहे, यह कहा जाय; वैसे ही प्रकाश्य वस्तु या अज्ञान समीप में न रहे तो ज्ञान के प्रकाश स्वरूपत्व का अनुभव न हो। मा! इतनी युक्ति द्वारा जो तुम्हारे स्वप्रकाश का निराकरण करना चाहते हैं, वे प्रमाद

की रस्सी कमर में बांध कर प्रमाणातीता तुम्हारा स्पर्श करना चाहते हैं। युक्ति और अनुमान की सहायता से तो तुमको पकड़ा नहीं जाता, सब प्रकाश्य वस्तुओं को अच्छी तरह संहरण करके केवल तुमही स्वप्रकाश स्वरूप से नित्य विराजमान हो इसे वे समझ नहीं सकते। अथवा तुम उनके भीतर यहीं तक प्रकाशित हुई हो, इसी से प्रमाणातीता तुम्हें पकड़ नहीं सकते। जब किसी दिन मा! तुम ही जब गुरु रूप से आविर्भूत होकर, अपनी उस शिष्य मूर्ति की दृष्टि प्रसारित कर दोगी, तब वे भी कहने लगेंगे—"तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्व्वमिदं विभाति।"

"ततमिदं जगदात्मशक्त्या।"—मा! तुम अपनी शक्ति द्वारा इस जगत् में व्याप्त हो रही हो। आत्मा तुम जब शक्ति रूप से प्रकाशित होती हो, तब ही तो यह जगत् प्रकट हो जाता है। मा! तुम्हारे इस आत्म-शक्ति शब्द को लेकर जगत में न जाने कितने मत भेद चलते हैं! आत्मा और शक्ति, आत्मा की शक्ति, आत्मा के साथ शक्ति, यह आत्मा, वह शक्ति इत्यादि अनेक विभिन्न मत, विभिन्न वाद सिद्ध किये जारहे हैं। दूसरे का मत खण्डन और अपना मत स्थापन करने की चेष्टा में, अनेक युक्ति और तर्क से काम लेते हैं। जब तक तुमको देख नहीं पाते, जब तक तुम को बहुत दूर समझते रहते हैं, तब तक ही आत्मा और शक्ति विषय पर वाद, वितण्डा और विचार चलते हैं। मा! धन्य तुम्हारी लीला। अपने को व्यक्त करने के लिये अपनी अज्ञानता का भाण-छल आप दूर करने के लिये कितनी लीला करती हो? यहां फिर और एक लीला आरम्भ की है। इसका परिणाम क्या? वह तुम ही जानो। अस्तु, एक बार तुम्हारी ओर दृष्टि पड़ जाने से, देख पाते हैं कि आत्मा और शक्ति में शब्द मात्र भेद है—वास्तव में कुछ भी भेद नहीं।

मा! तुम आत्मा, एकमात्र तुम ही तो यथार्थ मैं का स्वरूप हो! वह एक मैं ही तो प्रति जीव में, प्रति परमाणु में, सदा प्रतिध्वनित है। वह एक मैं ही तो जीव रूपी अनेक आधारों द्वारा अनेक मैं का स्वांग करते हैं; उस एक मैं का नाम आत्मा है और बहु के भीतर प्रकाश होना ही शक्ति है। इस आत्मा और शक्ति को एक, दो वा विशिष्ट एक चाहे कुछ भी क्यों न कहो उससे कुछ हानि लाभ नहीं। ऐसा विचार करते करते किसी दिन अपना यथार्थ स्वरूप जीव को अनुभव होने लगेगा। अनेक जन्म सञ्चित अज्ञान अन्धकार दूर हो जायगा।

अच्छा, एक बार अपने इस आत्मशक्ति स्वरूप को समझने में कुछ हानि नहीं। "हम देखते हैं" इसमें दो वस्तुएँ पाईं; मैं और दर्शन-शक्ति। यह एक है या दो, उसकी मीमांसा अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार प्रत्येक कर सकता है। परन्तु एक बात यह है कि ब्रह्म माया, पुरुष प्रकृति, शिव दुर्गा, कृष्ण राधा आदि शब्द-द्वारा शक्ति और शक्तिमानगत (वस्तुतः अभिन्न होने पर भी) भेद का आरोप करना है। जब तक साधना है, जब तक देह है, जब तक जगत है, तब तक तोता, मैना का विवाद चलेगा ही। तोता कहता है—"हमारे कृष्ण ने गिरिवर उठाया था"। मैना कहती है—"हमारी राधा शक्ति सञ्चार न करती तो कैसे उठा सकते"। मा हमारी लीलामयी है, जब तक लीलामयी है, जब तक लीला करेगी, तब तक अभेद में भेदोपचार कल्पित होगा ही।

अस्तु, मा! तुम्हारी आत्म-शक्ति द्वारा ही सब जगत् व्याप्त हो रहा है। "ततमिदं जगदात्मशक्त्या"। सर्वत्र ही देखते हैं—एक मैं है और उसका अनेक भाव से प्रकाश है। प्रत्येक जीव में, प्रत्येक जीवाणु में, वह आत्म-शक्ति वह हरगौरीमूर्ति! वह राधा कृष्ण की युगलमूर्ति! यही तुम्हारी जगद्व्यापिनी आत्म-

शक्ति है। मा! अपनी इन बहुमूर्तियों; जीव सन्तानों से कहो—हे जीव! तुम अपने में जो मैं का मौजूद होना अनुभव करते हो, वह अनुभव ही आत्मा-मा है, और उस मैं के जितने प्रकार के कार्य वा प्रकाश देखते हो, वही शक्ति है। इस तरह एकाग्र मन से देखना आरम्भ करने पर, जन्म जीवन सार्थक होगा, भय मृत्यु विषाद सदा को दूर हो जायँगे।

"निःशेष देवगणशक्तिसमूहमूर्त्या"—मा आत्मशक्ति रूप से तुम जगतमय व्याप्त हो रही हो, यह तुम्हारी साधारण मूर्ति है; उस मूर्ति को हम देखने पर भी नहीं देखते, समझ कर भी नहीं समझना चाहते। इसी से तुम सन्तान स्नेह से विह्वल होकर कभी कभी असाधारण मूर्ति से—अपनी अपनी इष्ट मूर्ति से आविर्भूत होने को वाध्य हो। वह सब देवों की शक्ति मिल कर रची है। महिषासुर—निधन उद्देश्य से ऐसी विशिष्ट मूर्ति से अपना प्रकाश किया है।

मा! जब तक जीव-शक्ति बोध है, तब तक अज्ञान है। उसके बाद देव-शक्ति बोध हो, उसका नाम ज्ञान है। और जब आत्म-शक्ति बोध ही प्रकाशित हो, तब वह ज्ञान अज्ञान से परे अनिर्वचनीय है। बोध इन तीन स्तरों में ही विचरता है। पहले जीव की ही शक्ति का बोध होता है। अर्ज्जन, संग्रह, रखवाली, खर्च, भोग, पाप, पुण्य, ख्याति, प्रतिष्ठा ये सब जैसे मैंने किया, ऐसा जीव भावीय अभिमान सब शक्तियों को आत्मसात करना चाहता है। फिर बार बार दैव प्रतिकूलता द्वारा वह अहङ्कार वा अज्ञान चूर्ण होता रहता है। तब धीरे धीरे देवशक्ति पर विश्वास आरम्भ होता है। क्रम से समझ सकते हैं—शक्तिमात्र ही देवना है। इसका नाम ज्ञान है। यह बोध का दूसरा स्तर है। अन्त में वह देवशक्ति जब समष्टि भावापन्न होकर अखण्ड भाव से प्रकाशित होती है, तब जीव उसमें पूर्ण भाव से

आत्म-दर्शन करके, आत्मशक्ति का पता पाता है। ओः वह क्या आनन्द! कैसी तृप्ति! मा में विभोर होने से, साधक देख पाते हैं—जगद्रूप से मैं ही प्रकट हूँ। यह चन्द्र, सूर्य ज्योतिष्क मण्डली, सदा मेरी ही आरति करती हैं। मेरे ही भय से ग्रह अपनी अपनी कक्ष से बिन्दुमात्र भी विचलित हुए बिना अनादि काल से विचरते हैं। यह वायु हमारे ही भय से सदा प्रवाहित होती है। यह नदी प्रतिदिन हमारा ही अङ्ग प्रक्षालित करती है। ये फूल हमारी ही पूजा के लिये खिल रहे हैं। अजी! कहाँ तक कहें; सब मैं हूँ। मैं के सिवाय कहीं भी कुछ नहीं है! सब ही आत्मा है! सब ही शक्ति है! सब ही मा है! वह जो हमारा मैं—सब देव और महर्षियों की पूजनीय मा! वह जो हमारा तुम, वह जो हमारा वह है, उन को, तुम को, मैं को (अपने को) "भक्त्यानताःस्मः"। भक्ति पूर्वक प्रणाम करते हैं। भक्ति कहां पावें मा! वह तो तुम हो! तुम को आत्मारूप न समझ सकने—आत्मदान न करने से, प्राण रूप में आदर न करने से, तुम भक्ति रूप से अपना प्रकाश नहीं करतीं मा! जो "भक्त्या नताः" हो सके हैं, वे तो ज़बर्दस्ती तुम्हारी गोद में बैठ सकेंगे, किन्तु जो मा "अभक्त्यानताः" हैं। भक्ति किस को कहते हैं वह जानते भी नहीं, कैसे प्रेम करते हैं, किस तरह तुम्हारे चरणों में अपने प्राण ढाल देते हैं, वह भी नहीं जानते मा! हमको क्या गोद में न लेउगी मा! हमारी आशा! हमारा भरोसा है। केवल तुम्हारे मुख की ओर देखते हुए अनेक जन्म मृत्यु के घात प्रतिघात सहते आते हैं। मा! कब तक तू भक्ति रूप में इस पत्थर के हृदय में खिल उठेगी, हम भी "भक्त्यानताःस्मः" कह कर जीवत्व के पार चले जायेंगे। प्रभु, पिता, माता, सखा, सुहृद्, बन्धु, स्वामी, गुरु सब ही तुम हो। एक आधार से हमारा सब प्रेम सब

आकर्षण तुम हरण कर बैठी हो। जगत के अपने लोग हमारे मुख की ओर देख कर हमसे प्यार करते हैं। हम यदि उनकी इच्छानुसार चल सकें तो ही जगत् के अपने लोगों के प्रेम के पात्र हों। किन्तु तुम अपने ही प्राण के खिचाव से हमसे स्नेह करती हो। तुम आत्मा हो! प्राण हो! तुम्हारा वह अलौकिक स्नेह हम कब समझ सकेंगे? हे भक्तिरूपिणी मा! कब हम तुम्हारा आविर्भाव देख कर धन्य होंगे?

मा! भक्ति नहीं है। तो भी तुम को प्रणाम करते हैं। "अभक्त्या नताःस्मः—नमोनमस्तेऽस्तु सहस्र कृत्वः पुनश्चभूयोऽपिनमो नमस्ते! (११।३९ गी०) नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व (४०)" लेउ मा! भक्तिहीन कङ्गाल सन्तान का प्रणाम लो।

"विदधातु शुभानि सानः"—हमारा मङ्गल विधान करो। हमारा अकेले का नहीं, हम सब का इन विश्व वासी सब का मङ्गल विधान करो मा! विश्वमय सब ही तुम्हारा मङ्गल आशीर्वाद पावें, विश्व का अमङ्गल दूर हो। विश्व को उत्पन्न करने वाली मा! आशीर्वाद दो, वर दो, तुम्हारी सब सन्तानें सत्य और प्रेम रूप यथार्थ मङ्गल प्राप्त कर अमङ्गल के हाथ से सदा को छूट जावें। मा! मा! मा! हमारी।

यस्याः प्रभावमतुलं भगवाननन्तो,
ब्रह्माहरश्च नहि वक्तुमलं बलञ्च।
सा चण्डिकाखिल जगत् परिपालनाय,
नाशाय चाशुभभयस्य मतिं करोतु ॥३॥

अनुवाद। जिनका अतुल प्रभाव और बल का विषय वर्णन करने में भगवान् अनन्त, ब्रह्मा और महेश्वर तक असमर्थ हैं; वे ही चण्डिका जगत् परिपालन और अशुभ भय निवारण

के लिए मति (अतीतानुस्मृतिर्मेधा, तत्काल ग्राहिणीमतिः शुभाशुभ विचारज्ञा प्रज्ञाधीरैरुदाहृता ॥) मनन करें।

व्याख्या। मा ! हज़ार शिर वाले शेषजी, चार मुख वाले ब्रह्मा, और पञ्चानन हर, ये भी तुम्हारे अतुलनीय प्रभाव और बल का विषय वाणी द्वारा वर्णन नहीं कर सकते। यद्यपि वे सर्व शक्तिमान् परमेश्वर हैं, तथापि तो भी तुम्हारा प्रभाव प्रकाश क्यों नहीं कर सकते ? मा ! तुम्हारे प्रभाव और बल का विषय पूर्ण जानने के लिये, तुम में ही मिल जाना होता है। तुम में जब तक पूर्ण भाव से न मिला जा सके, तब तक किसी तरह तुम्हारा महत्व अनुभव नहीं होता और वाणी और मन रहने तक तुम में मिला नहीं जाता। अथवा तुम में मिलित होने के लिये—वाक्य सहित मन लौट आता है। फिर जब वाक्य और मन के राज्य में लौट आते हैं, तब तुम्हारे महत्व से बहुत दूर हो जाते हैं, अतएव कोई भी तुम्हारा प्रभाव जान नहीं सकता, तुम्हारा स्वरूप निर्णय कर नहीं सकता, निर्णय नहीं कर सकता। मा ! तुम मन वाणी के अगोचर हो।

मा ! ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर तुम्हारे ज्येष्ठ पुत्र होने से तुम्हारा प्रभाव, महत्व अनुभव करने के योग्य पात्र हैं। इसीलिये वे तुम्हारा अचिन्तनीय महत्त्व अनुभव करके, वर्णन करने से विमुख होकर मौन हो रहे हैं। किन्तु हम बिलकुल अर्वाचीन, तुम्हारे सबसे छोटे पुत्र हैं, हमारी क्षुद्र बुद्धि में तुम्हारे महत्त्व के जितने अंश का प्रतिबिम्ब पड़ा है उसे समझें या न समझें, उसे बिना विचारे लोगों से गाते फिरें। शिशु, पुत्र, मा का महत्त्व कुछ भी नहीं जानते; तो भी सब से अपनी मा की गौरव कहानी कहते फिरते हैं। हम भी मा ! वैसे ही तुम्हारी प्रभाव कहानी घाट बाट में बिना विचारे गाते फिरेंगे। और कुछ न हो—असद् बातें करने से अपवित्र हुई रसना पवित्र होगी।

सुनो साधक ! हमारी मा का प्रभाव । यह जो सूर्य देख पाते हो, वह हमारे रहने की भूमि वसुन्धरा से चौदह लाख गुना बड़ा है । इस पृथिवी की तरह इसकी अपेक्षा छोटे बड़े और भी कुछ ग्रह (मङ्गल, बुध, शुक्र आदि) उस सूर्य के आकर्षण से आकर्षित होकर, उसके चारों ओर परिक्रमा करते हैं । प्रत्येक ग्रह के साथ कुछ उपग्रह हैं । इन ग्रह और उपग्रहों समेत सूर्य का नाम सौर जगत् है । फिर रात के समय आकाश में अगणित नक्षत्र देखते हो, उनमें से एक एक नक्षत्र भी एक एक बहुत बड़ा सौर जगत् है । यह अगणित सौर जगत् किस अनादिकाल से, किस अलक्ष्य केन्द्र लक्ष्य पर निरन्तर तेज़ी से दौड़ते हैं । वह जो महाशून्य है, जहां से इस असंख्य सौर जगत् की निरन्तर द्रुतगति सिद्ध होकर भी अभी कितने और शेष रहे हैं, जिनकी संख्या नहीं, वह जो महाशून्य है, जिसने इतने विराट ब्रह्माण्ड को छाती पर धारण कर रक्खा है, यही हमारी मा है । हमारी मा के वक्ष पर ये अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड अनादिकाल से निरन्तर बड़े वेग से घूम रहे हैं । देखो साधक ! अपनी मा को देखो ।

फिर इस तरह अचिन्तनीय, अतुलनीय प्रभावयुक्त होकर भी, एक क्षुद्र पृथिवी के किसी अति दूर प्रान्त में स्थित एक क्षुद्रतम परमाणु किस भाव पर स्थित होने से, अति शीघ्र मा के अङ्ग में सदा के लिए मिल सकें, उसकी सुव्यवस्था करती है । कहीं किस क्षुद्रतम कीटाणु के हृदय में, कुछ मातृ-सम्वेदन जाग उठने से, कहां किस कीटाणु के कुछ निःश्वास गिरने से वे वस्तुएँ जिन्हें स्थिर दृष्टि देखती हैं, और बड़ी तत्परता के साथ अपने आप यथोचित विधान करती हैं—वे ही हमारी मा हैं ।

फिर जब उनकी इच्छा होगी, ठीक उसी क्षण, इतना बड़ा अचिन्तनीय व्यापार, इन्द्रजाल की भांति कहीं—किस अव्यक्त

क्षेत्र में अदृश्य हो जायगा। इतने बड़े ब्रह्माण्ड की सृष्टि-स्थिति-प्रलय जिनकी चक्षु के पल भर में सिद्ध होता है, वही हमारी मा है! इसके सिवाय मा का और भी एक अचिन्तनीय प्रभाव देखा जाता है—आज जो दुराचार मूढ़ है, कुछ दिन बाद ही वह पुण्यवान् ज्ञानी हो गया। क्या जो ऐसा कर सकती हैं, उनके लिये सृष्टि-स्थिति-प्रलय करना अति तुच्छ कार्य नहीं है?

अस्तु, "मा चण्डिका"—वह चण्डिका मा तुम हो। जिनके प्रभाव से ब्रह्मत्त्व-विष्णुत्त्व-शिवत्त्व तक पल भर में प्रलय के अतल गह्वर में छिप जाते हैं, वह चण्डिका मा तुम हो। एकबार "अखिल जगत् परिपालनाय अशुभभयस्यनाशाय च मतिं करोतु।" इस सारे जगत का परिपालन और अशुभ भय विनाश को उपयोगिनी बुद्धि की प्रेरणा करो। अखिल जगत परिपालन करने के लिये अशुभ भय का विनाश करती हो। अशुभ का अर्थ है मृत्यु, उससे उत्पन्न भय को ही अशुभ भय कहते हैं। मा! विचार कर देखते हैं—यह जगत् सर्वदा मृत्युभय से भीत है। देखो मा! प्रत्येक प्राणी के हृदय में मृत्युभय किस तरह आधिपत्य करता है। मृत्युभय रूप महा पिशाच, जीव के हृदय में रक्त प्रतिपल किस तरह शोषण करती हैं। जगंन्मय जितने कोलाहल सुनते हो, वे उस महा पिशाच की तीव्र चिल्लाहट जिससे सुनाई न पड़े, उसी के लिये हैं। संग्रह, रक्षा करना, निद्रा, भोग विलास जो कुछ हैं वे मृत्युभय को खाकर, क्षणिक सूखी हँसी के आयोजन मात्र हैं। जगत् में जो मृत्यु की कराल छाया पड़ रही है, इसे दूर करने योग्य बुद्धि की प्रेरणा करो। हमारी अभया मा! जगत् का मृत्युभय दूर करो। अमृतमयी मा जगत् का मृत्युभय दूर करो। मा तुम ही तो अभय अमृत सत्य परमात्मा हो। मृत्यु और अमृत, दोनों ही तो तुम्हारे हाथ के खिलौने हैं! इसी से तुम सत्य और अभय हो।

मा! जगत् में एक बार इस अभय सत्य मूर्ति से प्रकट हो! जगत् परिपालन करो। अमृत धारा से मृत्युभय दूर हो जाय। जीव जगत तुम्हारी सत्य मूर्ति देख कर अभय हों। ज्ञानामृत पान कर अमर हों। अजी! मृत्युभय नाम से भी कोई वस्तु है यह बात जगत् शुद्ध लोग भूल जायें। तुम सब के प्राण प्राण में कहदो "मृत्यु कुछ नहीं है"। जीव! तुम अमृत की सन्तान हो। अमृत मय मा के वक्ष पर तुम्हारा निवास है। तुम्हारा यह मृत्यु बोध अज्ञान कल्पित, मिथ्या है। मैं तुम्हारी अभया मा हूँ, तुम भी नित्य निर्भय स्वाधीन सन्तान हो। मा! सब जीवों के हृदय में-रोम रोम में यह वाणी ध्वनित कर दो। सब समझ लें-हम अभय हैं, हम अमृत हैं। मा! अब इस जगत के शोक दुःख का हाहाकार, कातर चीतकार न सुनाई दे। हमारी बुद्धि सदा बहुत से चलती है, इसी से हम सदा मृत्यु भय से शङ्कित, शोक दुःख से पीड़ित हैं। हमारी बुद्धि में नानात्व दर्शन होने से ही हम केवल मृत्यु से मृत्यु के ग्रास में अपनी आहुति देते हैं। बुद्धि में जो एकमात्र तुम ही प्रतिबिम्बित हो रही हो, यह न समझकर हम तुम्हारी ओर न देख कर बहुत्व के पीछे दौड़ते हैं, इसी से बार बार मृत्यु यातना भोगते हैं। किन्तु अब ऐसा करो जिससे हमारी मूर्ति तुम में ही सदा मुग्ध रहे।

> याश्रीः स्वयं सुकृतिनां भवनेष्व लक्ष्मीः
> पापात्मनां कृतधियां हृदयेषु बुद्धिः।
> श्रद्धा सतां कुलजन प्रभवस्य लज्जा
> तां त्वां नताःस्म परिपालय देवि विश्वम् ॥ ४ ॥

अनुवाद। जो स्वयं सुकृतिशाली जनों के भवन में श्री, पापियों के भवन में अलक्ष्मी, विवेकियों के हृदय में बुद्धि, सज्जनों के हृदय में श्रद्धा, और कुलीन जनों के हृदय में लज्जा रूप

से विराजमान है। उस तुमको हम प्रणाम करते हैं। हे देवि! तुम इस विश्व का परिपालन करो।

व्याख्या। जो सुकृती जन हैं उनके भवन में तुम श्री अर्थात् ऐश्वर्य रूप से विराजती हो। केवल धन, रत्नादि को ही ऐश्वर्य नहीं कहते, इच्छा का न रुकना ही यथार्थ ऐश्वर्य है। यह बुद्धि सत्त्व की निर्मलता का बाहिरी लक्षण है। इस देश की तान्त्रिक पूजा में ऐश्वर्य, अनैश्वर्य, वैराग्य, अवैराग्य, धर्म्म, अधर्म्म, ज्ञान और अज्ञान इन आठ पीठ देवताओं की पूजा का विधान देखा जाता है। ये आठ बुद्धि के धर्म हैं। बुद्धि ही यथार्थ मा का पीठ है। बुद्धि तत्त्व में ही मा का अधिष्ठान है। पूजा, अर्चना, आराधना, उपासना जो कुछ है वह सब इस बुद्धि तक है। इसी से पूर्व मन्त्र में कहा है—"मतिं करोतु"। बुद्धि निर्मल होने से ही जीव सुकृतिशाली होता है, सुकृतिशाली होने से श्री या ऐश्वर्य्य प्राप्त होता है—अर्थात् इच्छा पूरी होने में बाधा नहीं पड़ती। उसके फल से वैराग्य, धर्म्म और ज्ञान प्राप्त होता है, जीव मोक्ष पदवी पाता है। मा! इस तरह तुम्हारी श्री मूर्ति का प्रकाश सुकृती जनों के भवन में ही दीख पड़ता है।

मा! और जो पापात्मा—पाप बुद्धि हैं, उनके भवन में तुम ही अलक्ष्मी रूप से विराजती हो। अलक्ष्मी—अनैश्वर्य्य, अर्थात् इच्छा का अभिघात (पूर्ण न होना)। जब तक जीव की वासना अपूर्ण रहे तब तक समझले कि उसकी बुद्धि में पाप है। पाप शब्द का अर्थ है, सङ्कोच। बुद्धि जब तक केवल रूप रसादि विषयों के प्रकाश करने ही में प्रसन्न रहे, तब तक वह रजोगुण, तमोगुण द्वारा मलिन होने से सङ्कुचित है, इसी से पाप है। बुद्धि मलिन रहने से ही अलक्ष्मी वा अनैश्वर्य्य का राज्य है। अनैश्वर्य्य से ही अधर्म्म, अवैराग्य और अज्ञान आता है।

पाप पुण्य ये बुद्धि तक ही हैं। बुद्धि के ऊपर फिर पाप पुण्य नहीं। धर्म्माधर्म्म ज्ञानाज्ञान, वैराग्यभोग, सिद्धि-असिद्धि, सब ही इस बुद्धि तक हैं। जगत में जो पाप पुण्य कहा जाता है वह केवल तुलनाकृत—आपेक्षिक है। एक के लिए जो पाप है, दूसरे के लिये शायद वही पुण्य हो। एक अवस्था में जो पाप है, दूसरी अवस्था में शायद वही पुण्य हो। अतएव जगत् के पाप पुण्य के विचार में स्वास्थ्य और समाज स्थिति की ओर ही प्रधान भाव से लक्ष्य लक्ष्य जान पड़ता है। आध्यात्मिक मार्ग के कांटे दूर कर देना ही पाप पुण्य—विचार के प्रधान उद्देश्य हैं। अस्तु, ऐसा विचार करते करते एक दिन जीव बुद्धि सत्त्व पर पहुंचता है। तब पाप पुण्य सम्बन्ध में जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह आपेक्षिक नहीं है—सब देशों में, सब काल में, सब अवस्थाओं में प्रयोग करने योग्य है।

बुद्धि में दो तरह का प्रकाश मौजूद है एक इन्द्रियों द्वारा लाये हुए विषयों का प्रकाश, दूसरा परमात्मा का प्रकाश। इनमें पहला पाप, दूसरा पुण्य है। वैषयिक प्रकाश से बुद्धि में संकोच होता है और परमात्मा के प्रकाश से उसका प्रसार होता है। इसी से पाप संकोच है, पुण्य प्रसार है, फूल रूप में फूल ग्रहण करने से बुद्धि का संकोच होता है; किन्तु उसको मा समझ कर, प्राण समझ कर, ग्रहण करने से, बुद्धि का प्रसार होता है। व्यवहारिक पाप पुण्य भी इस बुद्धि के सङ्कोच प्रसार के ऊपर ही अधिकांश निर्भर है। बुद्धि के सङ्कोच का नाम ही अज्ञान है; अज्ञान से अनैश्वर्य होता है—कामना अपूर्ण रहती है, कामना पूर्ण हुए बिना वैराग्य आ नहीं सकता। इसी से देखते हैं कि बुद्धि के एक तरफ़ श्री दूसरी ओर अलक्ष्मी है। एक ओर ज्ञान, धर्म, ऐश्वर्य और वैराग्य, दूसरी ओर अज्ञान, अधर्म, अनैश्वर्य और अवैराग्य है।

मा! इन दोनों ही रूप में तुम विराजमान हो, इसे जो समझ सके हैं वे ही "सुकृती" हैं कृतधी हैं। इसी से तुम 'कृत-धियां हृदयेपुबुद्धिः"। इसी से ब्राह्मण लोग तीन सन्ध्याओं में "धियोयोनः प्रचोदयात् "कहते हुए विशुद्ध बुद्धि रूप से प्रकाशित होने के लिये कातर प्राण से प्रार्थना करते हैं। मा! बुद्धि में पहुंच सकने से जीव को सब प्राप्त होता है, सब अभाव सब को दूर हो जाते हैं; इसी से तो सब जीव जगत् का बुद्धिसत्त्व प्रकाश करने के लिये तुम्हारे रातुल चरणों में यह प्रार्थना है– "धियोयोनः प्रचोदयात्"।

"श्रद्धासतां"––जिन्होंने सत् का पाया है, उनके हृदय में "श्रद्धा रूप से–गुरु वेदान्त वाक्य में दृढ़ विश्वास रूप से, मा! तुम ही नित्य अधिष्ठित हो। जिन्होंने इन सदा परिवर्तन-शील विनाशी वस्तुओं में भी एक अखण्ड अपरिणामी नित्य सत्ता का पता पाया है, वे ही यथार्थ सज्जन हैं। ऊपर कही रीति से कृतधी होने से ही जीव का सन्धान पाया। जिस उपाय से वह हुआ–वही श्रद्धा-गुरुवाक्य और शास्त्रवाक्य में पर्वत की तरह अटल विश्वास है। मा! जिनको तुम सत् करती हो उनके हृदय में तुम ही श्रद्धा रूप में अवस्थान करके असत् से पार ले जाओ। यही तुम्हारा मातृत्व है।

"कुलजन प्रभवस्य लज्जा"—अच्छे कुल में उत्पन्न जनों के हृदय में मा तुम लज्जा रूप से स्थित हो। अकर्म से विमुख रहने का नाम ही लज्जा है। इस जगत् में सज्जनों को निन्दित कर्म करने में जो लज्जा जान पड़ती है, उस लज्जा रूप से उनके हृदय में मा तुम ही नित्य रहती हो। फिर पक्षान्तर में जिन्होंने सत् का पता पाया है, जिन्होंने विषयरूप कुल में विचरते हुए भी अकुल का सन्धान पाया है, एक मात्र अखण्ड सत्ता अनुभव की है, वे तुम्हें सब कर्मों से अतीत समझ सके हैं, इसी से सब

से निर्लिप्त तुम में किसी तरह का कर्तृत्व अर्पण करने में सङ्कोच करते हैं। यही उनकी अकर्म्म से विमुख होने रूप लज्जा है।

"तां त्वां नताः स्म" उस तुमको हम प्रणाम करते हैं। मा! तुम हमारे हृदय में श्री अलक्ष्मी बुद्धि और लज्जा रूप से अपना प्रकाश करती रहो। तुम अदृश्या, अस्पृश्या, अग्राह्या होकर भी उन रूपों से सदा ही हमारे हृदय में आविर्भूत होती रहो मां! तुम्हारे चरणों में सर्वतो भाव से अवनत-प्रणत होते हैं।

"परिपालय देवि विश्वम्"—तुम इस विश्व का परिपालन करो। मा! तुम इस विश्व का यथार्थ ही परिपालन करती हो विश्ववासी जीव मात्र ही तुम्हारी स्नेहमय गोद में अवस्थित हैं यह विश्वास, यह ध्रुवज्ञान हमारे प्रति जीव के हृदय में उद्दीपित करो। तुम्हारे स्नेह की सन्तानें जो त्रिताप की अग्नि से जर्जरी-भूत! दुर्भिक्ष महामारी अकाल मृत्यु की कठोर चक्की में पिसने से छिन्न मर्म्म हैं! अजी वे नित्यानन्दमयी की गोद में पालित हो कर भी विषाद से, भय से मरे जाते हैं, तुम यह दूर करो। तुम गुरु रूप से हर एक जीव के हृदय में आविर्भूत होकर जीवों का अज्ञान दूर कर दो, जीव अनेक दिनों के अज्ञान-कल्पित दुःख के पिसने से परित्राण पावें। यही तो तुम्हारा यथार्थ जगत् परि-पालन है, नहीं तो जगत् परिपालन करने की और सार्थकता क्या? तुम ही जगदाकार से आकारित, फिर तुम ही जगत की सृष्टि, स्थिति प्रलय करती हो; अतएव तुम जगत परिपालन करती हो और करोगी, यह कहना ही बाहुल्य है।

मा! हम सचमुच निराश्रय नहीं हैं, यह हमको समझा दो। हम दुःख से, भय से, प्रबल के अत्याचार से पीड़ित होकर अपने को बिलकुल निराश्रय समझ कर अत्यन्त दुर्बल हो जाते हैं, हमारा यह भाव दूर करो मा! सचमुच तुमने विश्वपालन कर्त्री रूप से सदा हमको छाती पर धारण कर रक्खा है। यह

हमारे मर्म्म मर्म्म में यथार्थ रूप से अनुभव करने की सामर्थ्य दो।

> किं वर्णयाम तव रूपमचिन्त्यमेतत्
> किञ्चाति वीर्य्यमसुरक्षयकारि भूरि
> किञ्चाहवेषु चरितानि तवातियानि
> सर्वेषु देव्यसुरदेव गणादिकेषु ॥ ५ ॥

अनुवाद। हे देवि! तुम्हारे अचिन्तनीय रूप का विषय क्या वर्णन करें? अगणित असुरों का नाश करने वाला तुम्हारा प्रचुरवीर्य, रण क्षेत्र में प्रकटित तुम्हारा अलौकिक चरित्र इन्होंने असुरों और देवताओं को अतिक्रम किया है।

व्याख्या! मा! तुम्हारा रूप अवर्णनीय और अचिन्तनीय—मनवाणी का विषय नहीं। सचमुच तुम्हारे रूप को हम वाक्य द्वारा वर्णन अथवा मन द्वारा धारणा नहीं कर सकते। दृश्यमान पदार्थ मात्र का ही एक रूप है, यह हम समझ सकते हैं किन्तु वह रूप वस्तु क्या है उसे भाषा में प्रकट नहीं कर सकते, मन ही मन चिन्ता भी नहीं कर सकते। हम जिसको रूप कहते वा समझते हैं, वह तो वास्तविक रूप नहीं—आकृति मात्र है। गोलाकार, चौकोर, तिकोना, लाल, नीला, श्वेत कोमल, कठिन, तरल, ऊँचा, नीचा इत्यादि अनेक प्रकार के शब्दों द्वारा हम रूप वस्तु को समझने और कहने का प्रयास करते अवश्य हैं परन्तु वास्तव में उसके रूप का कुछ भी व्यक्त होता, आकार वा गठन का कुछ अंश मात्र व्यक्त होता है। रूप शब्द समझने के लिये हम सुन्दर और कुत्सित ये दो शब्द प्रयोग करते हैं इन दो शब्दों का भी आकृति को देख कर ही प्रयोग होता है। वास्तविक रूप रूप ही है। उसमें सुन्दर कुत्सित कुछ भी नहीं। रूप एक के सिवाय दो नहीं हैं। यह विश्व रूप सागर में ही

भासता है। इस रूप का स्वरूप क्या है, वह किस तरह प्रकाश करें सो भाषा में प्रकाश नहीं किया जाता, वह चिन्ता के भी अतीत है। तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि रूप नहीं है ऐसा जान पड़ता है कि हम सदा रूप ही देखते हैं; किन्तु जो देखते हैं, वह रूप नहीं है—आकार है। एक अखंड रूप सागर में न जाने कितने नाम और आकार फूट रहे हैं। आकार जो रूप के सिवाय और कुछ नहीं है, यह मानो समझ कर भी नहीं समझते। ये आकार ही वेदान्त प्रतिपाद्य नाम और रूप हैं। वास्तव में जब हम रूप की ओर लक्ष्य करें, तब ही सब इन्द्रियागम्य एक महासत्य क्षेत्र पर पहुंचें। वह क्या है, वह यथार्थ ही वाक्य और चिन्ता के अतीत है।

मा! पक्षान्तर में हम यही धारणा करलें कि हम जिसको सौन्दर्य समझते हैं वही तुम्हारा रूप है; तो भी वह चिन्ता के अतीत हो जाता है। चन्द्र में, कमल में, कामिनी के कमनीय मुख मण्डल में, बालक बालिकाओं की अर्द्ध स्पष्ट वाणी के सौन्दर्य बिन्दु देख कर हम मुग्ध होते हैं; जिस सौन्दर्य-सिन्धु की एक बिन्दु इतनी मोहित करने वाली है, न जाने उस रूप की सिन्धु तुम कितनी प्राणाराम—कितनी मोहितकरी हो। मा! यह व्यष्टि रूप, यह विनश्वर रूप ही यदि हमको अन्ध कर रख सकता है—तुम्हारी ओर ताकने नहीं देता है। तब समष्टि रूपमयी तुम में जो मुग्ध हैं वे जगत् के रूप को तुच्छ समझ कर त्याग करें, उसमें फिर विचित्रता ही क्या? मा! तुम ही तो "साक्षात् मन्मथ मन्मथः।" जो तुम्हारे इस आश्चर्य रूप सागर में डुबकी लगा सके हैं, तन्मय हो सके हैं, वे जानते हैं—कुत्सित, निन्दित कहने को कुछ नहीं है, सब ही रूपमय सब ही सुन्दर है। मा! मा! वह कैसी लोभनीय अवस्था है।

मा ! किस तरह तुम्हारे उस रूपातीत रूप सागर में अव-गाहन किया जा सकता है, यहां उसका भी आभास दिया जाता है। रूप की पांच अवस्था हैं। पहला स्थूल रूप अर्थात् आकार। दूसरा चक्षु अर्थात् देखने की शक्ति। चक्षु से ही रूप जगत का सूक्ष्म प्रकाश है। तीसरा रूप तन्मात्र, यह रूप का सूक्ष्मतर प्रकाश है। चौथी अस्मिता, अर्थात् रूप का बोध स्वरूप। यह रूप का सूक्ष्मतम प्रकाश है। यहां पहुंचने पर यह अनुभव होता है कि रूप बोध के सिवाय और कुछ नहीं है। इनके सिवाय रूप की एक और अवस्था है, यह पुरुषार्थ है। पुरुष अर्थात् विशुद्ध बोध स्वरूप परमात्मा का भोग सम्पादन करने से ही इसका नाम पुरुषार्थ है। यही रूप की पांचवीं अवस्था वा अति सूक्ष्मतम स्वरूप है।

प्रथम सत्यबोध (आत्मसाक्षात्कार) से स्थूल रूप अर्थात् किसी पदार्थ की आकृति को मा रूप समझ पकड़ लेने पर, रूप का द्वितीय स्वरूप दृक् शक्ति भासने लगती है। विश्व में एक दृक् वा दर्शन शक्ति ही यथार्थ रूप का स्वरूप है, यह बोध (ज्ञान) होता रहता है। इसके बाद इसमें सत्य बोध कर मा! मा! कहते हुए केन्द्र की ओर आगें बढ़ते रहने से, रूप तन्मात्र पर पहुंच जाते हैं। वह अति सूक्ष्म—ज्ञानमय रूप आकाशीव-भाव होने पर भी अति लोभनीय, अतिशय प्राणाराम है। फिर और भी मा ! मा ! कहते हुए आगे बढ़ते जाने पर मा ऐसे स्थान पर पहुंचा देती है, जहां हमारा मैं ही रूपमय बोध होता रहता है। मैं पन—अस्मिता जो रूप के सिवाय और कुछ नहीं है, ऐसा अनुभव जब आता रहता है, तब मैं क्या होगया, वह भाषा में किस तरह व्यक्त हो। वह जो अरूप का रूपमय स्वरूप है। वहां से फिर मा मा कहते हुए रोने लगने से, तब इस रूपमय मैं का जो यथार्थ द्रष्टा है, जिसकी करुण दृष्टि से मैं

रूप खिल उठता है, चकित की नाईं उस स्वरूप का आभास पाया जाता है। उसके बाद फिर स्थूल रूप में उतर आकर साधक का क्या होता है? उसकी रूप की पिपासा, सौन्दर्य की आकांक्षा सदा को मिट जाती है। फिर "रूपं देहि" कह कर मा से कातर प्रार्थना नहीं करनी होती! "रूपं देहि" मन्त्र की यही सिद्धावस्था है। ·

मा! अपनी प्रियतम सन्तानों से कह दो कि केवल "रूपं-देहि" कहते हुए स्थूल रूप से, सत्यप्रतिष्ठा मार्ग में आगे बढ़ने से, कितने सहज में अनायास रूप-समुद्र में अवगाहन कर, रूपातीत स्वरूप का पता मिल गया। [नोट—प्रथम खण्ड अर्गला व्याख्या में रूप शब्द का परमात्मातक अर्थ किया गया है, एवं रूप के जिन स्तरों को भेदकर परमात्म स्वरूप पर आते हैं, उनका भी आभास दिया गया है।

"किञ्चाति वीर्य्य'"—मा! अगणित असुरवीर्य्य-क्षयकारी तुम्हारा अतुलनीय वीर्य भी हमारे ध्यान से परे है। मा, असुर वीर्य्य रूप से भी तुम हो, फिर असुर वीर्य्य क्षयकारी रूप से भी तुम हो। क्षय शब्द के दो अर्थ हैं—विनाश और निवास। 'क्षि' धातु का निवास अर्थ में भी प्रयोग है। अतएव असुर क्षयकारी वीर्य्य कह कर दोनों ही समझाये हैं। जो वीर्य्य असुर रूप से अपना प्रकाश करता है वह भी तुम! और जो उस असुर वीर्य्य का विनाश करता है वह भी तुम। एकाधार पर ऐसे परस्पर अत्यन्त विरोधी भाव तुममें ही हो सकते हैं। असुर और सुर, दोनों में ही तुम्हारा तुल्य प्रकाश है। कहीं भी न्यूनाधिकता नहीं है, इसी से मन्त्र में भी देखते हैं "असुर देवगणादिकेषु"।

मा! तुम्हारा ब्रह्माण्ड-सृष्टि-स्थिति-प्रलय करने रूप महावीर्य्य प्रकाश पाने से पूर्व ही तो हमारे निकट यह असुर वीर्य्य प्रकट हुआ, हम तुम्हारा यह अतुलनीय वीर्य्य देखकर ही विस्मित

और स्तम्भित हुए। जब देखते हैं कि तुम काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि असुर रूप से प्रकाशित हो, तब निष्काम, अक्रोध, निर्लोभ आदि देव वीर्य्य कितने पराजित हो गये। फिर जब देववीर्य्य प्रबल हुआ, तब असुर वीर्य्य पराजित हो गया। इस तरह मा ! हमारे हृदयक्षेत्र में अहर्निश तुम्हारा ही वीर्य्य प्रभाव अनुभव होता रहता है। फिर इस तरह परस्पर अत्यन्त विरुद्ध वीर्य्य प्रकाश के समय जो युद्ध उपस्थित होता है, उस युद्ध में तुम्हारा कैसा अभूतपूर्व लोकोत्तर वीर्य्य प्रकाशित होता है। मा! जब असुर वीर्य्य की पीड़ा आरम्भ होती है, तब चित्त क्षेत्र में कैसा लोक निन्दित लीला का अभिनय होता रहता है। फिर घड़ी भर बाद अगले मुहूर्त में ही असुर वीर्य हत पराक्रम, और देवताओं का वीर्य प्रबल होकर चित्तक्षेत्र में स्वर्गीय शान्ति की निर्मल धारा प्रवाहित कर देता है।

इसके सिवाय मा ! तुम्हारा और एक वीर्य्य प्रभाव परिलक्षित हो जाता है, जो सुरासुर दोनों के ही अतीत है। अजी ! जहां सब वीर्य पराभूत है, वह उस अभय अमृतमय वीर्य है। जिनके भय से सूर्य का उदय, जिनके भय से वायु का प्रवाह, पर्जन्य का वर्षण, मृत्यु को भी भीति उपस्थित होती है, यह वही वीर्य्य है। उस सर्व वीर्यातीत वीर्य्यमयी हमारी मा ! तुम्हारे चरणों में कोटि प्रणिपात, मा ! कोटि प्रणिपात-प्रणाम।

हेतुः समस्त जगतां त्रिगुणापि दोषै,
न ज्ञायसे हरिहरादिभिरप्यपारा।
सर्वाश्रयाखिलमिदं जगदंशभूत —
मव्याकृता हि परमा प्रकृतिस्त्वमाद्या ॥ ६ ॥

अनुवाद। तुम समस्त जगत के हेतु ! त्रिगुण स्वरूपा होकर भी दोष के कारण अज्ञेया हो, अतएव हरिहरादि के भी

ध्यान में अगम्या हो। तुम सर्वाश्रया हो। यह अखिल जगत् तुम्हारा ही अंश मात्र है। तुम ही अव्याकृता आद्या परमा-प्रकृति हो।

व्याख्या। हे मा! केवल तुम ही सब जगत् का हेतु हो। केवल जिस जगत में हम रहते हैं, यही एक जगत् नहीं; समस्त जगत्-अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड—इस अनादि सृष्टि चक्र के जहां जितने कुछ परिवर्तनशील पदार्थ हैं, उन सब का हेतु एकमात्र तुम ही हो। हेतु दो प्रकार का है—निमित्त और उपादान। ये दोनों हेतु ही तुम हो। हम स्वप्न के दृष्टान्त से यह कुछ कुछ समझ सकते हैं। स्वप्न में दीखने वाले पदार्थों का निमित्त अर्थात् कर्ता और उपादान दोनों जैसे मन के सिवाय और कुछ नहीं है उसी तरह इस जाग्रत अवस्था में दीखने और अनुभूत होने वाले जगत् प्रपञ्च का निमित्त और उपादान, दोनों ही तुम हो। आत्मा हमारी मा, तुम ही अपने को कई भागों में बांटकर द्रष्टा और दृश्य रूप से प्रकाशित होती हो।

मा! कदाचित् कोई तुम्हारी ज्ञानवृद्ध सन्तान कहे कि आत्मा जगत् कारण नहीं है, आत्मा निर्गुण निष्क्रिय है उसमें किसी तरह की कारणता रह नहीं सकती। जगत् का उपादान कारण जड़ प्रकृति है। चैतन्य स्वरूप आत्मा की समीपतावश इस जड़ प्रकृति का परिणाम हुआ, वह यही जगत् है। फिर निमित्त कारणता भी आत्मा में नहीं है; क्योंकि प्रकृति का जगत रूप में जो परिणाम है, यह दर्शन करना भी आत्मा का धर्म नहीं है। उसमें किसी प्रकार की इच्छा नहीं। स्वप्रकाश स्वरूप आत्मा की समीपतावश प्रकृति में चैतन्य धर्म भासने लगता है, एवं उसका परिणाम यह जगत् है। जो ऐसा कहते हैं, उनके साथ हमारा कुछ विरोध नहीं। हम उनका सिद्धान्त भी सत्य ज्ञान में स्वीकार करते हैं। किन्तु मा, तुमने जो हमारे निकट केवल

ऐसे भाव से अपना प्रकाश किया नहीं। गुरु रूप से आविर्भूत होकर हमको विशेष भाव से दिखाई दी है—वह जो जड़ प्रकृति है, वह भी तुम्हीं हो—आत्मा हमारी मा! इसी से मन्त्र में भी कहा है "त्रिगुण" त्रिगुणात्मिका प्रकृति रूप से जगत् का उपादान भी तुम ही हो और कोई नहीं।

परमात्मा हमारी मा! तुम चैतन्य स्वरूप हो और तुम्हारी प्रकृति जड़ अचेतन हो यह कैसे मानलें। चेतन आत्मा की प्रकृति अचेतन हो नहीं सकती। बल्कि अचेतनाकार में चेतन का प्रत्यक्ष ज्ञान कहा जा सकता है। यदि देखते कि त्रिगुणा प्रकृति आत्मा के सिवाय और कहीं भी रह सकती है, तब ही न जड़ सत्ता मान लेते। जब सूर्य किरणों की नाईं प्रकृति और आत्मा का अविना-भाव-व्याप्ति है, तब फिर उसे जड़ कैसे कहें। अजी, जब तक तुम्हारी आलोचना, जब तक मैं हूं तब तक ही तुम त्रिगुणा प्रकृति हो। मुंह से कहते हैं—"हमारी प्रकृति"। किन्तु वास्तव में "मैं ही प्रकृति हूं"। जिस तरह "राहु का सिर" कहने से राहु से सिर को जैसे अलग समझ लें, यह भी वैसी ही बात है; पुरुष प्रकृति, ब्रह्म माया, आत्मा शक्ति इत्यादि युग्म वाचक शब्द प्रयोग करने पर भी वास्तव में वे बिलकुल अभिन्न हैं। आत्मा जब प्रकृति रूप से, माया रूप से वा शक्ति रूप से प्रकाशित हो, तब ही वह प्रकृति माया वा शक्ति कहा जाता है।

आशङ्का हो सकती है—विशुद्ध बोध वा 'ज्ञ' स्वरूप आत्मा किस तरह जड़ प्रकृति रूप में अर्थात् त्रिगुणाकार में आकारित हो सकता है? उसका उत्तर यह है कि वह जो 'ज्ञ' वस्तु है, उसी में ज्ञातृ, ज्ञेय और ज्ञान रूप विशिष्ट तीन भाव प्रकाशित होते हैं। निर्गुण अवस्था में वह अव्यक्त रहता है, इसी से प्रकृति का दूसरा नाम अव्यक्त है। 'ज्ञ' से ही ज्ञातृ ज्ञेयादि धर्म

प्रकाशित होते हैं। वही त्रिगुण ! ज्ञान—सत्वगुण, ज्ञाता—रजोगुण, और ज्ञेय—तमोगुण, ये तीन वस्तुएँ कहीं दूसरी जगह से नहीं आतीं। उस 'ज्ञ' वस्तु से ही प्रकाशित होतीं हैं। इसी से देखते हैं कि जीव ईश्वर और ब्रह्म, तीनों अवस्था में 'ज्ञ' वा आत्म वस्तु ज्यों की त्यों रहती है। और उस आत्मा में ही ज्ञातृ ज्ञेयादि धर्म्म प्रकाशित होकर नाम रूपात्मक जगत् प्रत्यक्ष होता है। इसी से तो मा जिधर देखते हैं उधर ही तुम्हारा विचित्र विकाश देख कर मुग्ध होते हैं। इसी से जहां मा कह कर पुकारा, वहीं तुम्हारा उत्तर पाकर, तुम्हारे स्नेहादर का गर्व अनुभव करते हैं। इसी से मा देवता तुम्हारा स्तव करते समय "हेतुः समस्त जगतां त्रिगुणा" कह कर प्रकृति रूपिणी तुम्हारे रक्त चरणों में अवनत हो पड़े हैं।

मा ! तुम त्रिगुणामूर्ति से जगत् रूप में प्रत्यक्ष हो, यह यदि इतना सत्य है, तो देवताओं की तरह हम भी जगत् रूप में तुमको क्यों न देखें ? घट, सकोरा देखने के साथ ही मिट्टी का दर्शन होता है, कुण्डल दर्शन के साथ ही साथ जैसे सुवर्ण दर्शन होता है, उसी तरह जगत दर्शन के साथ ही साथ क्यों मा तुम्हारा दर्शन क्यों नहीं होता ? चिन्मयी ! तुम ही यदि जगत् हो, तुम ही यदि नाम रूप हो तो तुमको क्यों नहीं देख पाते ?

"दोषैर्नज्ञायसे"—दोषों के कारण तुमको नहीं जानते ! दोष क्या ? पहला दोष देखना चाहते नहीं। दूसरा दोष—संशय और अविश्वास। हम केवल नाम रूप ही देखना चाहते हैं। हम सदा परिवर्तनशील जड़ जगतरूप में ही इसको देखने के अभिलाषी हैं। इसी से तुमको नहीं देख पाते। फिर यदि कभी बिजली की चमक की तरह क्षण स्थायी मा के दर्शन की इच्छा की क्षीण रेखा जागे भी, त्योंही सन्देह और अविश्वास आकर

ऐनक की तरह आंखों के सामने आ जाते हैं। वे कह देते हैं—"तो क्या हुआ, यह जड़ माटी क्या मा है" जी ? यह जड़ जल क्या चिन्मयी "मा हो सकता है ?" इस तरह सर्वत्र हमको ठगते रहते हैं। वे ही तो तुम्हारी इस प्रकट विश्व मूर्ति में जड़त्व का मोटा पर्दा डाल देते हैं, इसीसे क्षीण आकांक्षा की रेखा भी चकित में मिल जाती है। हाय मा ! कब तक अब इस तरह त्रिताप दग्ध जीव कुल को वञ्चित करोगी ? मा ! तुम ही तो दोष की सृष्टि करती हो ! तुमने ही तो अपने अवयव दोष से ढक रक्खे हैं। इसी से तुम पकड़ाई नहीं देतीं, हमारे चक्षुओं को तुम्हें दोषमयी देखने का बहुत दिन से अभ्यास है, इसी से गुणमयी तुमको देख नहीं पाते। यदि दोषों को भी मा का रूप समझ सकते, यदि माया को भी मा का रूप स्वीकार करते, यदि प्रकृति को भी पुरुष समझ कर ग्रहण करते, यदि मन को भी प्राण समझकर आदर से आलिङ्गन करते, यदि विषय को भी भोक्ता रूप से भोग करते, यदि दृश्य मात्र को भी द्रष्टा के स्वरूप से दर्शन करते, यदि जड़ को भी चेतन रूप में अनुभव करते, तो अवश्य ही मा तुम्हारा दोषावरण दूर हो जाता। अजी, तुम्हारे सिवाय और जो कुछ है वह सब ही दोष है। सर्व रूप में एक तुम ही हो, यह समझ सकने पर फिर दोष कहां ? जब तक दोष तुमसे पृथक् कोई वस्तु रहेंगे, तब तक ही तुम "न ज्ञायसे"। जिन्होंने इन दोषों को मिथ्या भ्रान्ति अध्यास तुच्छ वा कल्पनामात्र समझ कर केवल तुम्हारी ओर दृष्टि पसारने की चेष्टा की है, उनमें भी कुछ न कुछ दोष रह गया है। मिथ्या कहो, चाहे भ्रान्ति कहो, दोष दर्शन तो होता ही है ! इसी से कहते हैं कि जब तक दोष को तुमसे भिन्न अर्थात् तुम्हारा आवरण रूप दीख पड़ें, तब तक ही तुम "न ज्ञायसे"। तब तक ही तुम आवृता हो।

मा, गीता में तुम ही ने तो कहा है कि जिस तरह धुएँ से आग ढकी रहती है, जैसे धूल गर्द से दर्पण आवृत रहता है, जैसे जरायु से गर्भ (भ्रूण) लपेटा रहता है, ठीक उसी तरह अज्ञान से ज्ञान आवृत रहता है। अज्ञान ही दोष है। अज्ञान रहने तक ज्ञान प्रकाश नहीं पाता। यह सत्य है, किन्तु धूम्र जैसे अग्नि का सहजात दोष है, मल जैसे दर्पण का अवश्यम्भावी आगन्तुक दोष है, उल्व जैसे भ्रूण का संरक्षक सहजात चर्मावरण दोष है, ठीक उसी तरह अज्ञान ज्ञान का सहजात अवश्यम्भावी दोष है। अज्ञान भी ज्ञानमात्र है, यह समझ लेने से ही दोष दूर होता है; ज्ञान का उदय होता है। तब फिर तुम 'न ज्ञायसे' नहीं; "ज्ञायसे" हो। अथवा तब तुम ज्ञान रूप से ही अपना प्रकाश करती हो।

"हरिहरादिभिरप्यपारा"—मा! हम किस तरह तुमको जानें? तुम केवल हमारी ही अज्ञेया नहीं हो, शिव, विष्णु और ब्रह्मा के भी ध्यान में अगम्या हो। जब तक ध्याता, ध्यान और ध्येय रहता है तब तक तो तुम्हारा यथार्थ स्वरूप प्रकाशित होता नहीं, जब तक हरिहरादि, विशिष्ट बोध रहे तब तक किस तरह तुम्हारा परमात्मस्वरूप प्रकाश पावे। अजी! मैं रहने तक तुम न आओगी, मैं के चले जाने पर तब तुम आओगी। अपार चित समुद्र में जब तक विशिष्ट मैं को एक दम डुबा न दिया जाय, तब तक किसी तरह तुम आत्मारूप से प्रकट नहीं होवीं। इसी से तुम "हरिहरादिभिरप्यपारा" हो।

सर्वाश्रया मा! इतनी दुर्ज्ञेया होने पर भी हमारे हताश होने का कारण नहीं; क्योंकि तुम—सर्वाश्रया हो। तुम सबका आश्रय हो। हम तुम्हारे आश्रित हैं। साधारण बोलचाल में कहते हैं—तुमने हमको गोद में ले रक्खा है। तुमको जान पूछ न सकने पर भी, हम सर्वतोभाव से तुम्हारे ही आश्रित, तुम्हारी ही गोद

में बैठे हैं, इतना समझ सकने से भी हमें पर्याप्त लाभ है। हम निराश्रय अनाथ नहीं, हम तुममें ही हैं। जन्म, मृत्यु, शोक, दुःख, अभाव, उत्पीड़न, कुछ भी क्यों न आवे, अवस्था का विपर्य्यय कितनी ही तरह का उपस्थित क्यों न हो, सर्वाश्रया मा! तुमने सब अवस्थाओं में सर्वतोभाव से धारण कर रक्खा है। हमें क्षण भर के लिये भी तुमने छोड़ा नहीं। इससे अधिक आश्वासन की वाणी और क्या हो सकती है? मा! धन्य हम तुम्हारी सन्तान! तुम्हारी गोद में बैठे हुए नग्न शिशु। मा! मा! मा!

"अखिलमिदं जगदंशभूतम्"—तुम सर्वाश्रया हो यह कैसे समझें? यह सारा संसार तुम्हारे ही अंश से उत्पन्न है। अपने अङ्ग, प्रत्यङ्ग को आप जैसे सर्वतो भाव से जान सकते हैं अवयवी जैसे अवयव का आश्रय है, ठीक उसी तरह यह सारा जगत तुम्हारा ही अंश भूत होने से तुम सर्वाश्रया हो। तुम्हारा ही एक अंश जगत-आकार से प्रकट है। श्रुति भी कहती है-पादोऽस्य विश्वाभूतानि"। मा! तुम्हारे एक पाद से यह जगत् है, और तीन पाद स्वप्रकाश हैं—वहाँ जगत नहीं है। कल्याणी श्रुति ने हम जैसे अल्प बुद्धि जीवों को सहज में समझने के लिये ही अपरिच्छिन्न अनंश पूर्ण स्वरूप तुम्हारे अंश कल्पना किये हैं। तुम्हारे सर्वाश्रया होने में यदि कोई सन्देह करे कि इस ब्रह्माण्ड को आश्रय देने में जितना परिमाण आवश्यक है तुम्हारी सीमा केवल उतनी ही समझते हैं; उस आशंका को दूर करने के लिये कहा है—यह विशाल ब्रह्माण्ड तुम्हारे अति अल्प अंश से ही प्रकाशित हो रहा है। और अधिकांश स्वयं प्रकाश-नित्यपूर्ण अपरिच्छिन्न स्वरूप है। तुमने स्वयं कहा है-"विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्" (गी० १०।४२) यह जगत् जब तुम्हारा अंश है, तब तुम अंशी हो, इसमें

कहना ही क्या। इसी से तुम सर्वाश्रया हो।

"अव्याकृता हि परमा प्रकृतिस्त्वमाद्या"—इस प्रत्यक्ष जगत् की चञ्चलता और नियत परिणाम देख कर हमारे मन में आशंका हो सकती है कि इस जगत् अंश में तुम भी चञ्चला और परिणामिनी हो; इसी से देवताओं ने स्तुति करते समय तुमको अव्याकृता परमा आद्या प्रकृति कहा है। मा! तुमने ऐसे अनेक नामों से, अनेक रूपों से व्याकृत (विशेष रूप से आकार प्राप्त) होकर भी अपना अव्याकृतत्व अखण्ड रक्खा है। बर्फ का टुकड़ा बन जाने पर भी जल के परमाणुओं में कुछ विकार नहीं होता। वस्त्र रूप में व्याकृत होने पर भी रुईपन अव्याकृत ही रहता है। वन्हि रेखा रूप से प्रतीत होने पर भी लकड़ी के सिरे पर जली हुई अग्नि बिन्दु में कुछ विकार नहीं होता। बोध वस्तु कितनी ही व्याकृत क्यों न हो, किसी अवस्था में उसके बोधत्व में बिन्दुमात्र भी विकार नहीं होता। इसी से तुम जगत् रूप से व्याकृत होकर भी स्वरूपतः अव्याकृत ही रहती हो। अतएव तुम निर्विकार नित्य स्थिर हो। किसी तरह की चञ्चलता अथवा परिणाम तुममें नहीं है। "जायते अस्ति वर्द्धते" आदि षड्भाव विकार तुम्हारे ऊपर से चले जाते हैं; किन्तु तुम सदा अव्याकृता हो। केवल चित् शक्ति रूपिणी होने से ही, ये अत्यन्त विरुद्ध घटनायें तुम में हो सकती हैं। इसी से तुम परमा आद्या प्रकृति हो। सांख्य जिसको पुरुष कहते हैं, वेदान्त जिनको ब्रह्म कहता है, उपनिषद् जिनको आत्मा कहते हैं, भक्तिशास्त्र, जिनको भगवान कहते हैं, वह यही आद्या परमा प्रकृति है। और त्रिगुणात्मिका जो प्रकृति जगत् रूप से परिणाम को प्राप्त है, वह अनाद्या है। मा! विशुद्ध बोध स्वरूपा परमा प्रकृति तुम जब ज्ञाताज्ञेयज्ञान रूप त्रिपुटी .... प्रकृति रूप से प्रकाशित

हो, तब भी स्वरूपतः तुम अव्याकृत ही रह जाती हो। अतएव तुम्हारा प्रभाव यथार्थ ही अचिन्तनीय है। यथार्थ ही तुम अघटनघटनपटीयसी चिन्मयी जननी हो।

यस्याः समस्तसुरता समुदीरणेन
तृप्तिं प्रयाति सकलेषु मखेषु देवि।
स्वाहासि वै पितृगणस्य च तृप्तिहेतु-
रुच्चार्य्य सेत्वमत एव जनैः स्वधा च॥ ७॥

अनुवाद। हे देवि सर्व प्रकार यज्ञ में देवतागण जिनके उच्चारण से तृप्त होते हैं, वह स्वाहा मन्त्र तुम हो। फिर पित्रों की तृप्ति के लिये तुम ही स्वधा मन्त्र रूप से लोगों के द्वारा उच्चारित होती हो (प्रथम खण्ड के "त्वं स्वाहा त्वं स्वधा") मन्त्र की व्याख्या देखिये।

व्याख्या। मा! जगत् में जो यथाशास्त्र दैव और पैत्र कार्य का अनुष्ठान करते हैं, वे इस दुःख सुलभ संसार-अरण्य में निवास करके भी सुख शान्ति से समय व्यतीत करते हुए परम श्रेयो लाभ कर सकते हैं। इसी से गीता में तुमने कहा है— "हे जीव! तुम यज्ञादि द्वारा देवताओं की पुष्टि का विधान करो और देवता भी अन्नादि रूप से तुम्हें पुष्ट करें। इस तरह आपस में एक दूसरे की मङ्गल चिन्ता में नियुक्त रहकर, तुम परम श्रेय प्राप्त करने योग्य होगे। जो देवताओं को यज्ञ भाग अर्पण न करके स्वयं भोग करते हैं, वे चोर या पापान्न भोजी हैं इत्यादि"। सत्य ही मा! हमारी इन्द्रियां द्वारा लाये हुए रूप रसादि विषय सामग्री यदि इन्द्रियाधिष्ठित चैतन्य रूपी देवताओं के उद्देश्य से अर्पित न हो, तो हवि के न मिलने से अर्थात् ठीक ठीक अभ्यास के अभाव से देवता दुर्बल हो जायें, उन उन विशिष्ट चैतन्य की विकाश शक्ति क्षीणता को प्राप्त हो। और उसी के फल से

रोग, शोक, अकाल, मृत्यु आदि घटनायें होती हैं। विशेष बात यह है कि अज्ञान का आवरण दूर नहीं होता। दैव और पैतृ कार्य में इतना गूढ़ रहस्य छिपा है, उसे आधुनिक वैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं। यह जो मा तुम्हारे महत्त्व की इतनी आलोचना करके भी तुम्हारी धारणा नहीं कर सकते, इसका हेतु भी उन देवताओं की शक्ति हीनता है। सदा इन्द्रिय द्वार से विषय आहरण करते हैं, अन्तःकरण की सहायता से विषय भोगते हैं, जिस देव शक्ति की सहायता से ये भोग सिद्ध होते हैं; कोई उनके उद्देश्य से कभी तो विषयरूप हविः अर्पण नहीं करते। इसी से हमारी इन्द्रिय शक्ति शिथिल, मन बुद्धि चित्तादि की सामर्थ्य अति अल्प है। कुछ सूक्ष्म विषय चिन्ता अथवा धारणा करने की सामर्थ्य नहीं। कुछ अतीन्द्रिय पदार्थ की धारणा करने को, हमारा चित्त अथवा बुद्धि असमर्थता प्रकट करते हैं। इसका एकमात्र हेतु हमने उन्हें ठीक ठीक तरह से पुष्ट नहीं किया है।

स्वाहा अर्थात् देव कार्य्य द्वारा और स्वधा अर्थात् पितृकार्य श्राद्ध तर्पणादि द्वारा हमारे अन्तःकरण और बाह्यकरण के अधिष्ठात्री देवता पुष्ट और प्रसन्न होते हैं और उन्हीं के फल से दुर्विज्ञेया मा तुम भी विज्ञात–प्रकाशित होती हो। इसके सिवाय और भी एक तत्त्व है—प्रत्येक देवता की पृथक् पृथक् भाव से तृप्ति करने की चेष्टा न कर, यदि केवल प्राण रूपिणी मा तुम्हारे उद्देश्य से सब स्वाहा स्वधा अर्पण किया जाय, इन्द्रियों के द्वारा लाये हुए विषय रूप हविः सम्भार की यदि महाप्राण रूपिणी मातृ-अग्नि में आहुति दी जाय, तो देवताओं को अपार तृप्ति होती है और उसके फल से इन्द्रियाधिष्ठित चेतन वर्ग परिपुष्ट होता है। वृक्ष के मूल में जल सींचने से, रस प्रवाह द्वारा शाखा, डाली पत्ते फूल फल सब ही पुष्ट होते हैं।

उत्तमाङ्ग (शिर) पर शीतल स्निग्ध जल धारा वर्षाने से सब अवयव स्निग्ध शीतल होते हैं। मा ! तुम्हारी तृप्ति होने से सबकी तृप्ति हो जाती है। "तस्मिन् तुष्टे जगत्तुष्टं प्रीणिते प्रीणितंजगत्" तुम्हारी तृप्ति होने से त्रिजगत्–देवलोक पितृलोक सब ही तृप्त हो जाते हैं।

मा। तुम नित्य तृप्ता हो, फिर तुम्हारा तृप्ति विधान क्या? हम सदा कुछ अतृप्तिभोग करते हैं, इसी से तुममें भी तृप्ति का अभाव कल्पना कर नित्य तृप्ता तुम्हारा तृप्ति विधान करने को अग्रसर होते हैं। और तुम भी तो मा अतृप्ता की तरह हमारे द्वार पर आकर सदा कहती हो–"पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः"। मानो तुम हमारे दिये फल फूल पत्तों की भिखारिन हो। उनके पाये बिना तुम तृप्त नहीं होतीं। इसी से तुमने कहा है–"अरे मुग्ध सन्तान ! दे, अर्पण कर, जो हो सके–कम से कम थोड़ा जल (जीवन) ही दे, मैं वही आदर से आहार करूं। वस्तु की ओर, परिमाण की ओर लक्ष्य मत रख, केवल भक्ति पूर्वक देने की चेष्टा कर; उसी से मेरी पूर्ण तृप्ति होगी।" अरे विचारने पर भी दिल कांप जाता है—एक दिन तुम त्वद्गत प्राणा द्रौपदी से एक कण शाकान्न मांगकर परितृप्त हुए थे। मा ! तेरे प्राण में इतनी दया ! हमारे दिल में भरी अतृप्ति दूर करने के लिये तुमको भी अतृप्ता होना पड़ता है। अन्नपूर्णा नित्यतृप्ता हमारी मा ! तुम हमारी अतृप्ति दूर करने के लिये स्वयं अतृप्त मूर्ति से प्रकटित होकर जीव के द्वार द्वार पर भिक्षा करो ! धन्य हैं वे जीव।

मनुष्य को वैध कार्य–दैव पैत्र कार्य में तुम ही नियुक्त कराओ हो। उद्देश्य–कुछ दिन इस तरह स्वाहा स्वधा के अनुष्ठान से तुम्हारी तृप्ति का विधान करने का प्रयास कर सकने से ही

मनुष्य किसी दिन शुभ मुहूर्त में तुम्हारे मुख की ओर चाह करेंगे तब ठीक ठीक समझ सकेंगे कि तुम नित्यतृप्ता, नित्यस्थिरा, निर्विकल्पा मा हो ! तब धीरे धीरे कर्म सन्यास का अधिकार आवेगा। जीव नैष्कर्म्म प्राप्त करेंगे। यही तो मा तुम्हारे देव और पितृ कार्य का यथार्थ स्वरूप है।

या मुक्तिहेतुरविचिन्त्यमहाव्रता च—
अभ्यस्यसे सु नियतेन्द्रियतत्त्वसारैः।
मोक्षार्थिभिर्मुनिभिरस्त समस्त दोषै—
र्विद्यासि सा भगवती परमा हि देवी ॥ ८ ॥

अनुवाद। जिनकी इन्द्रियां सुसंयत हैं, जिन्होंने एकमात्र परम तत्त्व को ही सार रूप समझा है, ऐसे मोक्षार्थी मुनि मुक्ति-हेतु भूता अचिन्तनीया महाव्रत स्वरूपा जिनका अभ्यास अर्थात् ध्यान करते हैं; हे देवि ! वह भगवती परमाविद्या रूपिणी तुम हो।

व्याख्या। मा ! पूर्वोक्त रूप दैव पैत्र कार्य्य का अनुष्ठान करते करते जब आत्मतृप्ति आजाती है, अर्थात् मा की तृप्ति को पहचान लेते हैं, तब जीव की इन्द्रियां सुसंयत होती हैं—फिर विषय के लोभ में नहीं दौड़तीं। उस अवस्था में केवल आत्मा ही परमतत्त्व बोध होता रहता है; अतएव जीव आत्मा को पाने या मुक्ति की आशा में जाग्रत होता है। इसी का नाम मुमुक्षु अवस्था है। तब केवल आत्मा की ओर ही लक्ष्य स्थिर रहने से वाग् यन्त्र रुक कर—मौनावलम्बन करता—मुनि होता है। ऐसा मुनि होने से ही मल, विक्षेप और आवरणादि दोष क्षीण होते रहते हैं। उस समय वे मननशील मुनिजन जिनका अभ्यास अर्थात् निदिध्यासन करते हैं, वह तुम हो, अजी वही तुम हो।

इस अभ्यास का स्वरूप क्या है ? "अभि अभ्यसे" । असु निक्षेपे । अस् धातु का अर्थ निक्षेप है । उपनिषद् कहते हैं— "प्रणव धनु पर जीवात्म बोध रूप बाण चढ़ा कर ब्रह्म के उद्देश्य से अप्रमत्तभाव से बार बार बाण छोड़ो ।" "यही अभ्यस्यसे" कहने का यथार्थ तात्पर्य्य है । कोई कार्य्य बार बार अनुष्ठान करने का नाम अभ्यास है । यहाँ भी ब्रह्म के उद्देश्य से बार बार जीवात्म शर छोड़ने को ही "अभ्यास" कहा है । इसे निदिध्यासन या ध्यान कहने में भी कुछ हानि नहीं है ।

मा ! जीव जब इस तरह अभ्यास तत्पर होता है, तब ही तुम अचिन्तनीय महाव्रत स्वरूप में अपना प्रकाश करती हो कारण "अभ्यास" रूप महाव्रत यथार्थ ही अचिन्तनीय है । जीव जब बुद्धि के परपार अवस्थित अवाङ् मनसगोचर परमात्मस्वरूप का आभास पाता रहता है, तब ही उसके उद्देश्य से जीवात्म बोध रूप शर छोड़ सकता है । अतएव इस व्रत का स्वरूप भाषा में व्यक्त करने की चेष्टा करने पर भी, वह वास्तव में अचिन्तनीय है । लिखने, बोलने, अथवा विचार करने से उसका यथार्थ स्वरूप अनुभव नहीं होता । क्योंकि जिसके उद्देश्य से शर-बाण छोंड़ा जाय वह "भावातीतं निरञ्जनम्" है । और ऐसा अभ्यास व्रत ही महाव्रत है, यह भी स्थिर सिद्धान्त है । क्योंकि इस व्रत का अनुष्ठान ही चरम अनुष्ठान है, इसके बाद फिर व्रत और अनुष्ठान कुछ न रहेगा । यही मुक्ति का हेतु है ।

नोटः—पाँचों यम नियम साधन में देश जाति आदि का विचार न होने से ये सार्वभौम महाव्रत हैं । (योग द० २।३१)॥

मा ! इस मुक्ति हेतु भूता अचिन्त्य महाव्रत स्वरूपा जो तुम हो, तुम्हारा और एक नाम है—विद्या । "विद्या यया तदक्षरमधिगम्यते" । जिसके द्वारा अक्षर परमात्म स्वरूप प्राप्त हो, वही

विद्या है। सब कर्म, अनुष्ठान भी गौणभाव से परमात्मा को पाने में हेतु हैं, इसी से उनको अविद्या या विद्या का स्वल्प-प्रकाश कहा गया है किन्तु यह अभ्यास रूप जो महाव्रत है, वह साक्षात् मुक्ति का हेतु होने से, इसको परमाविद्या कहा जाता है। हे देवि! हे मा! तुम ही तो भगवती–भगवत् शक्ति स्वरूपा परमाविद्या रूप से अपना प्रकाश करके, जीव का अज्ञान कल्पित बन्धन भय सदा के लिये दूर कर देती हो। मा! विद्या भी तुम; अविद्या भी तुम; बन्धन भी तुम; मुक्ति भी तुम। और बन्धन मुक्ति के अतीत भी तुम।

मा! कब तक इन दीन सन्तानों के हृदय में, इस तरह भगवती विद्या स्वरूप से आविर्भूत होकर अज्ञान–अन्धकार दूर कर दोगी? कितने दिन में मा तुम विद्या मूर्ति से हमको गोद में लेकर अविश्रान्त ज्ञानामृत धारा पान कराओगी! अभी हम कब तक तुम्हारी अविद्या मूर्ति की गोद में बैठे होने पर भी तुमको न देख कर विषय की ओर ही देखते रहेंगे? हम तेरी अविद्या मूर्ति की गोद में रहते हैं, तो भी हमारी इन्द्रियां संयत नहीं हैं; इसी से तुम्हारी इस महाव्रत स्वरूपा मूर्ति का आभास भी नहीं पाते। मा! कब तक हमारा कातर आह्वान तुम्हारे कानों तक न पहुंचेगा?

शब्दात्मिका सुविमलर्ग्यजुषां निधान-
मुद्गीथरम्यपदपाठवताञ्च साम्नाम्।
देवी त्रयी भगवती भव भावनाय-
वार्ता च सर्व जगतां परमार्तिहन्त्री॥ ९॥

अनुवाद। मा! तुम शब्द रूपा हो। अतएव तुम ही अत्यन्त निर्मल ऋक् यजु, एवं उच्च स्वर से गाये हुए रमणीय पदपाठ समन्वित सामवेद के एकमात्र निधान हो। इस संसार

की स्थिति रखने के लिये तुम ही देवी भगवतीत्रयी मूर्ति से विराजती हो। फिर वार्ता अर्थात् जीविका रूप में भी तुम ही सब जगत् की आर्ति हरण करती हो। इसी से मा तुम परमा श्रेष्ठा हो।

व्याख्या। मा! देवताओं ने तुम्हारा स्तव करने से पूर्व तुम्हारा मुक्ति के हेतु भूत पराविद्या रूप से दर्शन किया था। अब उस पराविद्या की साधन भूता अपराविद्या भी एकमात्र तुम हो, अर्थात् ऋक् यजुः आदि वेद विद्या रूप से भी तुम ही प्रकटित हो, यह प्रकट करते हुए, प्रथम ही बोले—"शब्दात्मिका"। मा तुम—शब्द स्वरूपा हो। परा, पश्यन्ति, मध्यमा और वैखरी वाणी रूप से तुम ही प्रति जीव में अपना प्रकाश कर रही हो। प्रणव ही आदिम वाणी वा मूलनाद है। विभिन्न देश काल और पात्र संयोग से, वह एक ही नाद, बहुधा विभिन्न रूप से सुनाई दे रहा है। वेद उस प्रणव के ही विशेष विशेष प्रकाश मात्र हैं। महर्षि जैमिनि ने कहा है—'तेषामृक यत्रार्थवशेन पाद व्यवस्थितिः। गीतिषु सामाख्या। शेषे यजुः शब्द इति ॥" जिनका सहज में अर्थ बोध हो, ऐसे सुविन्यस्त भाव से जिन मन्त्रों की पद व्यवस्था है, उसका नाम—ऋक् है। जो सङ्गीत रूप से रमणीय सुर तान सहित ऊँचे सुर से गान किया जाय, उसका नाम उद्गीथ साम है। इनसे जो अवशिष्ट है—जिसमें गान अथवा पद व्यवस्था नहीं है, अर्थात जो प्राय: गद्य की तरह उच्चारित होता है, उसको यजुः कहते हैं। यही मा! तुम्हारी त्रयी मूर्ति है। अथर्ववेद और शिक्षा कल्प व्याकरणादि वेदाङ्ग उस त्रयी के अन्तर्गत हैं। वेद त्रिगुणात्मक होने से उनका नाम त्रयी है। ज्ञान भक्ति और कर्म्म रूप त्रिविध भाव के प्रकाशक होने से अपराविद्या को त्रयी कहा गया है। भगवान् ने भी कहा है—"त्रैगुण्य विषया वेदाः"। उपनिषद्

अर्थात् वेदान्त में यद्यपि गुणातीत स्वरूप का उपदेश है, तथापि वे भी त्रयी के अन्तर्गत हैं; क्योंकि ब्रह्मविद्या का उपदेश, आत्मा का महत्त्व वर्णन आत्मा का स्वरूप निर्णय, ये सब जब तक रहें, तब तक भी वह निगुर्ण के अन्तर्गत ही हैं।

अस्तु "भवभावनाय" अर्थात् लोक स्थिति के लिये ही मा! तुम्हारी इस त्रयी मूर्ति का विकाश है। जीव जिससे उन्मार्गगामी न हों, उच्छृङ्खल गति पर न चल कर संयत (मर्यादा में) रहें। इसके लिये तुम सब देशों में शास्त्रोपदेश रूप से, वेद विधि रूप से, त्रयी मूर्ति से विराज रही हो। मा! तुम्हारी महिमा भी अचिन्तनीय है। तुम्हारी यह त्रयीमूर्ति भी भगवती—अनन्त ऐश्वर्य्यमयी है। जो ईश्वर शक्ति केवल शास्त्रोपदेश रूप से सारे ब्रह्माण्ड की गति को संयत कर रख सकती है, उसे भगवती के सिवाय और क्या कहा जा सकता है?

फिर आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाता है कि जब तक किसी मन्त्र (शब्द) की सहायता से आत्मानुभूति प्राप्त करते हैं, तब तक उसका नाम होता है ऋक्। श्रुति ने भी वाक् को ही ऋक् कहा है। क्रम से वह अनुभूति जब कुछ विशेष भाव से प्रकाश पाती है, सर्व शरीर व्यापी कुछ आनन्दमय बोध का उच्छ्वास बहता रहता है, तब वह ऋक् ही यजुः रूप में परिणत होता है। उस अवस्था में फिर मन्त्रादि का छन्दोबद्ध रूप में उच्चारण नहीं होता, अर्थात् छन्दः यति आदि विषय पर विशेष लक्ष्य नहीं रहता, सुर-हीन, तान-हीन कुछ शब्द मात्र उच्चारित होते रहते हैं। उस अवस्था का नाम यजुः है। क्रम से जब भाव राज्य पर अधिकार हो जाय, उच्छ्वास घट जाय, प्रशान्त भाव से अनुभूति प्रकाश पाती रहे, तब धीरे-शान्त भाव से, सुर तान की सहायता से शब्द उच्चारित होते रहें। इसी का नाम साम है। कुछ धीर भाव से लक्ष्य करने पर दैनिक उपासना

में भी इस त्रयीमूर्ति का विकाश देखा पाया जाता है। कीर्तनादि में भी अनेक स्थलों में उस त्रयी का विकाश विशेष भाव से देखा जाता है। केवल कीर्तन ही क्यों, सब देशों और सब सम्प्रदायों की उपासना में भी नादमयी महती शक्ति की इस त्रयीमूर्ति का अभूतपूर्व विकाश चक्षुष्मान व्यक्ति के निकट प्रकाशित होता है। (चक्षुष्मान=जिनकी दिव्यदृष्टि खुलगई है)

ऋग यजुः साम ये वेद हैं। वेद या अनुभूति का नाम ही वेद है। अन्तर में जो आत्मानुभूति प्राप्त हो, वह अनुभूति जब शब्द के आकार से बाहिर प्रकाश पावे, तब ही उसे वेद कहते हैं। वह सत्य स्वरूप आत्म सम्वेदन से आवे, उसी का नाम वेद है। वह किसी मनुष्य के मस्तिष्क धर्म से उत्पन्न कुछ शब्द विन्यास नहीं है। वह सत्यानुभूति या अभ्रान्त वेदन से आविर्भूत हैं, इसी लिये वेद को अपौरुषेय कहा है। यह थोड़ा बहुत सब देशों में है।

मा! केवल त्रयी मूर्ति से—केवल शास्त्र विधान रूप से-ज्ञान विज्ञान रूप से ही संसार का विधान रखती हो सो नहीं; बल्कि वार्ता रूप से भी जगत की आर्ति-सब दुःख दूर करती हो। वार्त्ता-जीविका। स्थूल देह रक्षा के उपयोगी जीविका रूप से-आहार रूप से सब देशों में, सब जीवों में, सर्वकाल में तुम विराजती हो। मा! तुम ही हमारी वार्ता हो, तुम ही हमारी जीविका हो; इस सत्यज्ञान से गिर जाने ही के कारण तो आज हम पर यह जीवन सङ्कटकाल उपस्थित हुआ है। किस तरह जीविका निर्वाह हो, इस चिन्ता में देशवासी आज व्याकुल हो रहे हैं। मा! जिन्होंने जीविका रूप से भी तुम्हारी अव्यय मूर्ति का विकाश देख लिया है उन्हें कभी जीविका का कष्ट अभाव नहीं होता—वे कभी जीविका के अभाव से कष्ट नहीं पाते, यह बात कब इस देश के लोग फिर मर्म मर्म में अनुभव

करेंगे ? कब इस देश के लोग जीविका के लिये झूंठ-ठगी दूसरों के चरण चुम्बन आदि नीच कर्म से निवृत होकर जीविका रूपिणी तुमको मा समझ कर आदर करेंगे और अन्न चिन्ता से परित्राण पावेंगे ? परन्तु वह दूसरी बात है।

महाभारत में वार्ता शब्द का अर्थ दूसरी तरह देखा जाता है, एक दिन छलवेशी धर्म ने महाराजा युधिष्ठिर से जिज्ञासा की थी:—वार्ता क्या है ? इसके उत्तर में कहा था—"मासर्तुदर्व्वीपरिवर्त्तनेन, सूर्य्याग्निना रात्रि दिवेन्धनेन। अस्मिन् महामोहमये कटाहे भूतानिकालः पचतीति वार्ता"। मास ऋतु अर्थात् काल के कल्पित परिच्छेद रूप दर्वी (करछुली) परिवर्तन करके, सूर्य रूपी अग्नि द्वारा, दिन रात रूपी इन्धन की सहायता से, इस महा मोहमय संसार रूप कटाह में, भूतों को स्वयं काल पकाता है। यही वार्ता है। मा ! तुम काल रूप से सदा इस भूत संघ को पकाती हो। जन्म स्थिति लय ("जायते अस्ति वर्द्धते") आदि षड्भाव परिणाम के आकार से प्रति जीव में तुम ही वार्ता रूप से अपना प्रकाश कर रही हो। जीविका उन षड्भाव विकारों के ही अन्तर्मुक्त है। मा ! जो तुम्हारी इस सदा प्रकाशमान वार्ता मूर्ति पर लक्ष्य रखकर भक्ति पुष्पाञ्जलि अर्पण करते हैं, वे कभी तुम्हारे इस सदा परिवर्तनशील मूर्ति पर मुग्ध नहीं होते। फिर उन्हें जीविका के लिये कोई चिन्ता भी नहीं रहती। तब तुम स्वयं योग क्षेम वहन कारिणी स्नेहमयी मातृ मूर्ति से प्रकाशित होकर, उन्हें गोद में धारण कर बैठती हो। तब उनकी दृष्टि प्रधान भाव से तुम्हारी उस परम स्नेहमय एक अखण्ड सत्ता की ओर ही लगी रहती है। अतएव अवश्यम्भावी सब परिवर्तन, उनके ऊपर से प्रायः अज्ञात स्तर में ही चले जाते हैं।

मा ! धन्य तुम्हारा स्नेह ! जब तक हम संसार स्थिति को

ही परम पुरुषार्थ रूप मानते रहेंगे, तब तक तुम अपना वह अव्यय स्वरूप गुप्त रखकर हममें वार्ता रूप से ही अपना प्रकाश करोगी। हम भी तब तक जीविका के लिये विषयों के द्वार पर भिक्षुक की तरह उपस्थित होते रहेंगे। फिर जब इस संसार स्थिति को ही यथार्थ कष्टकर समझ सकेंगे, वार्ता रूप में भी तुम्हारे सिवाय और कोई नहीं है, यह जब अनुभव हो जायगा, तब ही हमारी जीविका की चिन्ता बिलकुल दूर हो जायगी; और फिर तुम भी मा, सर्वनाशी मूर्ति से आविर्भूत होकर हमारे सब भावों को विनष्ट कर, एका अद्वितीया मूर्ति से-आर्ति हरा स्वरूप से अपना प्रकाश करोगी। मा! तब ही तुम्हारा 'परमा' नाम सार्थक होगा। तुम यथार्थ ही श्रेष्ठा हो, तुम सचमुच पर अर्थात् सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मादि की भी 'मा' हो, तब ही उसे समझ सकेंगे। मा! जब तक तुम इस तरह आर्ति हन्त्री मूर्ति से खड़ी न होगी, तब तक हम किसी तरह इस आर्ति के हाथ से न छूट सकेंगे। इसी से मा कातर होकर प्रार्थना करते हैं-एक बार दुःख हन्त्री मूर्ति से सन्तान के हृदय में आविर्भूत हो! यह दुःख से तपता हुआ वक्ष शीतल हो। अजी तुम मा हो, आर्ति हन्त्री परमा हो, तुम परमार्ति हन्त्री परम दुःख नाशिनी मा हो ॥ ९ ॥

मेधासि देवि विदिताखिलशास्त्रसारा
दुर्गासि दुर्गभवसागर नौरसङ्गा ।
श्रीः कैटभारिहृदयैक कृताधि वासा
गौरी त्वमेव शशिमौलिकृतप्रतिष्ठा ॥ १० ॥

अनुवाद। हे देवि! तुम सब शास्त्रों का अर्थ धारण करने वाली मेधा हो। तुम दुर्गा, तुम ही दुस्तर भवसागर में असङ्ग तरणी-नाव हो। कैटभारि (विष्णु) के हृदय विहारिणी

कमला, और चन्द्रशेखर (शिव). के अङ्क विहारिणी गौरी भी तुम हो।

व्याख्या। मा ! पूर्व कहा है-वेद रूपिणी तुम हो। अब देखते हैं-वेदार्थ धारणावती धी वा मेधा रूप में भी तुम हो। तुम ही ने मेधा रूपिणी होकर सब शास्त्रार्थ ज्ञान धारण कर रक्खा है, इसी से आशा है-किसी न किसी दिन हम तुमको अवश्य ही पावेंगे—समझ सकेंगे। हम जो कुछ सीखते, इन्द्रियों की सहायता से जो कुछ ग्रहण करते हैं, यदि एक एक मृत्यु के साथ उन सब को भूल जाते तो फिर कभी हमारा यह बन्धन दूर नहीं होता। किन्तु मा ! तुमने मेधा रूप से हमारा वह बिन्दु बिन्दु ज्ञान धारण कर रक्खा है; इसी से प्रति जन्म में हमारा ज्ञान भी बढ़ता बढ़ता रहता है। एक जीवन में हम जो ज्ञान सञ्चय करते हैं, अगले जन्म में फिर ठीक वही ज्ञान सञ्चय करने के लिये विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता। जिस शक्ति के अभाव से हमारा यह अनेक जन्म सञ्चित ज्ञान राशि जमा रहती है, वही—मेधा है।

इस मेधा की चरम अवस्था वा श्रेष्ठ स्वरूप "मैं ब्रह्म हूँ" ऐसी स्मृति है। आचार्य शङ्कर ने भी कहा है—"ब्रह्माहमस्मि इति स्मृति रेव मेधा" किसी दिन हमारे हृदय में इस मेधा रूप से तुम खिल उठोगी, तब हम "मैं ब्रह्म हूँ" इस स्मृति में जागृति होकर जीवत्व का दृढ़ बन्धन दूर फेंककर आत्मस्वरूप पर प्रतिष्ठित होंगे। तुम मेधा रूप से अपना प्रकाश करती हो तब ही हम तुम्हें वा अपने आपको पहचान सकते हैं। यही अखिल शास्त्र का सार, सब शास्त्रों का सार मर्म्म—आत्मस्वरूप का ज्ञान है। मैं कौन हूं? इसे समझ सकने से ही सब शास्त्रों की आवश्यकता दूर हो जाती है। मा ! वही तुम्हारा विदिता स्वरूप है। जब जीव अपना स्वरूप समझ सकता है, तब ही तुम "विदिता" मूर्ति से

आविर्भूत हो। तुम्हारे इस विदिता स्वरूप को लक्ष्य करके ही, सब शास्त्रार्थ का रहस्य व्याख्यात हुआ है। आपात दृष्टि से शास्त्रों के वाक्य आपस में विरुद्ध अवश्य प्रतीत होते हैं, किन्तु मा, जब तुम विदिता स्वरूप से जीव-हृदय में अपना प्रकाश करती हो तब फिर शास्त्र वाक्यों का यह परस्पर अत्यन्त विरुद्ध भाव नहीं रहता। सब शास्त्र उस एक की प्रतिध्वनि करते हैं, यह खूब स्पष्ट भाव से समझा जा सकता है।

महाभारत में कहा है—"वेदाः विभिन्नाः स्मृतयोर्विभिन्नाः नासौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्। धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः।" यद्यपि यह श्लोक शास्त्र भेद और मत भेद के पक्ष में परिपोषक प्रमाण रूप से ग्रहण किया जाता है; तथापि हमने उसका जैसा अर्थ समझा है, यहाँ उसका उल्लेख भी अप्रासङ्गिक न होगा। इस श्लोक के दूसरे पाद का प्रथम "न" कार प्रथम पाद के साथ अन्वय करने से उसका अर्थ दूसरा ही हो जाता है। जैसा—वेद विभिन्न नहीं हैं, स्मृतियां विभिन्न नहीं हैं, अर्थात् सब ही एकार्थ लक्ष्य पर अभिव्यक्त हैं। वे ही यथार्थ मुनि हैं जिनके मत विभिन्न नहीं हैं "मन्तारो वेद तत्त्वार्थं गन्तारो मुनयः"। अर्थात् जो भेददर्शी नहीं हैं, वे ही मुनि पद वाच्य है। धर्म का तत्त्व गुहा में—हृदय में निहित है। (उपनिषद् के अनेक स्थानों में गुहा शब्द से हृदय को ही लक्ष्य किया है।) महाजन—साधु महापुरुष जिस मार्ग से गये हैं—जिस हृदय गुहा-मार्ग से चल कर आत्म-ज्ञान प्राप्त किया है, "स पन्था" वही यथार्थ मार्ग है। इस मार्ग पर चल सकने से ही, धर्म का तत्त्व ज्ञात हो जाता है।

अस्तु, कहा था—मा! तुम्हारा यह "विदिता" स्वरूप ही सब शास्त्रों का सार है। तुमको जानने के लिये ही सब शास्त्रों की अवतारणा है। किन्तु मा! जब तक तुम कृपा

करके स्वयं विदिता रूप से प्रकाशित न हो, तब तक कोई शास्त्र तुम्हें प्रकाश नहीं कर सकता। फिर जब तुम स्वयं विदिता होती हो, तब धान्य चावल को चाहने वाले मनुष्य के (तुष) पियार की नाईं, साधक को शास्त्रों की कुछ आवश्यकता नहीं रहती। मा! तुम उस विदिता स्वरूप से—बोध स्वरूप से प्रति जीव में ही सर्वदा प्रकाशमान रहती हो तो भी कोई तुमको सहसा समझ-बूझ नहीं सकता; इसी से तुम दुर्गा-दुर्ज्ञेया-दुरधिगम्या हो।

फिर दूसरी ओर देखते हैं—तुम मेधा रूप से हमारे अनेक जन्म सञ्चित ज्ञान राशि धारण कर रख सकने से ही, इस दुर्गम भव सागर में तुम ही एक मात्र तरणी हो। जीव मेधा-रूप से नौका पर आरोहण कर "ब्रह्माहमस्मि" जान कर अनायास इस दुर्गम भव सागर से पार हो जाते हैं। पार्थिव तरणी पर कर्णधार (मल्लाह) की आवश्यकता होती है। कर्णधार न रहे तो जगत् की नाव चल नहीं सकती; किन्तु मा, तुम हमारी असङ्गा तरणी हो। दूसरे किसी की भी सहायता आवश्यक नहीं। तरणी भी तुम, और चलाने वाली भी तुम। मेधा रूपिणी हमारी मा, सचमुच ही तुम असङ्गा-सङ्ग रहिता-निर्लिप्ता हो। यद्यपि हमारी बिन्दु-बिन्दु ज्ञान राशि मेधा रूप से धारण कर रक्खी है और परिच्छिन्न मलिन ज्ञान राशि को अनादि काल से वक्ष पर धारण कर रक्खा है, यद्यपि सत् असत् सब संस्कार ही मेधा रूपिणी तुम्हारे अङ्ग पर जड़ रहे हैं, तो भी उनके संस्पर्श में आकर तुम परिच्छिन्न वा मलिन नहीं होतीं। तुम जैसी नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वरूपा हमारी मा थीं, ठीक वैसी ही रहती हो। इतने बहुभाव वक्ष पर धारण करके भी तुमको बहुत्व के लेप बिलकुल स्पर्श नहीं करते; इसी से देवताओं ने तुम्हें "दुर्गे-भवसागर नौरसङ्गा" कह कर स्तुति की है।

मा ! तुम कैटभारि—बहुत्व विनाशकारी विष्णु के हृदय विहारिणी श्री हो फिर शशि मौलि चन्द्रशेखर महेश्वर की अर्द्धाङ्ग रूपिणी गौरी हो। विष्णुत्व और शिवत्व तुम्हारे ही विभिन्न प्रकाश मात्र हैं। इसी से देखते हैं—एक दिशा में तुम विष्णु और शिव की प्रसूति होकर भी दूसरी दिशा में वैष्णवी और शिवानी रूप से अपना प्रकाश कर रही हो। यह जो जगद्भाव, यह जो बहुत्व, यह जो हमारा जीवत्व है, इसे जो शक्ति—जो मेधा धारण कर रही है, वही वैष्णवी शक्ति या श्री है। फिर यह शक्ति, यह मेधा ही जब असङ्गा रूप से अपना प्रकाश करती है—फिर किसी भी भाव की धारण कर्त्री रूप से प्रकटित नहीं होती, तब ही सब भावों की संहारक शक्ति रूप से परिचित होती हो; अतएव तुम्हारा मेधा और विदिता स्वरूप ही मा हमारे निकट श्री और गौरी मूर्ति से प्रकट होता है।

ईषत् सहासममलं परिपूर्ण चन्द्र—
बिम्बानुकारि कनकोत्तम कान्तिकान्तम् ॥
अत्यद्भुतम् प्रहृतमात्तरुषा तथापि ।
वक्त्रं विलोक्य सहसा महिषासुरेण ॥११॥

अनुवाद। मा, तुम्हारी मन्द मुसकान, निर्म्मल पूर्ण चन्द्र की तरह मनोहर, उत्तम सुवर्ण की नाई कमनीय मुख कान्ति देख कर भी महिषासुर ने क्रोधवश होकर जो तुम पर प्रहार किया था यह वास्तव में अति अद्भुत है।

व्याख्या। जिनके श्री मुखमण्डल की कान्ति से त्रिजगत् मुग्ध हो रहा है, उनका यह लोकातीत सौन्दर्य प्रत्यक्ष कर के भी जो रजोगुण की बहिर्मुखी चञ्चलता है—फिर अत्यन्त अकिञ्चित कर रूप रसादि परिग्रह की वासना रहती है, यही आश्चर्य है। श्रुती "अ[illegible] चापरंनापरं मन्यतेनाधिकं ततः"

जिनको प्राप्त कर फिर किसी भी वस्तु के पाने की इच्छा नहीं जागती, उन्हें देख कर—प्रत्यक्ष कर, फिर चित्त किस तरह विषय लोलुप हो उसका ठीक विचार नहीं किया जा सकता। क्या यह वास्तव में अति अद्भुत नहीं है !

मा ! जगत् का सब सौन्दर्य एकत्र होने पर भी, तुम्हारे उस लोकातीत सौन्दर्य सिन्धु के बिन्दु बराबर भी नहीं होता। तथापि हम उसकी ओर लक्ष्य न कर के; जगत् के दुःख मिले हुए विषयों के सौन्दर्य पर ही आकृष्ट होते हैं। तुम्हारी उस अलौकिक सुषमा की बात भूल जाते हैं। क्षण स्थायी अकिञ्चित कर सौन्दर्य भोग की लालसा ने तुम्हारी सुषमा (उत्कृष्ट शोभा) को आच्छादित कर रक्खा है। इससे अधिक आश्चर्य का विषय और क्या है मा !

साधक ! आत्मस्वरूप कभी-कभी अनुभव योग्य होने पर भी रजोगुण की क्रियाशीलता बिलकुल तिरोहित नहीं हो जाती। इसी से बारम्बार उस अनुपम सुषमामय परमात्म स्वरूप को ढक कर विषयों की चञ्चलता आ जाती है। यही मा का अनुपम सौन्दर्य देख कर भी मा के अङ्ग पर महिषासुर का अस्त्र प्रहार है। जिस तरह चञ्चल जल में स्थित चन्द्रमा की परछाई स्पष्ट दिखाई नहीं देती, जिस तरह वायु के वेग से काली घटाओं की आड़ में स्थित सूर्य्य बिम्ब स्पष्ट दिखाई नहीं पड़ता, ठीक उसी तरह—रजोगुण की चंचलता से उत्पन्न चित्त की चंचलता मा के उस अतुल सौन्दर्य्य सम्भोग में विघ्न स्वरूप हो रही है। इस विघ्न का नाम ही महिषासुर का प्रहार है।

मा ! जिस वैषयिक सौन्दर्य्य पर मुग्ध होकर हम तुम्हारे इस लोकातीत सौन्दर्य्य की उपेक्षा करते हैं, उस विषय सुषमा रूप में भी तुम ही नित्य प्रकाशित होती हो, यह बात हम कब तक सर्वांश में अनुभव कर सकेंगे। मा ! इस जगत में जो

कुछ है, यह सब ही तुम्हारे सौन्दर्य से आच्छादित है, तुम्हारा ही रूप प्रत्येक पदार्थ के प्रति अवयव में प्रकाशित है, इस सत्यज्ञान से, इस सरल अनुभव से जब तक हमारे प्राण परिपूर्ण न होंगे, तब तक हम क्या यथार्थ ही तुम्हारे उस अतुलनीय सौन्दर्य का पता पा सकेंगे।

दृष्ट्वा तु देवि ! कुपितं भ्रुकुटी कराल !
मुद्यच्छशाङ्क सदृशच्छवि यन्न सद्यः ॥
प्राणान मुमोच महिषस्तदतीव चित्रं ।
कैर्जीव्यते हि कुपितान्तकदर्शनेन ॥१२॥

अनुवाद। हे देवि ! क्रोधवश भ्रुकुटी भीषण, होने पर भी उदय होते हुए पूर्ण चन्द्र की नाईं कमनीय, तुम्हारे मुखमण्डल का दर्शन कर, महिषासुर ने जो प्राण त्याग नहीं किये यह बड़े आश्चर्य की बात है। कुपित यमराज को देखकर कौन जीवित रह सकता है ?

व्याख्या। मा ! भौंहें, टेढ़ी कुपित मुखच्छवि देख कर महिषासुर ने जो प्राणत्याग नहीं किया यही आश्चर्य्य है। तुम्हारा जब कोप प्रकाश होता है—जब तुम प्रलयङ्करी मूर्ति से खड़ी होती हो, तब ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर तक अदृश्य हो जाते हैं, तब महिषासुर तो अति तुच्छ है। मा ! देवतागण तुम्हारी भ्रुकुटी कराल कुपित मुख का स्वरूप वर्णन करते समय कहते हैं—"उद्यत्-शशाङ्क सदृशच्छवि"। जब पूर्ण चन्द्र का उदय होता है, तब रात का अन्धकार जैसे अदृश्य हो जाता है, ठीक उसी तरह मा ! तुम्हारे प्रलय कराल मुख की छवि देख कर, अज्ञान अन्धकार और द्वैत भाव बिलकुल विलय हो जाते हैं, यही अबाधित नियम है। किन्तु इस क्षेत्र में हमें उससे विपरीत जान पड़ता है कि महिषासुर तुम्हारे कराल मुख की छवि

देखकर भी जीवित रहा, तुम्हारे साथ युद्ध किया, सिंह, हाथी, अर्द्धनिष्क्रान्त पुरुष, आदि अनेक मूर्त्तियों से तुम पर आक्रमण करने लगा, यह अवश्य ही विस्मय की बात है। क्यों ऐसा हुआ ?

मा ! तुमने जो अम्बिका मूर्त्ति से कोप प्रकाश किया था—"कोपं चक्रे ततोऽम्बिका"। अम्बिका मूर्त्ति-मातृ-मूर्त्ति। मा का भ्रुकुटी कराल मुख सन्तान को डरपा तो अवश्य सकता है किन्तु विनष्ट नहीं कर सकता। मा ! तुमने आप ही तो मधुपान करने के लिये महिषासुर को गर्जने का अवसर दिया था। इसी से वह तुरन्त मरा नहीं, युद्ध करके मरा है। मा ! हम जिसको अत्यन्त असम्भव घटना समझते हैं, अघटन घटन पटीयसी तुम्हारी इच्छा से, वह अति सहज भाव में संघटित हो जाती है। यह हम थोड़ा विचार करने पर रोज के जीवन में ही लक्ष्य कर सकते हैं। तो भी तुम्हारी सर्व शक्ति मत्ता के सर्वमय अखण्ड कर्तृत्व पर विश्वास करके आत्म-समर्पण नहीं कर सकते, अहं कर्तृत्व के मिथ्या अभिमान को तुम्हारे चरणों में अर्पण करके चिन्ताओं के भार से नहीं छूट सकते, यही तो हमारा दुर्भाग्य है।

मा, महिषासुर के वध-कार्य में तुम्हारे इस स्वाभाविक नियम से अन्यथा देखकर देवता बोले—"कैर्जीव्यते हि कुपितान्तक दर्शनेन" प्रकुपित यमराज के दर्शन करने पर कौन जीवित रह सकता है ? सचमुच मा कुपित अन्तक को देखने पर कोई नहीं बचता, किन्तु कुपिता मा को देख कर सन्तान क्यों न बचेगी ? जब तक तुम स्वयं अन्तकारिणी रूप से अपना पूर्ण प्रकाश न करो तब तक तुम्हारे भ्रुकुटी कराल कुपित मुख मण्डल से भी मातृत्व का गौरवमय स्नेहपूर्ण करुण दृष्टि प्रकाशित होता रहता है, [illegible]

विकाश होता है; इसी से तो महिषासुर ने तुरन्त मृत्युमुख में न पड़कर युद्ध करके तुम्हें मधुपान का सुयोग दिया था। धन्य मा तुम्हारी अनिर्वचनीय लीला। जब-तुम हमारे मुख से मा शब्द सुनने के लिये उत्कण्ठित हो रही हो, जब देखते हैं कि हमारे मुख से मा शब्द सुनकर तुम्हारा हृदय सचमुच मातृ गौरव से फूल उठता है, तब हमारा दुःख दीन हृदय भी पुत्रत्व के अपूर्व गौरव से फूलने लगता है। मा! तुम हमको यह गौरव अनुभव करने का सुयोग प्रदान करो ॥ १२ ॥

देवि ! प्रसीद परमा भवती भवाय
सद्यो विनाशयसि कोपवती कुलानि ।
विज्ञात मेतदधुनैव यदस्तमेत—
न्नीतं बलं सुविपुलं महिषासुरस्य ॥ १३ ॥

अनुवाद। देवि! प्रसन्न हो। तुम श्रेष्ठा-पूजनीया हो तुम्हारी प्रसन्नता ही में हमारा मङ्गल है। तुम्हारे कुपित होने से सब कुछ शीघ्र ही विनाश हो जाता है। इसे हम इतना ही समझ सके हैं। क्योंकि महिषासुर की यह विपुल वाहिनी-सेना एक दम विध्वस्त हो गई।

व्याख्या। मा! तुम परमा-श्रेष्ठा हो। तुम पर की अर्थात् परमेश्वर की भी मा हो। जो ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर, परमेश्वर कहे जाते हैं वे भी तुमसे ही उत्पन्न हैं, तुममें ही स्थित हैं, इसी से तुम परमा हो। तुम प्रसन्न हो, तब ही हम भव अर्थात् मङ्गल प्राप्त कर सकें। अथवा दूसरी ओर देखते हैं कि तुम्हारी प्रसन्नता और क्रोध, दोनों ही जीव के लिये परम हितकर हैं। तुम्हारे प्रसन्न होने से-जीव लौकिक पारलौकिक सब तरह का मङ्गल पाते हैं। और कुपित होने से जीव का सब कुल विनाश हो जाता है। यह भी जीवन के पक्ष में परम मङ्गल है। कुल

विनष्ट हुए बिना अकुल का पता पाया नहीं जाता ! मा ! कितने जन्म जन्मान्तर से कुल कुल में विचरण कर–रूप रसादि विषय भोग करके ही यह जीव जीवन व्यतीत होता है। हम किसी तरह कुल का त्याग नहीं कर सकते। एक कुल छोड़ते हैं दूसरा कुल पकड़ लेते हैं। एक दो दिन नहीं, न जाने कितने अनादिकाल से ऐसे कुलों में विचरना आरम्भ हुआ है। उसे कौन कहे ? मा, तुम्हारे कुपित होने से हमारे वे कुल ध्वंस हो जांय तब हम अकुल समुद्र में अवगाहन कर अपने को अकुल में मिला लें। इस दुःख मिले हुए परिच्छिन्न सुख के हाथ से सदा को परित्राण पावें। हमारा कुल कुल में विचरना सदा के लिये रुक जाय। इसी से कहा था कि मा ! तुम्हारी प्रसन्नता और क्रोध, दोनों ही हमारे मङ्गलदायक हैं।

मा ! जो केवल तुम्हारी प्रसन्नता ही चाहते हैं। जो केवल तुम्हारी हास्यमयी मुख श्री ही देखना चाहते हैं, समझलो कि अभी वे तुम्हारे मा रूप को पहचान नहीं सके हैं। जिन्होंने समझा है—तुम मा हो, हम सन्तान हैं, वे तुम्हारी भ्रुकुटी-कराल कुपित-मुख श्री देख कर भी बिलकुल नहीं डरते। जो सन्तान है वह मा के कोप और प्रसन्नता में, तुल्य भाव से मा का स्नेह ही देख पाती है। मा के स्नेह में जो मुग्ध हो सके हैं, वे मा को क्रोधमयी मूर्ति से—संसार की सैकड़ों विघ्न बाधाओं से, हजारों अमङ्गल में भी विन्दुमात्र अमङ्गल के चिन्ह नहीं देख पाते। इसी से वे निर्भीक पुरुष की तरह—बिलकुल नग्न शिशु की तरह, तुम्हारी प्रलयङ्करी मूर्ति के सामने खड़े होकर ऊंचे स्वर से मा ! कहते हुए तुम्हारी ही गोद में जा बैठते हैं।

यदि समझते कि—तुम्हें छोड़ कर हमारा और कोई भी आश्रय है, तो तुम्हारी क्रोधमयी मूर्ति देख कर, डरते हुए तुम्हें छोड़ कर, दूसरे आश्रय की ओर चल देते, किन्तु जब समझ लिया

है कि आश्रय एक मात्र तुम ही हो; जन्म मृत्यु, हँसना रोना, सुख दुःख, क्रोध, प्रसन्नता कुछ भी क्यों न हो, सब अवस्था में जब एक मात्र तुम ही हमारी एकान्त आश्रय हो, तब फिर तुम्हारी क्रोधमयी मूर्ति देख कर कौन शङ्कित होकर पीछे हटेगा? जानते हैं—तुम्हारे कुपित होने से हमको अनेक कर्म फल भोगने पड़ते हैं—रोग, शोक, अपमान, अत्याचार, अभाव उपद्रव चारों ओर से आक्रमण करते हैं; तथापि उन्हीं में जब तुम्हारा स्नेह करुणामय मुख विचार में आ जाता है, तब हे चण्डि! घड़ी भर में हमारे सब दुर्भाग्य दूर हो जाते हैं। और हम अपने को परम सौभाग्यवान् समझ कर धन्य होते हैं।

मा! तुम इस तरह कुपित मूर्ति से प्रति जीव के हृदय में आविर्भूत होकर महिषासुर की विपुल वाहिनी विनाश कर दो—इन्द्रिय ग्राह्य तुच्छ रूप रसादि विषय रूप कुल की जड़ मिटा दो। हम विषय रूप कुल त्याग कर, हे अकुल की तरणी हमारी मा, आओ, तुम्हारी स्नेह मय गोद में सर्वतो भाव से उठ बैठें। एक दिन तुमने यमुना तट पर कदम की छांह में खड़े होकर मोहन मुरली ध्वनि से गोपिकाओं का कुल छुड़ा कर, अपनी ओर आकर्षित करके कृष्ण नाम सार्थक किया था, फिर एकबार उसी तरह इस युग सन्धि के महाक्षण में स्व रूप में आविर्भूत होकर—अपनी उस मधुमय सत्य की महा आकर्षण ध्वनि से हमारी भी भूल छुड़ादो, कुल छुड़ादो, हम भी अकुल में तैरने लगें। अजी बहुत दिन से कुल कुल में रह कर, अनेक लहरों के आघात सहे हैं, अनेक आघातों से छाती का पञ्जर टूट गया है, मर्म्म स्थान विच्छिन्न हो गया है, मा! अब यह नहीं सहा जाता! अब एक बार इस गति शक्तिहीन सन्तान को अपने अकुल स्नेह मय वक्ष पर स्थान दो ॥ २३ ॥

ते सम्मता जनपदेषु धनानि तेषां,
तेषां यशांसि न च सीदति धर्म्म वर्गः ।
धन्यास्त एव निभृतात्मज भृत्यदारा,
येषां सदाभ्युदयदा भवती प्रसन्ना ॥ १४ ॥

अनुवाद । मा तुम प्रसन्न होकर जिनको अभ्युदय देती हो उनका जन पद में आदर होता है उनका धन यश और धर्म नहीं घटता, उनके पुत्र, भृत्य और पत्नी विनीत और सुस्थ होते हैं, अतएव जगत में वे ही धन्य हैं ।

व्याख्या । मा, तुम प्रसन्न मूर्ति से जिनको गोद में धारण कर रही हो जिन्होंने तुमको नित्य तथा नित्य प्रसन्नमयी जननी रूप समझा है, वे जगत् में देवोचित सम्मान पाते हैं । यद्यपि उन्होंने जगत के सुख, समृद्धि, भोग, ऐश्वर्य, सम्मान और यश को अति नगण्य समझ लिया है, तथापि मा उनके निकट ऐसी अभ्युदयदायिनी मूर्ति से ही तुम आविर्भूत हो रही हो। जो सब भाव में तुम्हें देखने के अभ्यस्त नहीं हैं, पार्थिव अभ्युदय रूप से तुम ही प्रकाश करती हो, इस पर जो विश्वास नहीं करते-नहीं मानते, वे विपद् में पड़ कर तुम्हारी क्रोधमयी मूर्ति का ही आभास पाते हैं । तुम्हारी सौम्या प्रसन्ना मूर्ति क्या है उसकी वे धारणा भी नहीं कर सकते । अतएव पार्थिव अभ्युदय पाकर भी वे लोग कभी यथार्थ सुखी नहीं हो सकते ।

और जो सुख दुःख, अभ्युदय अधःपतन, सब अवस्था में अपने को मा की गोद में स्थित पुत्र रूप से अनुभव कर सकते हैं। उनका "न च सीदति धर्म्म वर्गः"—धर्म्म वर्ग अर्थात् धर्मार्थ काम मोक्ष रूप चतुर्वर्ग कभी दुर्ब्बल नहीं होता । वे इस जगत में रह कर ही यथा क्रम से पूर्वोक्त चतुर्वर्ग फल प्राप्त करते हैं । मा, जो तुम्हारी धर्ममयी मूर्ति की सेवा न करके,

केवल अर्थ काम की सेवा करते हैं, वे ही दुःख ताप से बार-बार जर्जरीभूत होते हैं। मा देखो—तुम्हारी बड़ी साध की मानव सन्तानों का अधिकांश ही आजकल धर्म्महीन होकर, केवल अर्थ काम की सेवा करते करते, कैसी शोचनीय दुर्दशा में आ पहुंचा है। चारों ओर से अभाव का दावानल जल उठा है। दुर्भिक्ष, महामारी, अकाल, मृत्यु, रोग, शोक आदि द्वारा इतने पीड़ित होते हैं कि शान्ति वा आनन्द नाम की जो एक वस्तु इस जगत में है, यह बात ही मानो वे भूल गये हैं। त्रिविध दुःख से जर्जरीभूत होकर—आनन्दमय जगत को दुःखमय होने की घोषणा करते हैं।

मा ! तुम उनसे कह दो—तुम उनके मर्म-मर्म में समझा दो—धर्म के बिना सुख नहीं मिलता। यह जगत् आनन्दघन है, यह समझने के लिये—यह आनन्द भोग करने के लिये। सबसे पहिले धर्म्म की सेवा की जाती है। जीव जितना धर्म परायण होता है उतनी ही चित्त में प्रसन्नता होती है। चित्त प्रसन्न होने से ही अभाव बोध दूर हो जाता है। अभाव बोध न रहने से अर्थ का भी अभाव नहीं होता; अतएव धर्म्मानुमोदित कामना पूरण में कुछ भी व्याघात नहीं होता। कामना पूर्ण होने से ही जीव निष्काम होता है। तब तुम मोक्ष रूपिणी मा स्वयं आकर कल्पित बन्धन काट कर, जीव सन्तान को अमृत का आस्वाद भोग कराती हो।

ऐसा सहज सरल उदार मार्ग मौजूद रहने पर भी, अधिकांश जीव मार्ग भूल कर क्यों मनमानी राह से चल कर अपार कष्ट सहते हैं, उसे भ्रान्ति रूपिणी मा ! तुम ही जानो ! मा! एकबार भ्रान्ति हरा मूर्ति से प्रत्यक्ष हो, जिससे हमारी अनादि काल की यह भ्रान्ति दूर हो। भ्रान्ति रूप में भी मा ! तुम्हारा ही प्रकाश है यह समझ कर हम भ्रान्ति से पार चले जावें।

मा ! तुम अभ्युदयदायिनी मूर्ति से जिसको गोद में ले लेती हो, उसके नौकर, चाकर, पुत्र, स्त्री, परिवार के लोग सब ही अनुगत शिष्ट सुस्थ और सदाचारी होते हैं। अतएव धर्म पाने की आशा से, अथवा मुक्ति पाने की आशा से, उन्हें गृहस्थाश्रम त्याग कर, निर्जन पर्वतों की गुफाओं में जाने की आवश्यकता नहीं होती। वे यह लोक और परलोक दोनों ही जीत सकते हैं। गीता में भी कहा है—"इहैव तैर्जितः स्वर्गः येषां साम्येस्थितं मनः।" (५।१९) जिनका चित्त समत्व पर स्थित है अर्थात् सर्वत्र अवस्थित सम-स्वरूप मातृ सत्ता पर प्रतिष्ठित हैं, वे इस जगत में रह कर ही स्वर्ग लोक को भी जय कर लेते हैं। अतएव वे ही धन्य हैं। इसी से देवता भी मा, तुम्हारा स्तव करते करते "धन्यास्त एव" कहते हुए तुम्हारी प्रियतम सन्तानों को धन्यवाद देते हैं।

आध्यात्मिक पक्ष में आत्मज, भृत्य और दारा शब्दों के क्रम से विवेक, जीती हुई इन्द्रियां, और आत्माभिमुखी प्रवृत्ति रूप अर्थ करने से ही इस मन्त्र का रहस्य सरलता से समझ में आ जायगा।

धर्म्याणि देवि सकलानि सदैव कर्म्मा-
ण्यत्यादृतः प्रतिदिनं सुकृती करोति।
स्वर्गं प्रयाति च ततो भवती प्रसादात्-
लोक त्रयेऽपि फलदा ननु देवि तेन ॥ १५ ॥

अनुवाद। देवि ! तुम्हारे ही प्रसाद से सुकृतिशाली जन प्रतिदिन अत्यन्त श्रद्धापूर्वक सब कर्मों को धर्म्ममय करके सम्यक् भाव से अनुष्ठान करते हैं। और उसी के फल से स्वर्ग और मोक्ष पाते हैं। अतएव हे देवि ! इस तरह तुम तीनों लोक में ही फलदायिनी हो।

व्याख्या। पूर्व मन्त्र में कहा है—"न च सीदति धर्म्म वर्गः।" एक मात्र धर्म की सेवा करने से ही क्रम से अर्थ काम और मोक्ष फल का अधिकारी हुआ जाता है। किस तरह उस धर्म की सेवा करते हैं, इसमन्त्र द्वारा वही प्रकट किया है। "प्रतिदिनं सकलानि कर्म्माणि इत्यादृतः धर्म्माणि करोति, एवञ्च सुकृती भवति।" प्रतिदिन सब कर्म्म अत्यन्त आदर सहित धर्ममय रूप से अनुष्ठान करते हैं, एवं ऐसा कर सकने से ही मनुष्य सुकृतिशाली होता है, उसी के फल से स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त होता है। यह विषय और भी स्पष्ट करना आवश्यक है।

साधारणतः लोग कर्म को तीन प्रकार का जानते हैं। कुछ धर्म्म कर्म्म जैसे सन्ध्या वन्दन, व्रत नियम, उपवास इत्यादि शास्त्र विहित कर्म्म। कुछ अधर्म्म कर्म, जैसे—हिंसा, द्वेष, झूठ बोलना, परस्व हरण इत्यादि निन्दित कर्म्म। और कुछ साधारण कर्म्म, जैसे—भोजन, शयन, भ्रमण, द्रव्योपार्जन इत्यादि। उनमें धर्म्म भी नहीं और अधर्म्म भी नहीं कर्म का ऐसा श्रेणी विभाग रहने पर भी किन्तु हम देखते हैं कि कर्म एक प्रकार मात्र है। विषय के साथ इन्द्रिय का संयोग होने से ही कर्म्म होता है। गीता में कर्म्म अकर्म्म और विकर्म्म भेद कर्म्म के जो श्रेणी विभाग है वे भी एकमात्र विषयेन्द्रिय संयोग रूप कर्म्म के ही प्रकार भेद मात्र हैं। इस मन्त्र में उस मूलीभूत कर्म को ही लक्ष्य किया गया है, वह मन्त्र के "सकलानि" शब्द की ओर लक्ष्य करने से ही समझा जा सकता है। अस्तु, सब कर्मों को ही धर्म्म रूप से श्रद्धा सहित अनुष्ठान करना चाहिये; अश्रद्धा से न करो। "अत्यादृतः" अत्यन्त आदर सहित करो। क्या होने से सब कर्म्म धर्म्म्य (धर्मयुक्त) हो सकते हैं? मातृ-कर्तृत्व के दर्शन से मातृ युक्त होकर कर्म अनुष्ठान का नाम

ही धर्म्य कर्म्म है। यह गीता के ९म (९।२७) "तत् कुरुष्व मदर्पणम्" मन्त्र की साधन मय अवस्था है। अहं बुद्धि से अनुष्ठान करके तब ईश्वरार्पण करना कनिष्ठाधिकार का कार्य्य है। अनुष्ठान के समय ही कर्म्मों को जहां तक हो सके मातृयुक्त भाव से करना चाहिये, इसी से मन्त्र में "कुरोति" यह वर्तमान काल बोधक क्रियापद का प्रयोग हुआ है। प्रारम्भ–परिसमाप्ति का नाम वर्तमान है। जिस किसी भी कार्य के प्रारम्भ से समाप्ति पर्यन्त मातृ-कर्तृत्व दर्शन ही यथार्थ धर्म्य कर्म्म है।

विश्वमय एक विराट कर्तृत्व रहता है, वह कर्तृत्व वा क्रिया शक्ति हमारे विषयेन्द्रिय संयोग द्वारा सदा प्रकाश पाता है। कुछ दिन इस ज्ञान का अभ्यास करने से फिर वह स्वाभाविक होता है, तब फिर चेष्टा करके प्रति कार्य में मातृ-कर्तृत्व देखने के लिये प्रयास नहीं करना होता इस तरह सर्वत्र मातृ-कर्तृत्व दर्शन में सिद्ध साधकों के सब कर्म्म धर्म्ममय होते हैं। पक्षान्तर में मातृ योग रहित-मातृ कर्तृत्व दर्शन शून्य, व्रत नियम उपवास आदि कर्म्म बाहिर से धर्म्य कर्म्म के आकार में दिखाई देने पर भी, वे वास्तव में धर्म्य कर्म्म नहीं. फिर आहार विहार आदि दैनिक व्यावहारिक कर्म्म भी, यदि मातृयुक्त भाव से अनुष्ठित हों, तो ये भी धर्म्य कर्म्म में परिणत हैं। जो प्रतिदिन सब कर्म्म इस धर्म्ममय अनुष्ठान करते हैं, वे ही यथार्थ सुकृति हैं। उनकी कृतिमात्र ही सु अर्थात् शुभ फलदायक हैं।

पक्षान्तर में स्वर्गादि फल की अकांक्षा से जो काम्य कर्मों का अनुष्ठान करते हैं वे परलोक में स्वर्ग अर्थात् सुखमय क्षेत्र में जाते हैं और जो निष्काम भाव से—केवल मा की प्रसन्नता के उद्देश से कर्मों का अनुष्ठान करते हैं, वे मुक्ति पाते हैं। ये सब ही "भवतीप्रसादात्," मा! तुम्हारा प्रसाद पाते हैं। तुम ही जीव को इस लोक में 'सुकृति' करो, तुम ही जीव को

परलोक में स्वर्गभोग का अधिकारी करो, फिर तुम लोक परलोक से अतीत मोक्ष फल प्रदान कर जीव को धन्य कर दो। अतएव हे देवि ! तुम "लोकत्रयेऽपिफलदा" ! तीन लोक में त्रिविध भाव से कर्म्म फल विधान करती हो।

"फलदा" शब्द का और एक गूढ़ अर्थ है ! खण्डनार्थक 'दा' धातु के प्रयोग से भी फलदा शब्द बन सकता है। उससे उसका अर्थ होता है "फलनाशिनी"। अर्थात् सब कर्म्म फलों को जो खण्डन कर सके, वही फलदा है।

मा ! एक तरफ जैसे सुख, दुःख, जन्म, मृत्यु, स्वर्ग, नरक, रूप फल देने से, तुम "फलदा," हो, दूसरी ओर कैसे ही फिर जीव के सब कर्म फलों को ज्ञानाग्नि के प्रभाव से समूल भस्मीभूत कर देती हो अतएव तुम ही 'फलदा' हो। मा ! इस तरह तुम फलदायिनी होकर भी फलनाशिनी हो। इस फलनाशिनी मूर्ति से तुम्हारा प्रकाश होने से हमें आशा है कि एक दिन तुम्हारे अमृतमय वक्ष पर स्थान पावेंगे। सब कर्म्म फल से पार चले जायेंगे।

जब तक जीव अहं बुद्धि से साधारण भाव से कर्मों का अनुष्ठान करते हैं, तब तक ही तुम फलदायिनी मूर्ति से आविर्भूत होकर जीव को सुख दुःखादि फल देती रहती हो। फिर जब जीव अहं बोध को तुम्हारे रातुल चरणों में अर्पण करके, विश्वमय विराट कर्तृत्वमयी महाशक्ति रूपिणी ! तुम्हारे कर्मयन्त्र रूप से कर्मानुष्ठान किये जायें, तब तुम "फलनाशिनी" मूर्ति से प्रकटित होकर सब कर्म्म फल अब खण्डित कर, जीव को मोक्षफल का अधिकारी करती हो।

दुर्गे स्मृता हरसि भीतिमशेष जन्तोः
स्वस्थैः स्मृता मतिमतीव शुभां ददासि।

दारिद्रय दुःख भय हारिणि ! का त्वदन्या
सर्वोपकार करणाय सदार्द्र चित्ता ॥ १६ ॥

अनुवाद। मा ! दुर्गम में पड़ने पर तुम्हारा स्मरण करने से तुम सब प्राणियों का भय हर लेती हो; और स्वस्थ अवस्था में स्मरण करने से अत्यन्त शुभ मति देती हो। हे दारिद्रय दुःखमय हारिणि ! सब जीवों का ऐसा उपकार करने वाली सदा दयार्द्र-चित्त केवल तुम्हारे सिवाय और कौन है ?

व्याख्या। मा ! तुम्हारी प्रिय सन्तान जीव दुर्गम—दुःख सङ्कट में पड़ कर जब अपने बचने का कोई उपाय नहीं देखता, सब तरह का पुरुषकार प्रयोग जब व्यर्थ हो जाता है, विपद के काले बादलों की घनघोर घटायें जब चारों ओर छा कर जीव की दृष्टि-शक्ति रोक लेती हैं, भय से, सन्त्रास से जीव जब एकदम व्याकुल हो जाता है, तब उस अवस्था में—उस बड़े दुःख के दिन में, जीव एक बार किसी अज्ञेय महती शक्ति की ओर कातर दृष्टि से देखता है। उस बड़े कुसमय में तब फिर ऐसा कोई नहीं जो एक बिन्दु सहायता करने को तैयार वा समर्थ हो। उस दुर्दिन में जीव तुम्हारी शरण लेने को वाध्य होता है—तुम्हारा स्मरण करता है। इसी से मन्त्र में कहा है—"दुर्गेस्मृता"।

जगत् की दृष्टि में वह कुसमय हो, किन्तु जीव के पक्ष में वही यथार्थ सुसमय है। बड़े पुण्य फल से जीव तुम्हारा स्मरण करने का शुभ अवसर पाता है। तुम्हारा स्मरण करने से—यथार्थ स्मरण कर सकने से, शीघ्र ही विपद दूर होती है। अजी ! पुत्र जब मा ! कह कर कातर हो पुकारता है, तब तुम क्या निश्चिन्त रह सकती हो ? पुत्र का कातर आह्वान सुनते ही मा ! तुम उन्मादिनी की तरह सत्य लोक से दौड़ कर आने को बाध्य

होती हो ! श्रो मा ! तुम्हारी यह मूर्ति स्मरण करके भी विह्वल होते हैं । वह आलुलायित कुन्तला, (मुक्त केशी), वह स्खलित वसना, वह उच्छृङ्खल गमना, वह हमारी पागलिनी मा तुरन्त छाती से लगा कर स्नेहादर करती है— मा, मा, मा, ।

अस्तु, जीव विपद् में पड़ कर ही तुम्हें याद करने का अभ्यास करता है। उस अभ्यास के फल से स्वस्थ अवस्था में भी तुम्हें याद कर सकता है । क्रम से तुम्हारे अस्तित्व में विश्वासवान होता है कि "सब अवस्थाओं में हमारी मङ्गल करने वाली स्नेहमयी मा निरन्तर हमारी ओर टकटकी लगाये देखती हैं" ऐसे विश्वास से हृदय जब परिपूर्ण हो जाता है, और मातृ-अस्तित्व में विन्दुमात्र संशय प्राण में नहीं जागता तब ही जीव स्वस्थ होता है। तब फिर विपद् कुछ नहीं रहती। दुःख सङ्कट भी कोई वस्तु है, यह विचार भी मन में नहीं उठ सकता। जब तक जीव को मा के अस्तित्व में विश्वास नहीं हो सकता, तब तक किसी तरह स्वस्थ हो नहीं सकता । स्वस्थ हुए विना अस्वस्ति भोगनी ही होगी। अरे, स्व का पता पाये बिना क्या स्वस्थ हुआ जाता है? स्व ही मा है!

मा ! जीव विपद् में पड़ कर तुम्हें याद करना सीखता है, क्रम से याद करने का अभ्यास हो जाता है । विपद् दूर हो जाती है, तुम्हारी सत्ता में विश्वासवान-स्वस्थ होता है । उस अवस्था में भी किन्तु याद रखता है। विपद् नहीं, अन्य कोई कामना वासना नहीं; तो भी प्राण की ताड़ना से स्मरण करता है, तब तुम क्या क्या करती हो ?

"स्वस्थैः स्मृता मति मतीव शुभां ददासि ।" स्वस्थ अवस्था में तुम्हारा स्मरण करने से, तुम अत्यन्त शुभ मति देती हो। बुद्धि सत्व की निर्म्मलता ही शुभामति है । हम प्रायः जिस

बुद्धि को लेकर जगत् में विचरते हैं, व्यावहारिक जीवन यापन करते हैं, वह रजस्तमोगुण द्वारा मलिन की हुई बुद्धि है, अतएव अविशुद्ध वा अशुभ मति है। किन्तु मा, कामनाहीन सन्तान जब तुम्हें बारम्बार याद करती है, बारम्बार स्मरण करती है, तब तुम्हारी ही कृपा से उसकी बुद्धि की वह मलिनता दूर होकर बुद्धि सत्त्व निर्मल होता है। इस तरह अतीव शुभामति पाने से, उसमें चिदानन्द मयी मा, तुम्हारा प्रतिविम्ब दीख पड़ने लगता है। तब जीव तुम्हारे स्वरूप का आभास पाकर धन्य होता है। जन्म, मरण, मोह, सदा के लिये दूर हो जाता है। ऐसा सब अवस्था में सन्तान पर सदा दयार्द्रचित्त तुम्हारे सिवाय और कौन है मा! तुम ही तो हमारी दारिद्र्य, दुःख, भय हारिणी मा हो! इस तरह प्रति जीव में अपना स्वरूप प्रगट करके, अपार दया का परिचय देकर जीव का दरिद्र्य सदा के लिये दूर कर दो।

"दारिद्र्य दुःख भय हारिणि" वाक्य को और भी परिष्कार भाव से समझने की चेष्टा करो। अभाव बोध का नाम है दारिद्र्य। अभाव बोध रहने से दुःख अवश्य ही होता है। दुःख से ही भय आता है। अतएव दारिद्र्य दुःख और भय ये तीनों परस्पर सहचर रहते हैं। यह दारिद्र्य वस्तु चित्त का धर्म है। चित्त में सदा कोई-न-कोई भाव रहता ही है। यह अभाव बोध या दरिद्रता दूर करने के लिये जगत् में यह कोलाहल-दौड़धूप है। कितना ही सञ्चय अथवा भोग क्यों न किया जाय, चित्तक्षेत्र में नित नया अभाव बोध जागेगा ही। यह दारिद्र्य दूर हुए बिना, दुःख और भय कभी दूर हो नहीं सकता। वर्तमान में देशव्यापी जो भयानक दरिद्रता मूर्ति रूप देख पड़ती है, इसका हेतु-यह अभाव बोध है। अभाव बोध जितना बढ़ा है सामग्री सञ्चय अथवा भोग का उतना अभाव नहीं है। कौन

वस्तु पाने से यह अभाव दूर हो सकता है, वह बतला दें! बुद्धि, वह बुद्धि जब तक अशुभ-मलिन रहती है, तब तक सब तरह के अभाव को नाश करने वाली वस्तु का स्वरूप जाना नहीं 'जा सकता' अतएव अभाव बोध किसी तरह दूर नहीं होता इसी से शुभामति की आवश्यकता है। "(तत्त्वज्ञान) लक्षणा बुद्धिः"।

जिसके मिल जाने से फिर कोई लाभ अधिक नहीं जान पड़ता, जिसमें स्थिति हो सकने से दुःसहदुःख पड़ने पर भी विचलित न होना पड़े, वह जो परमानन्दमय नित्य वस्तु है, जिसके पाने से दरिद्रता, दुःख और भय सदा के लिये दूर हो जाते हैं, उसका पता कौन देता है? शुभामति-निर्मल बुद्धिसत्व; उपनिषद् की भाषा में इसे प्रज्ञा (अपरोक्षानुभव पर्य्यन्त विचारिणी बुद्धि कहते हैं) प्रज्ञा प्रकाशित होने से ही जीव परमात्म स्वरूप का अनुभव कर सकता है। तब सब अभाव दुःख और भय दूर हो जाते है। आओ साधक! आओ, हम भी देवताओं के सुर में सुर मिला कर भक्ति विनम्र चित्त से बोलने की चेष्टा करें-"दुर्गे स्मृता हरसि भीतिमशेष जन्तोः स्वस्थैस्मृता मतिमतीव शुभां ददासि। दारिद्र्य दुःख भय हारिणि का त्वदन्या, सर्वोपकार करणाय सदार्द्रचित्ता"। मा! सब जीवों का सब तरह का उपकार करने के लिये सदा दयार्द्रचित्ता स्नेह विगलित हृदया तुम्हारे सिवाय और कौन है? तुम हमारी सब भावों से ही दयामयी मा हो? दया से, स्नेह से, मातृत्व से तुम्हारा हृदय सदा ही विगलित है। किन्तु मा हम कब तक तुम्हारा यह अतुलनीय मातृत्व अनुभव करके यथार्थ पुत्रत्व प्राप्त कर धन्य होंगे?

एभिर्हतैर्जगदुपैति सुखं तथैते
कुर्वन्तु नाम नरकाय चिराय पापम्।

संग्राममृत्यु मधिगम्य दिवं प्रयान्तु
मत्वेति नूनमहितान् विनिहंसि देवि ॥१७॥

अनुवाद। हे देवि! ये असुर निहत होने से ही जगत यथार्थ सुख पा सकता है, असुर भी फिर चिरकाल नरकजनक पापानुष्ठान नहीं कर सकेंगे; पक्षान्तर में सम्मुख संग्राम में निहत होकर स्वर्ग प्राप्त करेंगे, ये सब बातें विचार कर ही तुमने असुरों को निहत किया है।

व्याख्या। मा! यदि तुम सब का उपकार करती हो, सब के लिए यदि तुम्हारे चित्त में दया है, शत्रु, मित्र पापी पुण्यात्मा, ज्ञानी अज्ञान ये विचार यदि तुम में नहीं हैं; तो इस असुर कुल को क्यों निहत किया? इस विषय में तुम्हारे कहने को तीन बातें हैं। प्रथम तो इनके निहत होने से जगत् शान्ति पावेगा। दूसरे—असुर भी अब बहुत दिन तक नरक का परिमाण न बढ़ा सकेंगे। तीसरे—सन्मुख संग्राम में मृत्यु होने से ये स्वर्ग को जायेंगे। ये तीन उद्देश्य लेकर ही तुमने असुरों का नाश किया है। यदि यथार्थ मरण कुछ होता, यदि यथार्थ अनुपकार कुछ रहता, यदि यथार्थ निष्ठुरता कुछ रहती, तो तुममें उपकार, अनुपकार दया और निष्ठुरता रूप दो धर्म दीख पड़ते। जब तुम्हारी प्रत्येक इच्छा ही मङ्गलदाता है, तब अमङ्गल वा निष्ठुरता कुछ रह ही नहीं सकती। यह बात जब तक हम अच्छी तरह हृदयङ्गम न कर सकें, तब तक ही जगत् की दृष्टि से तुम में भी उपकार अनुपकार, दया और निष्ठुरता-रूप दो वस्तुएँ दीख पड़ती हैं। स्थूल दर्शि-भेदज्ञान-सम्पन्न दृष्टि से ऐसा द्वैत-दर्शन होगा ही; किन्तु मा! तुम दया करके जिनका भेद-ज्ञान दूर कर देती हो, वे समझ सकते हैं कि तुम्हारे सिवाय कहीं भी कुछ नहीं है; जो समझ सके हैं—विनाश और

सृष्टि, दोनों ही तुम्हारी तुल्य आनन्दलीला हैं, वे कैसे कहेंगे कि तुम किसी पर दया और किसी पर निष्ठुरता प्रकाश करती हो।

किञ्च यदि भेद-दर्शन लेकर भी तुमको देखा जाय तो भी देखते हैं—जीव तुम्हारी सन्तान है, तुम जीवों की जननी हो। जननी कभी सन्तान पर निष्ठुर हो नहीं सकती। तब जिसको हम निष्ठुरता मानते हैं—रोग, शोक, दुःख, दारिद्र्य, मृत्यु आदि जिनको हम यथार्थ अनुपकार व निष्ठुरता समझते हैं, वे भी वास्तव में मातृ-स्नेह के सिवाय और कुछ नहीं हैं—यह समझ लेने के लिये—उनके भीतर भी तुम्हारे पूर्व कहे हुए तीन उद्देश्य विशेष भाव से लक्ष्य करते हैं।

पहला उद्देश्य—"जगदुपैतिसुखम्"—असुर निहत होने से जगत् शान्ति पावे। स्थूल भाव से असुर कुल निहत होने से जगत् के सब अत्याचार शान्त होते हैं, इसे सब ही समझ सकते हैं। सूक्ष्म भाव से भी देखा जाता है कि वासनाओं को बढ़ने का अवसर न देकर प्रलय की ओर कर सकने से जीव यथार्थ शान्ति का पता पाता है; क्योंकि कामना पूरी करने में जो सुख मिलता है, कामना की उमंग न होना उससे सैकड़ों गुना अधिक सुख देता है। विशुद्ध चित्त से विषयभोग करने में जो सुख है, प्रशान्त चित्त से विषयभोग की अभिलाषा न होने में उससे बहुत अधिक सुख है। चित्त-विक्षेप का भाव ही दुःख है और चित्त की प्रशान्तता ही सुख है। अब देखो—यदि जगत् को वा तुमको यथार्थ सुखी करना है, तो अवश्य ही असुर-कुल वा वासनाओं को ध्वंस करना ही होगा।

दूसरा उद्देश्य—"नरकाय चिराय पापं न कुर्वन्तु"—असुर वा वासनामय चित्त सदा वासना की शान्ति पूरी करते-करते सदा नरक न भोगते। नर जहाँ अति सङ्कीर्ण, अपवित्र

रहे, उसी को नरक कहते हैं। छोटे-छोटे विषय, छोटी-छोटी कामनायें लेकर मनुष्य उनमें ऐसे मुग्ध रहते हैं कि यथार्थ सुख का पता भी नहीं पाते; अतएव उनको सम्मुख-संग्राम में निहत करना अत्यन्त आवश्यक है और यही असुरनिधन का तीसरा उद्देश्य है। जो यथार्थ सुख है उसे सामने रख कर छोटी-छोटी अनेक वासनाओं को समष्टीभूत करके उसकी ओर दौड़ा सकने से ही नारकीय वृत्तियां विलय हो जाती हैं। सामने संग्राम में असुर विनाश का यही रहस्य है। भूमा सुख का आभास सामने देख पाने से ही जीव दुःख मिश्रित क्षण-स्थायी सुख की कामना अनायास छोड़ सकते हैं मा हमारी आनन्दमयी परम सुखमयी मूर्ति से जब सामने खड़ी हों, तब ही सब असुरभाव विलय हो जायँ; इसी से देवता कहते हैं—"अहितान् विनिहंसि"। जो अहित हैं—हमारे लिये हितकर नहीं हैं, ऐसे भावों को नष्ट करके हमारे परम मंगल का मार्ग खोल देने के लिये ही मा की यह समर विडम्बना (सदृशीकरण) है।

> दृष्ट्वैव किन्न भवती प्रकरोति भस्म
> सर्वासुरानरिषु प्रहिणोषि शस्त्रम्।
> लोकान् प्रयान्तु रिपवोऽपि हि शस्त्रपूता
> इत्थं मतिर्भवति तेष्वपि तेऽति साध्वी ॥१८॥

अनुवाद—मा! तुम दृष्टिपात-मात्र से ही तो असुरों को भस्म कर सकती थीं, तो भी ऐसा न करके सब शत्रुओं पर जो अस्त्र चलाये हैं, इसका हेतु—शत्रुगण भी तुम्हारे अस्त्राघात से पवित्र होकर ऊँचे लोकों में गमन करेंगे। अहो! शत्रुओं पर भी तुम्हारी ऐसी श्रेष्ठ मति हो रही है।

व्याख्या—तुम सृष्टि-स्थिति प्रलयङ्करी महाशक्ति हो। तुम्हारी इच्छा-मात्र से ही तो आसुरिक भाव क्षणभर में विलय

हो सकते हैं; ऐसा न करके अरिगण पर अस्त्र-शस्त्र चलाना यह संग्राम विडम्बना क्यों मा? अजी, इसमें भी तुम्हारी साध्वी मति मङ्गलमयी इच्छा-निहित रहती है। तुम्हारे अपने हाथ से चलाये हुए अस्त्र से विधकर वे पवित्र हों, निष्पाप हों, ऊँचे लोकों में जावें—तुम्हारे वरवपु से मिल जावें, ऐसी अति उदार और साध्वी मति लेकर ही तुम्हारी यह संग्राम-लीला है। शत्रु पर भी ऐसी महती दया! यह विचार करने में भी विस्मित होना पड़ता है। जिसको हम निष्ठुरता समझते हैं, वह वास्तव में निष्ठुरता नहीं, करुणा का छद्मवेश (कपटरूप) मात्र है।

मा! तुम जब जीव की आसुरी वृत्तियों को शस्त्र से पवित्र करती हो, जब छोटी-छोटी वासनाओं को थोड़ा-थोड़ा कर अपनी ओर आकर्षण करती हो, जब चित्त की वृत्तियां जड़ल मोह काट कर कुछ-कुछ बोधमय सत्ता का सन्धान पाती हैं, तब ही तो वे स्वर्गीय सुख भोगते हैं। यही देवता विनम्र कण्ठ से कहते हैं—"लोकान् प्रयान्तु रिपवोऽपि हि शस्त्र पूताः"। मा, हमारी बहिर्मुख वृत्तियों को इस तरह बिन्दु-बिन्दु आनन्द रस का भोग करा कर, क्रम से अपने में सम्यक् मिलालो और तुम तब "एकमेवाद्वितीयम्" स्वरूप में विराजती रहो! मा! धन्य तुम्हारी कार्य्य-प्रणाली की अपूर्व शृङ्खला (क्रम) है।

खड्ग प्रभानिकरविस्फुरणैस्तथोग्रैः,
शूलाग्रकान्ति निवहेन दृशोऽसुराणाम्।
यन्नागता विलयमंशुमदिन्दु खण्ड —
योग्याननं तवविलोकयतां तदेतत् ॥ १९ ॥

अनुवाद। मा! तुम्हारी खड्ग प्रहारों की चमचमाहट और शूलाग्र भागों की दीप्ति जो असुरों की दर्शन शक्ति विलय न

न कर सकी, उसका हेतु—असुरों ने तुम्हारा यह ज्योतिर्म्मय इन्दु-कला-विभूषित अतुलनीय मुख दर्शन किया था।

व्याख्या। मा! स्थूल दृष्टि से देखते हैं—इस महिषासुर युद्ध में तुम्हारी खड्ग प्रभाओं की चमचमाहट और शूलाग्रों की कान्ति, असुरों की देखने की शक्ति को विलय नहीं कर सकी; फिर सूक्ष्म भाव से भी देखा जाता है—तुम्हारे विज्ञान-खड्ग की प्रभा और ज्ञानमय शूल की कान्ति भी आसुरी दृष्टि का सम्यक् विलय नहीं कर सकती। क्यों ऐसा होता है? जिस विशुद्ध बोध रूप शाणित अस्त्र के प्रभाव से सब द्वैत रूप दैत्य कुल विनष्ट हो गया, उसका आभास पाने पर भी आसुरिक दृष्टि का विलय क्यों न हुआ? "अंशुमदिन्दु खण्ड योगाननं तव विलोकयतां"। मा! तुम्हारा समुज्वल मुख चन्द्र देख लेने के कारण असुर दृष्टि विलय नहीं हुई। मा की हास्यमयी स्नेहमयी आनन-सुषमा निरीक्षण कर सकने से फिर दृष्टि विलय की आशङ्का ही रहेगी क्यों? आसुरिक सत्ता भी तो चिदानन्दमयी मातृ सत्ता ही है, उससे भिन्न कुछ नहीं है, यह रहस्य सम्यक अनुभव कर सकने से ही पूर्वोक्त संशय दूर हो जाता है। जो सर्वतो भाव से सब तरह के आसुरी भावों का विलय करके विशुद्ध बोध स्वरूपा तुम्हारी सत्ता को पकड़ना चाहते हैं, वे शायद इस रहस्य को उपेक्षा की दृष्टि से देखने की चेष्टा करेंगे। वे करते रहें। किन्तु कुछ धीर भाव से देखने पर वे भी खुले शब्दों में घोषणा करेंगे कि मा का मुख देख लेने के बाद भी असुरों की दृष्टि रहती है और रह सकती है। क्रम से—समय आने पर वह बिलकुल विलय हो जाती है, मा! अपनी प्रियतम मानव सन्तान को तुम समझा दो कि आसुरी दृष्टि रहने पर भी तुम्हारे स्नेह करुणामय मुख सौन्दर्य देखने का सौभाग्य प्राप्त हो सकता है। अति दुरा-

चारी मनुष्य भी तुम्हारा अनन्य चित्त से. भजन कर सकते हैं। तुम्हें देखे विना क्या तुम्हारा अनन्य चित्त से भजन हो सकता है ? परन्तु वह दूसरी बात है।

मा ! चन्द्र के दृष्टान्त से भी हम इस सत्य पर पहुँच सकते हैं। साधारण दृष्टि से देखा जाता है—"अंशुमदिन्दु" अर्थात् चन्द्र की ही किरण; किन्तु तत्त्व दृष्टि से भली भाँति देख पड़ता है कि किरण तो चन्द्र की नहीं है, वह सूर्य की है। चन्द्र में प्रतिबिम्बित सूर्य्य किरण ही चन्द्र किरण रूप से दृष्टिगोचर होती है। ठीक इसी तरह जिनको हम आसुरिक दृष्टि या आसुरी भाव मानते हैं, वे भी तो मा तुम्हारी ही सत्ता से सत्तावान हैं, तुम्हारे ही प्रकाश से प्रकाशित हैं, इसके सिवाय उनकी कोई पृथक् सत्ता ही नहीं है, यह रहस्य जो यथार्थ अनुभव कर सकते हैं, उनकी आसुरी दृष्टि विलय होना और न होना दोनों ही बराबर हैं। केवल प्राण रूपिणी तुम ही तो सुर असुर दोनों आकार में प्रकाशित हो। हम तुम्हें न देखकर उस आकार पर मुग्ध होने से ही ठगे जाते हैं। कल्याणमयी मा, तुम हमारा यह मोह दूर करो; कल्याण दृष्टि खोल दो ! प्राण पर प्रतिष्ठित करो।

दुर्वृत्त वृत्तशमनं तव देवि शीलम्
रूपं तथैतदविचिन्त्यमतुल्यमन्यैः।
वीर्य्यञ्च हन्तृ हृतदेव पराक्रमाणां
वैरिष्वपि प्रकटितैव दयात्वयेत्थम् ॥२१॥

अनुवाद—हे देवि ! दुर्वृत्तों के वृत्त शान्त करने वाला तुम्हारा स्वभाव, अचिन्तनीय तुम्हारा रूप, देव पराक्रम विनाशी—असुर—निधन—कारी तुम्हारा वीर्य्य और वैरियों पर भी तुम्हारी ऐसी दया, इनकी तुलना केवल तुम ही में है और कहीं नहीं।

व्याख्या—मा ! चित्त की वृतियाँ जब तक असत् वस्तु में वर्तमान अर्थात् आसक्त रहती हैं। तब तक ही वे दुर्वृत्त हैं। केवल सत् स्वरूपा तुमको परित्याग कर जब तक चित्त क्षेत्र में वैषयिक स्पन्दन प्रकाशित होते रहें, तब तक ही वृत्तियाँ दुर्वृत्त हैं। किन्तु इन दुर्वृत्तियों को पूर्ण प्रशान्त करना तुम्हारा स्वभाव है। मा! "विनाशाय च दुष्कृताम्"—दुष्कृतों को विनाश करना ही तुम्हारा कार्य्य है। किस तरह यह सिद्ध हो ? तुम्हारा रूप देखने से ही दुर्वृत शान्त होते हैं। "रूपं तथैतदविचिन्त्यम्" तुम्हारा रूप अचिन्त नीय है। चिन्ता-चित्त का धर्म्म है तुम्हारा रूप जब प्रकाशित होता है तब चित्त कहने को कुछ नहीं रहता, रह ही नहीं सकता ? अतएव चिन्ता भी नहीं रहती, इसी से मा, दुर्वृत्तियों का वृत्त शमन अनायास सम्पन्न हो जाता है। यही तुम्हारा स्वभाव है।

साधक ! तुमने वह अरूप का रूप कभी देखा है क्या ? परिच्छिन्न सीमा वाला कोई भी रूप देखने से शायद मोहित न हो सको; किन्तु उस रूप हीन रूप सागर में अवगाहन करने से अवश्य ही मुग्ध होंगे। एक तुच्छ पार्थिव रूप पर मुग्ध होकर. मनुष्य कुल, शील, मान सबको जलाञ्जलि दे सकता है, तब उस अपरिच्छिन्न मधुमय, प्राणमय, प्रेममय रूप के सामने खड़े होने पर जीव क्या विभोर हुए बिना रह सकता है ? अजी ! आओ सब मिलकर मा के उस अचिन्तनीय रूप सागर में कूद पड़ें। जिससे सदा की प्यास बुझ जाय। सब दुर्वृत शान्त हों। परन्तु वह दूसरी बात है।

मा ! तुम्हारा रूप देखने पर चित्त की वृत्तियां अपने आप शान्त हो जाती हैं, इस पर जो विश्वास न करके, तुम्हें छोड़ कर केवल कौशल की सहायता से चित्त निरोध करना चाहते हैं उन्हें अपना यह रहस्य अच्छी तरह समझा दो। मा कहते,

सत्य कहने, प्राण कहने वा आत्मा समझ कर आह्वान करने से ही तुम्हारी अचिन्त्य रूपराशि प्रकाशित होती है। वह रूप ऐसा ही मधुमय, असीम, भाषाहीन वह रूप है—उसका प्रकाश होने से, चित्त अपने आप मुग्ध हो जाता है, दुर्वृत्त-असत्प्रियता बिलकुल दूर हो जाती है निर्विकल्पा, निरञ्जना, भावातीता हमारी मा! तुम्हारे प्रकाश से सब भाव, सब तरह का वैषयिक प्रकाश विलुप्त हो जाता है।

केवल रूप ही नहीं बल्कि तुम्हारा वीर्य्य भी दुर्वृत्तों का वृत्त शान्त करने में समर्थ है। जो आसुरी वृत्तियां देव भावों को निर्वीर्य्य कर देती हैं, उनकी उस शक्ति को केवल तुम ही विलय करने में समर्थ हो! तुम्हारा जो वीर्य्य, जो महती शक्ति जगत की सृष्टि स्थिति प्रलय कार्य अनायास सम्पन्न कर रही हो उस अमित वीर्य पर लक्ष्य स्थापन करने पर भी चित्तवृत्ति बिना प्रयत्न के रुक जाती हैं।

मा, जो तुम्हारे रूपहीन रूप की धारणा नहीं कर सकते, अर्थात् जो "सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म" यह स्वरूप लक्षण लेकर तुम्हारे सामने नहीं ठहर सकते; उनके लिये तुम्हारा यह अमित वीर्य्य—इस महती धारणा का उपदेश विहित हुआ है। वे "जन्माद्यस्य यतः" इस तटस्थ लक्षण के सहारे (जिनमें जगत की उत्पत्ति स्थिति और लय होता है) उनकी—उस लीलामयी शक्ति के सामने खड़े हों। इसके द्वारा भी चित्तवृत्ति अनायास निरुद्ध हो जाती है। और जो इसमें भी असमर्थ हैं, उनके लिये "वैरिष्वपि प्रकटितैव दयात्वयेत्थम्" तुम्हारी अतुलनीय दया की बात स्मरण करा दी है। जो वैरिदल पर भी दया करने में बिलकुल कृपणता नहीं करतीं, वे—वही तुम हमारी मा हो, हम तुम्हारे पुत्र हैं; अतएव हम कभी तुम्हारी दया पाने से वञ्चित न रहेंगे। मा, जगतमय जो असीम दया फैल रही है,

इस सदा प्रत्यक्ष अत्यन्त प्रकटित तुम्हारी दया के सामने सरल प्राण से, सत्य ज्ञान से एक बार मा कह कर खड़े होने पर भी चित्त वृत्ति निरुद्ध हो जाती है—असुर कुल विलय हो जाता है।

मा, इस तरह तुम्हारा रूप, तुम्हारी शक्ति और तुम्हारी दया इन तीन में से किसी एक का आश्रय लेने से, चञ्चल चित्त निरुद्ध होता है, दुर्वृत्तवृत्त अनायास शान्त हो जाता है। इसी से देवता कहते हैं—मा! दुर्वृत्तियों का वृत्त शमन करना ही तुम्हारा स्वभाव है। ये तीनों ही मा, अतुलनीय हैं और कोई साधन और कोई उपाय उसके साथ तुलना के योग्य नहीं है। इसी से मन्त्र में कहा है—"अतुल्यमन्यैः"।

मा! किन्तु हम तुम्हारे छोटे पुत्र हैं; हमारे लिये तो तुम्हारा तीसरा उपदेश ही अत्यन्त उपयोगी है। हम तुम्हारी कृपा के भिखारी हैं। विश्वमय तुम्हारी जो दयामयी मूर्ति प्रकटित रहती है, उस मूर्ति पर मुग्ध होने की चेष्टा करेंगे। मा कहते हुए, तुम्हारे मुख की ओर ताकते हुए बैठे रहेंगे, किसी दिन तुम अवश्य ही अपना प्रकाश करोगी, किसी दिन अवश्य ही तुम्हारी दया अनुभव कर सकेंगे। उस दिन हमारा दुर्वृत्त शान्त होगा। फिर बिना चेष्टा के तुम्हारे वीर्य्य वा तटस्थ लक्षण पर पहुँच जायँगे; सर्वशेष तू अरूप का रूप लेकर, हमारी आत्मा रूप में—सत्य ज्ञान आनन्द रूप में—ब्रह्म स्वरूप में प्रकटित होगी, हमारी मा नाम की पुकार सार्थक होगी। आनन्द से जय मा कह कर जन्म मृत्यु सुख दुःख से पर पार चले जायेंगे। मा! उस दिन में अभी कितनी देर है?

केनोपमा भवतु ते ऽस्य पराक्रमस्य

रूपञ्च शत्रुभयकार्य्यतिहारि कुत्र।

चित्ते कृपा समर निष्ठुरता च दृष्टा
त्वय्येव देवि वरदे भुवनत्रयेऽपि ॥२१॥

अनुवाद। हे देवि! हे वरदे। तुम्हारे इस पराक्रम की तुलना कहां? शत्रु को भय देने वाला होने पर भी अति मनोहर ऐसा रूप ही कहां? चित्त में कृपा होने पर भी समर निष्ठुरता, यह त्रिभुवन में केवल तुम में ही देखी पाई जाती है।

व्याख्या। मा! अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड की सृष्टि स्थिति प्रलयङ्करी महाशक्ति तुम हो, अतएव तुम्हारे पराक्रम की तुलना नहीं; इसमें कहना ही क्या है? पक्षान्तर में जगत में जो पराक्रान्त प्रभावशाली हैं, उनका पराक्रम अभाव सर्वतो भाव से दुर्बलों पर ही प्रयोग होता है। दुर्बल के आँसू धरती पर गिराये बिना उनका पराक्रम सार्थक नहीं होता। किन्तु मा! तुम्हारा पराक्रम ठीक इसके विपरीत है। वैरियों पर भी अपार करुणा वर्षा करना तुम्हारे पराक्रम का फल है। अतएव जगत के पराक्रम के साथ तुम्हारे पराक्रम की तुलना बिल्कुल असम्भव है।

इसके बाद तुम्हारा रूप—वह भी अतुलनीय है। भय जनकत्व और मनोहरत्व, ये अत्यन्त विरुद्ध दो धर्म्म केवल तुम्हारे रूप में ही विद्यमान हैं। जगत में कहीं भी ऐसे परस्पर विरोधी धर्म्मों का सम्मिलन सम्भव नहीं है। एक साथ शत्रु को भयदायक और पुत्र को आनन्ददायक रूप केवल तुम में ही सम्भव है।

रजोगुण से उत्पन्न चित्त विक्षेप रूप शत्रु समूह तुम्हारे उस रूप हीन रूप-सागर में अवगाहन करता हुआ, मानो डरता हुआ मिला जाता है, फिर दूसरी ओर उस अचिन्तनीय रूप के प्रकाश से साधक के प्राण में अनिर्वचनीय आनन्द की फुरना होती है। मा! तुम्हारे चित्त में महती कृपा है तो भी

बाहर से समर-निष्ठुरता-शत्रु संहार के लिये प्राणों की बाजी लगाकर शाणित अस्त्र चलाना, ऐसे परस्पर विरुद्ध धर्म केवल तुम में ही देखे जाते हैं; जगत में जो रोग शोक अत्याचार पीड़ा दुःख दारिद्रय आदि देखे जाते हैं, कनिष्ठ सन्तान उसमें केवल तुम्हारी निष्ठुरता ही देख पाती हैं; किन्तु जो तुम्हारे स्तन्यपान से परिपुष्ट हुए हैं, वे एक साथ तुम्हारे चित्त में कृपा और समर निष्ठुरता देखकर धन्य होते हैं। तुम जो समर निष्ठुरता के कठोर आवरण से अपने को गुप्त रख कर, जीव सन्तानों पर अपार करुणाधारा वर्षाती हो, उसे वे सदा प्रत्यक्ष करते हैं, और सब अवस्थाओं में एकमात्र तुम्हारी कृपारूप निर्मल आनन्द रस पान कर सदा प्रफुल्ल रहते हैं।

त्रैलोक्यमेतदखिलं रिपुनाशनेन
त्रातं त्वया समरमूर्द्धनि तेऽपिहत्वा।
नीतादिवं रिपुगणा भयमप्यपास्त—
मस्माकमुन्मदसुरारिभवन्नमस्ते ॥२२॥

अनुवाद। मा तुमने शत्रु संहार करके तीनों लोक का परित्राण किया, समर क्षेत्र में निहत करके शत्रुओं को स्वर्ग दिया, और हमको भी दुष्ट असुरों के डर से छुड़ाया; मा तुमको प्रणाम।

व्याख्या। मा! जगत के प्रति जीव में इस तरह तीन कार्य पूर्ण करके अपना दयामयी नाम सार्थक किया है। तीनों लोक को शान्ति, असुरों को स्वर्ग प्रदान, और हमारा असुर भय छुड़ाना, यही तुम्हारा कार्य है। तुम्हारी दया का यही तो बाहिरी फल है। हम जो अनेक जन्म से काम क्रोधादि के अत्याचार से-सञ्चित संस्कार रूप असुरों की पीड़ा से पीड़ित होते थे, सो तुमने स्वयं तलवार हाथ में लेकर हमारे

हृदय रूप रणक्षेत्र में अवतीर्ण होकर, उस असुर कुल को निर्मूल कर दिया। हमारे चित्तक्षेत्र में जो असुर भय के प्रबल संस्कार बँध गये थे, जिस भय से सङ्कुचित होकर हम प्राण भरकर तुम्हें मा कहकर पुकार न सकते थे,—समझते थे कि जब तक काम क्रोधादि, चित्त की मलिनता और गृहस्थाश्रम रहेगा तब तक तुमको नहीं याद किया जा सकेगा। आज तुमने सन्तान स्नेह से बाध्य होकर हमारी वह आशङ्का दूर करदी है। प्राण की सङ्कीर्णता दूर हो गई है। सञ्चित कामनाओं के विक्षोभ से उत्पन्न चित्त में आसुरिक चञ्चलता अब नहीं है। जो हमारे मातृ मिलन में बाधायें थीं, जिनमें हमारी वैर बुद्धि बढ़ती जाती थी, आज देखते हैं कि वह भी तुम्हारे स्नेह से सजीव होकर—विशुद्ध होकर, तुम्हारे ही पवित्र अङ्ग में मिलते जाते हैं। तुम्हारी अपार दया के प्रभाव से वे भी आज "दिवं नीताः" स्वर्ग को प्राप्त हुये। जिन्होंने भूरादि तीन लोकों में अत्याचार करके एक दिन अशान्ति पैदा की थी, अब देखते हैं कि वे भी तुम्हारे ही अङ्ग के भूषण हो जाने से, हमारी वह त्रिलोक व्यापी अशान्ति दूर हो गई है। (त्रिलोक का अत्याचार पूर्व व्याख्यात हो चुका है)। तुम जगत की रक्षा करने को तैयार हुई हो—चारों ओर क्रम से उसी का आयोजन हो रहा है। अजी! तुम वाक्य और मन के अतीत—अपरिच्छिन्न हो; तो भी इस तरह प्रति जीव के हृदय में तुम इतने क्षुद्र भाव से अपना प्रकाश करती हो! ओः! तुम्हारी दया, वाक्य और विचार के अतीत है। हमारा और क्या है मा! केवल प्रणाम लो—"नमस्ते नमस्ते नमस्ते"।

शूलेन पाहि नो देवि पाहि खड्गेन चाम्बिके।
घण्टास्वनेन नः पाहि चापज्यानिःस्वनेन च ॥२३॥

प्राच्यां रक्ष प्रतीच्याञ्च चण्डिके रक्ष दक्षिणे।
भ्रामणेनात्म शूलस्य उत्तरस्यां तथेश्वरि ॥२४॥

अनुवाद—हे देवि! शूल, खड्ग, घण्टाध्वनि और धनुष की ज्या (रोदा) ध्वनि द्वारा हमारी रक्षा करो। हे चण्डिके! हे ईश्वरि! अपना आत्म—शूल घुमाकर चारों दिशा से हमारी रक्षा करो।

व्याख्या—शूल, खड्ग, घण्टाध्वनि और धनुष की ज्याध्वनि आदि का आध्यात्मिक रहस्य पहले विस्तारपूर्वक आलोचित हो चुका है। फिर उसका उल्लेख करके ग्रन्थ का कलेवर बढ़ाना आवश्यक नहीं।

देखो—साधक! तुम्हारे चारों ओर भी सर्वत्र मातृ—शक्ति मातृ—आह्वान विद्यमान हैं। विशिष्ट विशिष्ट ज्ञान और नाद—शक्ति ही सर्वत्र विषयाकार से विराजमान हैं। आओ हम भी शक्रादि देवताओं की तरह सरल प्राण से कातर भाव से प्रार्थना करें। मा! शूल, खड्ग, घण्टाध्वनि रोदे की टङ्कार आदि अपने सब अस्त्र शस्त्रों से हमारी रक्षा करो। जिधर देखते हैं, उधर ही घनी जड़ता की दुर्भेद्य मूर्ति दिखाई देती है, इस जड़त्व रूप महाअसुर के हाथ सें हमारा परित्राण करो। एक मात्र प्राणस्वरूपा तुम ही हमारे चारों ओर पूर्ण भाव से विराज रही हो, यह बात हम हजार आलोचना से भी भूल जाते हैं, जड़त्व द्वारा बार-बार पीड़ित होते हैं, उसी के फल से लाखों जन्म मृत्यु की असह्य चक्की में पिसते आये हैं। मा! हमारी इस विपद् से रक्षा करो! जिधर देखें उधर ही जिससे हमारी प्राणस्वरूपिणी मातृ-मूर्ति प्रकाशित हो। फिर जिससे विषय बोध से विषय भोग कर तीन तापों के विष से विदग्ध न होना पड़े। मा! हमारी यह जड़त्व प्रतीति दूर करने में तुम्हें जितनी

तरह की शक्ति प्रयोग करनी पड़े उतनी करो ॥२४॥

सौम्यानि यानि रूपाणि त्रैलोक्ये विचरन्ति ते ।
यानि चात्यर्थघोराणि तैरक्षास्मांस्तथा भुवम् ॥२५॥
खड्ग शूल गदादीनि यानि चास्त्राणि तेऽम्बिके ।
कर पल्लवसङ्गीनि तैरस्मान रक्ष सर्व्वतः ॥२६॥

अनुवाद—मा ! तीनों लोक में तुम्हारे ये अति सौम्य और अति भयानक रूप मौजूद हैं, उन सब के द्वारा हमारी और इस विश्व की रक्षा करो। हे अम्बिके ! खड़ग, शूल, गदा आदि जो अस्त्र तुम्हारे हाथों में विराज रहे हैं, उन अस्त्रों द्वारा हमारी पूर्णभाव से रक्षा करो।

व्याख्या—मा ! इस जगत में दो तरह की मूर्ति से तुम्हारा प्रकाश देखा जाता है। एक सौम्या, दूसरा घोरा। जब पार्थिव वा अपार्थिव सब प्रकार की सुख सामग्री लेकर तुम सौम्य मूर्ति से हमें गोद में लेकर बैठो तब हम सुख के मोह से तुम्हारे स्नेह का स्पर्श न भूल जायें। पार्थिव भोग ऐश्वर्य्य और अपार्थिव सिद्धि शक्ति अथवा स्वर्गादि सुख, जिससे हमें मुग्ध न कर सकें। मा ! सौम्य मूर्ति से इस मुग्धता के हाथ से तुम ही हमारी रक्षा करना। सब तरह के सुख रूप से मानो तुम ही उपस्थित हो, यह बात क्षण भर के लिये भी हमारे अन्तर से अन्तर्हित न हो। फिर जब दुःख दुर्दैव की अमावस की (घोर काली) रात आवे, जब रोग शोक दारिद्र्य कलङ्क और मृत्युभय से पीड़ित हों, तब यह समझ सकें कि मा ! तुम ही घोरा मूर्ति से आकर हमें गोद में ले बैठ रही हो। उस समय तुम्हारी वह भयदायक मूर्ति देखकर हम भीत सन्त्रस्त न हों, दुर्बल न हों, जिससे तुम्हारे अस्तित्व में तुम्हारे मातृत्व में बिन्दुमात्र भी संशय न रहे, कितनी ही घोरा (भयानक) मूर्ति से तुम

आविर्भूत क्यों न हो—प्रकृति कितनी ही प्रतिकूल वेदन लेकर उपस्थित क्यों न हो, तुम यथार्थ ही हमारी मा हो, इसमें तिल-मात्र भी अविश्वास न आवे। मा! यह जीवन चक्र सदा परिवर्तन शील है। इसमें सुख दुःख का परिवर्तन सदा ही होता है और होगा। उसी के भीतर तुम्हारी सौम्या और घोरा मूर्ति का प्रकाश है। इन दोनों मूर्तियों से हमारी रक्षा करो। केवल हमारी ही नहीं—"तथाभुवम्" ये विश्वव्यापी जहाँ जितने जीव हैं, सब की रक्षा करो, मा! सब की ही रक्षा करो। केवल तुम ही सुख दुःख आकार में आती हो, यह प्रति जीव के मर्म मर्म में अङ्कित कर दो। इसी का नाम रक्षा है। किसी अवस्था में जीव अपने को अनाथ निराश्रय मातृहीन न समझे। ऐसा करने के लिये तुम्हें जितने प्रकार के अस्त्र चलाने आवश्यक हों वे सब चलाओ। हे सर्वायुध धारिणी हमारी मा! अपने सब आयुध प्रयोग करके भी हमारी रक्षा करो। "रक्ष सर्व्वत:" सब से रक्षा करो। यह जो सर्व्वभाव, बहुभाव हैं इनसे रक्षा करो। एक मात्र सच्चिदानन्दमयी तुम ही सब भाव से प्रकाशित हो, तुम्हारे सिवाय सर्व या बहु कुछ भी नहीं—इस सत्य पर प्रतिष्ठित-स्थापित करो। हम सब अवस्था में, सत्य के आश्रित, सत्य में स्थित हैं, इस महा ज्ञान रूप से तुम प्रति जीव हृदय में दृढ़ प्रतिष्ठित हो, मा! दृढ़ प्रतिष्ठित हो! जगत से दुःख भय सदा को दूर हो जाय।

ऋषिरुवाच।

एवं स्तुता सुरैर्दिव्यैः कुसुमैर्नन्दनोद्भवैः।
अर्चिता जगतो धात्री तथा गन्धानुलेपनैः ॥२७॥
भक्त्या समस्तैस्त्रिदशैर्दिव्यैर्धूपैस्तु धूपिता।
प्राह प्रसाद सुमुखी समस्तान् प्रणतान् सुरान् ॥२८॥

अनुवाद—ऋषि कहते हैं—देवताओं ने इस तरह जगद्धात्री मा की स्तुति करके, नन्दनवन में उत्पन्न दिव्य पुष्पों से, गन्ध और अनुलेपन द्वारा पूजा की। सब देवताओं ने भक्ति सहित दिव्य धूप द्वारा देवी को सौरभाकुलित कर दिया। अनन्तर प्रसन्न मुखी देवी प्रणत देवताओं से कहने लगीं।

व्याख्या—इन्द्रादि देवताओं ने इस तरह स्तुति करके, गन्ध पुष्प धूपादि द्वारा जगत का विधान करने वाली देवी की पूजा की। आध्यात्मिक दृष्टि से भी देखा जाता है—इन्द्रियाधिष्ठित चैतन्यवर्ग ने आनन्दमय सात्विक भाव रूप नन्दन कुसुम, विवेकानल से ज्ञान कर्मेन्द्रिय दाह से उत्पन्न सुरभि, धूप और श्रद्धा, निर्म्ममता, विराग, सुचिता आदि गन्धानुलेपन द्वारा जगद्धात्री मा की पूजा की। देवी भी ऐसी पूजा से प्रसन्न होकर वर देने को तैयार हुई। यहाँ पूजा के सम्बन्ध में दो एक बात की आलोचना करना अप्रासङ्गिक न होगा।

गीता में कहा है—पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति"। इस देवीमाहात्म्य के भी अनेक स्थानों में पुष्पादि द्वारा पूजा का उल्लेख है। इनके सिवाय सब स्मृति, संहिता, पुराणादि शास्त्रों में पूजा का विधान बहुधा कहा है। परन्तु अन्यत्र कहा है—"बाह्य पूजाधमाधमा" ऐसा उल्लेख भी है। कोई कोई इस उपदेश के अनुसार, सब कर्म काण्ड त्याग कर केवल ध्यान की सहायता से परमात्म साक्षात्कार करने की चेष्टा करते हैं! इस सम्बन्ध में हमें क्या समझना चाहिये ?

हम समझें कि जब तक आहार निद्रा है, जब तक अनुकूल प्रतिकूल बोध है, जब तक छोटे बड़े का ज्ञान है, तब तक तो बाह्य पूजा रहेगी ही। केवल फूल और बेलपत्र छोड़ देने से ही बाह्य पूजा नहीं छूट जाती। परन्तु लक्ष्य रखना चाहिए कि पूजा ऐसी हो जो केवल बाह्य पूजा रूप में ही अवसित न हो। यह

बिलकुल सत्य है कि बाह्य पूजा सचमुच अधम से ही अधम है। श्रुति में भी कहा है—"उपास्य एक जन और उपासक दूसरा जन, ऐसा भेद ज्ञान लेकर जो देव पूजा करते हैं वे देवताओं के पशु हैं"। भगवान् ने स्वयं भी कहा है—"अन्य देवता की पूजा करने से वह अवैध पूजा हो जाती है"। ["परिचाय पुरा देवं देव पूजा परोभव ।' तावत पूजां न मनुते यावन परिचयो न हि"। वि०चं०] भेद ज्ञान लेकर पूजा का नाम ही बाह्य पूजा है। जब तक "बाह्य" कहने से कुछ घन बोध रहे, तब तक यथार्थ पूजा का अधिकार नहीं होता। बाह्य तो कुछ भी नहीं है "सब ही अन्तर में है" इस ज्ञान पर प्रतिष्ठित होने से, फिर बाह्य पूजा नहीं रहती। यह केवल मुख से कहने से नहीं हो जाती—इस जगत को अन्तर समझकर अनुभव करना होता है। केवल वह अन्तर बाहिर भेद ज्ञान दूर कराने ही के लिये सब साधना—आराधना है। स्थूल मूर्ति के सहारे पूजा करने से सहज में अन्तर बाह्य भेद ज्ञान मिट जाता है। ज्ञान भक्ति कर्म्म का एक साथ अनुशीलन करने का इससे अच्छा सहज उपाय और कोई नहीं समझ पड़ता। यदि होता तो ऋषि इस देश में ऐसी मूर्ति पूजा का प्रचार न करते। किन्तु वह दूसरी बात है।

जब तक यह अन्तर बाह्य भेद ज्ञान दूर नहीं होता, तब तक देवता से पहचान नहीं होती, अतएव किसकी पूजा करोगे? "देवे परिचयोनास्ति वद पूजा कथं भवेत् ॥" फिर "जाते परिचये देवे पूजामपि न काङ्क्षति" देवता के साथ परिचय होने से फिर वह पूजा की इच्छा भी नहीं करता। अतएव "उभयोरपि पक्षयोः पूजां पश्यामि दुर्घटां" दोनों पक्ष में ही पूजा असम्भव हो जाती है। पूजा और पूजक रूप भेद ज्ञान लेकर पूजा करने से ही, वह अज्ञान की अधम पूजा होती है। किन्तु हमारा जो प्राण, हमारा जो मैं है उसकी पूजा करते हैं ऐसा

बोध लेकर पूजा करने से वह पूजा कभी व्यर्थ नहीं होती! यद्यपि इस तरह अभेद में भेद ज्ञान लेकर पूजा का आरम्भ करने से, क्रम से भेद ज्ञान शिथिल हो जाता है, पूजा में विघ्न भी होता है, विधिलङ्घन होती है, यद्यपि तब शास्त्रोक्त पूजा का क्रम भी याद नहीं रहता, धूप चढ़ाने के बजाय फूल चढ़ा देते हैं, तथापि वही पूजा का फल है। इसी से 'शास्त्र में कहा है—
"देव एवेति धिया विस्मृते पूजन क्रमे। पूजायां जायते विघ्नः पूर्णपूजा फलंहितत॥"

आजकल भी इस देश के करोड़ों स्त्री पुरुष पूजा करते हैं, वह पूजा निष्फल तो नहीं होती, परन्तु विशेष कुछ उन्नति प्राप्त होते नहीं जान पड़ती। दैनिक कर्तव्य करने की तरह पूजा की भी एक लीक पीट दी जाती हैं; और जो केवल धन के लालच से पूजा का अभिनय करते हैं, उनकी तो बात ही दूसरी है। क्यों ऐसा होता है—क्यों पूजा करके ज्ञान भक्ति नहीं प्राप्त कर सकते? वह परिचय का अभाव है। जिसकी पूजा करनी है, उसको पहचानते नहीं। "वह कौन है? वह तो जानते नहीं, वह कहाँ किस भाव से है? सो भी नहीं जानते, अपना अभ्यास बना रहे, नितान्त इसी के लिये पूजा करते हैं" ऐसा कुछ भाव रहने के कारण ही पूजायें आशानुरूप फल नहीं देती। "पूजा-तत्त्व,' नामक पुस्तक में पूजा विषयक अनेक जानने योग्य विषय विशद भाव से आलोचित हुये हैं।

इस देश की नित्यक्रिया पूजा ही यदि कर्म काण्ड मानो एक मृत कर्म का अनुष्ठान रूप हो गया है। कदाचित फिर इस देश का कर्म काण्ड उज्ज्वल ज्ञान और पराभक्ति के ऊपर प्रतिष्ठित होकर सजीव होने लगे, तो हमारी समझ से देश का यह हा हा कार, अभाव, पीड़ा, सब दूर हो जाय। एक बार धर्म के निर्मल रस का आस्वाद पा लेने से, लोक फिर धर्म्म हीन हो

नहीं सकते। धर्म्म हीन हुये विना सब सुख भी मनुष्यों को सहज ही मिल सकते हैं। यह उत्तरदायित्त्व प्रधानतः ब्राह्मणों के ऊपर ही पूर्णतः निर्भर करता है, क्योंकि ब्राह्मणों में ही प्रत्यक्ष और परोक्षभाव से कर्म्म काण्ड को अभीतक स्थिर देखा जाता है। वे ही इस प्राणहीन अस्थि कङ्काल वाले कर्म्मकाण्ड को प्राण प्रतिष्ठ करके फिर सजीव और सफलतामय कर सकें तो फिर वे आदर्श भूमि पर खड़े होकर, पृथिवी के सब भाइयों को आदर से बुला कर गोद में लेलेंगे, सब ही धर्ममय होंगे, सब ही कर्म्ममय होंगे। फिर सब कर्म्म ही ज्ञानमय हो। ज्ञान फिर परा भक्ति की सुस्निग्ध धारा से मधुमय होंगे। यह विश्वराज्य धर्म्मराज्य में परिणत होगा। असत्य दूर होकर सत्य की प्रतिष्ठा होगी। इसी आशा से सत्य और प्राण प्रतिष्ठा रूप वर अभय हाथ से मा हमारे सामने खड़ी हैं।

यह देखो साधक! देवताओं की पूजा से प्रसन्न होकर मा हमारी वर देने को तैय्यार हुई हैं—"प्राह प्रसाद सुमुखी समस्तान् प्रणतान् सुरान्"। पूजा कर सकने से-प्रणत हो सकने से ही मा प्रसन्न हो रही हैं। यह न समझना कि वे केवल देवताओं की पूजा और प्रणति से ही तृप्त होती हैं, हम जैसे भक्तहीन, श्रद्धाहीन, ज्ञानहीन, दुर्ब्बल, अविश्वासी सन्तान की पूजा प्रणति भी वे बड़े आदर से ग्रहण करती हैं। इस अविश्वासी युग में भी वे प्रकट हैं, वराभय देकर सन्तान का आदर करती हैं? आओ जीव! आओ साधक! आओ मन्त्रहीन, क्रियाहीन हम सब मिलकर, मा कह कर, मा के चरणतले प्रणत हो जायें; निश्चय निश्चय निश्चय ही मा हम पर भी इसी तरह प्रसन्न होंगी।

देव्युवाच।

व्रियतां त्रिदशाः सर्वे यदस्मत्तोऽभि वाञ्छितम्॥२९॥

देवा ऊचुः ।

भगवत्या कृतं सर्व्वं न किञ्चिदवशिष्यते ।
यदयं निहतः शत्रुरस्माकं महिषासुरः ॥३०॥

अनुवाद । देवी ने कहा—हे देवगण ! तुम मुझसे अभीष्ट वर लो । 'ददाम्यहमति प्रीत्या" इत्यादि आधा श्लोक मूल संहिता में नहीं है । देवता बोले—भगवती द्वारा सब कार्य्य पूर्ण होगया, अब कुछ भी शेष नहीं है, क्योंकि हमारा शत्रु महिषासुर निहत हो गया है ।

व्याख्या । ठीक ऐसा ही होता है । मा जब विशिष्ट भाव से आविर्भूत होकर वर देने को तैयार होती है, तब सन्तान कहने लगती है—नहीं मा, कुछ भी नहीं चाहिये । हमें कुछ भी बाकी नहीं है ! कुछ अभाव नहीं हैं । पूर्ण स्वरूपा तुम अविर्भूत हुई हो, अब हमें कुछ नहीं चाहिये, केवल तुम ही रहो—इसी तरह हमारे सामने रहो । हृदय परिपूर्ण हो गया अब कुछ चाह नहीं है सदा तुम ही सामने रहो । अन्तर का अन्तस्तल तलाश करने पर भी तो कुछ अभाव नहीं दीख पड़ता । "न किञ्चित् अवशिष्यते" । कुछ भी तो शेष नहीं है ।

साधक मात्र की यह अवस्था होती है । कितनी ही कामना वासना लेकर मा की पूजा में व्रती क्यों न हों, मा का एक बार दर्शन हो जाने पर फिर कुछ भी मन में चाह नहीं रहती, ऐसा जान पड़ता है कि सब पा लिया, अब क्या चाहूं ? बालक योगी ध्रुव की भी यही अवस्था हुई थी । राज्य कामना से साधना आरम्भ की थी किन्तु जब कमल दल लोचन का साक्षात हुआ, तब बोले—"मैंने काँच ढूंढने में अमृत पा लिया है, प्रभु ! मुझे अब कुछ चाह नहीं है" ।

साधक ! यह न समझिये—ऐसी घटना कदाचित् कभी किसी भाग्यवान मनुष्य के लिये ही हो सकती है। सो बात नहीं—प्रत्येक मनुष्य प्रतिदिन ऐसा भगवत् साान्निध्य प्राप्त और पूर्णता का अनुभव कर सकता है। इसमें असम्भव वा अस्वाभाविकता कुछ नहीं है। अरे, वह तो सर्वदा सर्वत्र सुप्रकट और सुप्रसन्न है! इच्छामात्र से ही देखा पाया जाता है। तो भी जो सुनते हैं कि दीर्घकाल तपस्या के फल से तब कहीं भगवान के दर्शन होते हैं, उसका तात्पर्य दूसरा है। "मैं भगवान को यथार्थ ही चाहूँ" केवल एक इच्छा का जागरण करने के लिये ही दीर्घकाल, दीर्घकाल ही क्यों—अनेक जीवन साधना करना आवश्यक है। यदि किसी में ऐसी इच्छा का आभास भी आ जाय, तो वह अचिर ही अभीष्ट प्राप्त कर सकता है। परन्तु वह दूसरी बात है।

इस मन्त्र का और एक गूढ़ अर्थ है। "भगवत्या कृतं-सर्व्वम् न किञ्चिदवशिष्यते" यहाँ नञ्-पूर्वार्द्ध के साथ अन्वय करने से इसका अर्थ दूसरी तरह का हो जाता है। "भगवत्या कृतं सर्व्वं न, किञ्चित् अवशिष्यते"। मा! तुमने हमारे लिये बहुत किया है किन्तु सब कार्य्य पूरा हुआ नहीं, अभी कुछ शेष है। महिषासुर वध से जीवत्व का सम्पूर्ण अन्त नहीं हुआ। शुम्भ वध आवश्यक है। वह अभी नहीं हुआ, इसी से देवताओं ने कहा—"किञ्चिदवशिष्यते"।

यदि वापि वरोदयस्त्वयास्माकं महेश्वरि।
संस्मृता संस्मृता त्वंनो हिंसेथाः परमापदः॥ ३१॥
यश्चमर्त्यः स्तवैरेभिस्त्वां स्तोष्यत्यमलानने।
तस्य वित्तर्द्धि विभवैर्धन दारादि सम्पदाम्॥
वृद्धयेऽस्मत् प्रसन्ना त्वं भवेथाः सर्वदाम्बिके॥ ३२॥

अनुवाद। हे महेश्वरि ! यदि तुम अवश्य ही हमको वर दोगी, तो ऐसा कीजिये कि जिससे हम निरन्तर तुम्हारा स्मरण कर सकें, और उसी के फल से, हमारी बड़ी आपदायें दूर हो जायें। और जो मनुष्य इस स्तव द्वारा तुम्हारी स्तुति करें, हे अमलानने ! हे अम्बिके ! तुम उन पर सदा प्रसन्न रहो, एवं ज्ञान ऐश्वर्य्य सम्पत्ति धन पुत्रादि विषयक मङ्गल विधान कीजिये।

व्याख्या। सन्तान जब मा को देख पाती है, तब आनन्द और विस्मय में विभोर हो जाती है। चाहने को कुछ खोजने पर भी अवश्य नहीं मिलता, किन्तु मा तो सन्तान का अभाव अभियोग सब ही जान सकती है, उनके सर्व्वदर्शी तीन नेत्रों से कुछ भी कहीं छिपा नहीं रह सकता। इसी से मा ने आप ही वर लेने के लिये सन्तान के हृदय में क्षण भर में पूर्व भूला हुआ अभाव याद लगा दिया। ठीक ऐसा ही होता है। प्रथम दर्शन मात्र से ही साधक का सब अबाध बोध भूल जाता है; क्योंकि, मा हमारी पूर्णतमा है ! उसके बाद जब धीरे-धीरे वह भाव जाता रहता है—एक तरफ़ से मा जब अप्रकट होती है, दूसरी ओर से सब चकित की नाईं अभाव की मूर्ति प्रकट होने लगती है, यह अभाव बोध होने का नाम ही वर मांगना है। मा को सामने रख कर अर्थात् मा के सामने खड़े होने पर यदि अभाव बोध जागे तो समझलो कि शीघ्र ही वह अभाव दूर होगा। मा सन्तान स्नेह पर ऐसी ही मुग्धा है कि मुख से कुछ न कहने पर भी, सन्तान के अन्तर में छिपा हुआ अभाव बोध दूर कर देती है। बिना विचारे ही अभीष्ट वर देकर धन्य करती है। परन्तु हम ऐसे कृतघ्न, ऐसे सङ्कीर्ण हृदय सन्तान हैं कि जो ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर के भी ध्यान में न आने वाली हैं, उन्हें सामने पाकर भी, अति तुच्छ अभाव अभियोग

की सूची तैय्यार कर पेश देते हैं। मा, कब तक हमारे हृदय की यह सङ्कीर्णता सम्यक् दूर होगी ?

आओ साधक हम भी देवताओं की तरह कहें कि हे माहेश्वरि ! तुम हमारी सब परम आपदायें दूर कर दो जिससे हम सदा तुम्हारा स्मरण कर सकें।

"परमापद" शब्द से हम परम की आपद समझलें, अर्थात् हमारे परम स्वरूप में जाग्रत होने के पक्ष में जो बाधक है, वही परमापद है। "हम सदा परमात्म रूप में अवस्थान करें" इस ब्राह्मीस्थिति के प्रतिकूल जो कुछ विघ्न हैं—वे ही परमापद हैं। एक बात में समझ लीजिये कि मा को भूले रहना ही परमापद है। यथार्थ ही हमारे पक्ष में इससे दुर्दैव योग होना और कुछ नहीं है। मा तुम इतने निकट इतनी प्रत्यक्ष हो, तो भी हम तुम्हें भूल कर जगत की धूलि लेकर शान्त होते हैं। हमारे लिये इससे अधिक विपत्ति और क्या हो सकती है ? इसी से प्रार्थना करते हैं मा ! "संस्मृता संस्मृता त्वन्नो हिंसेथाः परमापदः"। जिससे हम बार बार तुम्हारा स्मरण कर सकें, फिर उसी के फल से—हमारे परम स्वरूप के विघ्न रुक जावें।

और एक बात है—यदि सचमुच ही मा ! "अस्मत प्रसन्ना" हमारे ऊपर प्रसन्न हुई हो, तो उस प्रसन्नता का फल इस विश्व में फैल जाय। मा ! तुम्हारा ऐसा हास्यमय अमलानन, ऐसी स्नेहमयी अम्बिका मूर्ति, जगत के सब मनुष्य दर्शन कर धन्य हों ! जगत में साधारण लोग जिसे दुराचार कहते हैं, वे भी स्तव स्तुति की सहायता से तुम्हारी नित्य प्रसन्नता पा सकें। और उसके फल से–धन दारादि रूप भोग और ज्ञानैश्वर्य रूप अपवर्ग पाकर धन्य हो जायें। यद्यपि जीव जगत मर्त्य—मरणशील है, तथापि तुम्हारी ही कृपा से अमरत्व का आस्वाद पावें। मा ! तुम ऐसा करके प्रति जीव हृदय में भोग-मोक्ष

विधायिनी नित्य प्रसन्ना अम्बिका मूर्ति से आविर्भूत हो। जगत से दुःख का रोदन सदा के लिये दूर हो जाय।

अजी! विचार देखो,—तुम्हारी जीव सन्तानें मोक्ष तो दूर की बात है, भोग करना भी नहीं जानतीं। केवल भोग की आशा और सञ्चय करके, हर घड़ी विनाश की चिन्ता और अभाव की पीड़ा से पीड़ित रहती हैं। पर्णकुटीर में रहने वाले, मोटा अन्न खाने वाले, भिक्षुक से लेकर राजमहल निवासी राजभोग से पुष्ट धनी तक सब ही अभाव ग्रस्त हैं। कोई भी पूर्ण प्राण से, सरल हृदय से, विषय भोग से, तृप्त नहीं होता। केवल उपभोग करते जाते हैं—भोग के समीपस्थ मात्र होते हैं। प्राणपात परिश्रम से भोग्य सामग्री इकट्ठी करके ही जीवन व्यतीत करते हैं, भोग करना भी नहीं जानते। इसी से कहते हैं मा! तुम एक बार भोगमयी मूर्ति से दर्शन दो, सन्तान प्राण भरकर एक बार सत्यज्ञान पर मातृ स्नेह रूप विषय भोग कर तृप्त हों, इस विश्व की दारुण क्षुधा की निवृत्ति हो। तब तुम अनायास ज्ञानैश्वर्य समन्वित अपवर्गप्रदायिनी मूर्ति से अपना प्रकाश करके जीवों को अमरत्व का आस्वाद भोग कराओ।

मा! हमारे इस क्षुद्र प्राण में चाहने को कुछ नहीं है! चाहने को कुछ बाकी भी नहीं रक्खा? केवल तुम्हारे चरणों में प्रणत होकर कातर-प्रार्थना करते हैं—"मा! विश्व का मङ्गल हो।"

ऋषिरुवाच।

इति प्रसादिता देवैर्जगतोऽर्थे तथात्मनः।
तथेत्युक्त्वाभद्रकाली बभूवान्तर्हिता नृप ॥३३॥
इत्येतत् कथितं भूप सम्भूता सा यथापुरा।
देवी देव शरीरेभ्यो जगत्त्रय हितैषिणी ॥३४॥

अनुवाद। ऋषि कहते हैं—हे नृप सुरथ देवताओं के द्वारा इस तरह अपने और जगत के लिये देवी को प्रसन्न करने पर जगद्धात्री देवी "तथास्तु" कहकर अन्तर्हित हो गई। हे भूप पूजा के समय देवताओं के शरीर से तीनों लोक को धारण करने वाली देवी जिस तरह आविर्भूत हुई थी, वह तुमसे कहा गया।

व्याख्या। जगत के मङ्गल के लिये अनादि काल से देववृन्द ने इस तरह देवी को प्रसन्न करने के उद्देश्य से अनेक प्रकार की साधना-स्तव स्तुति की थी। जगत का मङ्गल होने से ही देवताओं का अपना मङ्गल सिद्ध होता है। आत्मा ही तो जगदाकार से प्रकाशित होकर सदा तीन तापों का दुःख भोगने का कल्पित अभिनय किया करती है। यह दुःख दूर करने के लिये आत्मा को ही प्रसन्न करना विधेय है। आत्मा मा हमारी नित्य पूर्ण नित्य तृप्ता है! उससे किसी दुःख का संस्पर्श नहीं, यह समझ सकने से ही आत्म प्रीति प्राप्त होती है। और उसी के फल से विश्व का मङ्गल होता है। अस्तु, हम देखते हैं कि देवताओं की चेष्टा से मङ्गलमयी भद्रकाली मा प्रसन्न हुई। देवताओं ने विश्व मङ्गल की प्रार्थना की, तब "तथास्तु" कहकर अन्तर्धान हो गई।

जीव! साधक! यह कल्पना नहीं, उपाख्यान नहीं, यह बिलकुल सत्य घटना है। जिस तरह व्यष्टि में प्रति जीव हृदय में ऐसी घटना होती है, ठीक उसी तरह समष्टि में भी देवता वृन्द जगत के मङ्गल के लिये-मा की प्रसन्नता के लिये इस तरह चेष्टा किया करते हैं। यदि किसी के हृदय में चाहे आज-कल ऐसा संघटन न होता हो परन्तु ऐसा संघटन देखने के लिये प्राण अत्यन्त लालायित हों; तो सरल प्राण से अन्वेषण करो। मा निकट प्रार्थना करो! इस महा सम्मिलन यज्ञ

का सन्धान पाओगे। उस देवलीला में सहचर होकर जीवन को पवित्र करने की चेष्टा करने में हानि ही क्या है ? परन्तु वह दूसरी बात है :—

विज्ञानमय गुरु मेधस् ने यहाँ राजा सुरथ से कहा— हे नृप ! तुमको महामाया की उत्पत्ति कार्य और स्वभाव इत्यादि विवरण सुनने के लिये बड़ा कौतूहल हुआ था पूर्व मधुकैटभ निधन के प्रसङ्ग में उनकी तामसी महाकाली मूर्ति में आविर्भाव प्रत्यक्ष किया था। और इस बार वह महामाया किस तरह देवताओं के शरीर से आविर्भूत होकर राजसी महालक्ष्मी मूर्ति से त्रिजगत का मङ्गल विधान करती हैं, किस रूप में जीव के सञ्चित कर्म-बन्धन काट देती हैं, वह देख लिया, किन्तु अभी शेष हुआ नहीं :—

पुनश्च गौरी देहा समुद्भूता यथाभवत् ।
वधाय दुष्ट दैत्यानां तथा शुम्भ निशुम्भयोः ॥३५॥
रक्षणाय च लोकानां देवानामुपकारिणी ।
तच्छृणुष्व मयाख्यातं यथावत् कथयामि ते ॥३६॥

इति मार्कण्डेय पुराणे सावर्णिके मन्वन्तरे देवी माहात्म्ये शक्रादिस्तुतिः समाप्त ।

अनुवाद। फिर वह महामाया शुम्भ निशुम्भ और अन्यान्य दुष्ट दैत्यों का निधन कर लोक रक्षा और देवताओं के उपकार के लिये जिस तरह गौरी देह से आविर्भूत हुई थी, वह यथार्थ रूप से तुमसे कहता हूँ। तुम उसे चित्त लगाकर सुनो।

मार्कण्डेय पुराणान्तर्गत सावर्णिक मन्वन्तरीय उपाख्याने।
देवी माहात्म्य वर्णने शक्रादिस्तुति समाप्त।

व्याख्या। अब महामाया को गौरी मूर्ति से आविर्भूत होना होगा। अभी जीव का रुद्रग्रन्थि भेद नहीं हुआ, अभी दुष्ट असुर शुम्भ निशुम्भ और उनके सहायक जीवित हैं, अभी देवकुल पूर्ण रूप से निशङ्क नहीं हो सका है। अभी लोक रक्षा वा धर्म्मराज्य पूर्ण प्रतिष्ठित हुआ नहीं, इसी से मा को फिर आना होगा। फिर गौरी रूप से-महेश्वर की गोद में स्थित सौम्या शान्तिमयी मूर्ति से प्रकटित होना होगा। आओ वत्स सुरथ! आओ जीव! मा की वह गौरी मूर्ति देखने के लिये तैयार हो। हृदय-आसन और भी पवित्र, और भी विधौत करो। मा आती हैं, ध्यान रखना उन्हें मलिन आसन पर विराजमान मत करना। देखो, उस भावातीत मा के निर्मल वपु को संस्कार के फटे वस्त्र न पहनाना। धीरे एकाग्रचित से शुभ दिन की प्रतीक्षा करो। सत्य ही मा आती हैं।

मनोमय ग्रन्थि भेद हुआ है—नाम रूप का मोह कट गया है, नाम रूप दर असल मा के सिवाय और कुछ नहीं है. यह अनुभव किया है—समझ सके हो। अतएव नित नूतन आशा, आकाङ्क्षाओं की पीड़ा दूर होगई है—सत्य पर प्रतिष्ठित हुए हो। इस बार प्राणमय ग्रन्थि भी छिन्न होगई, केवल प्राण ही नाम रूप के आकार से आकारित हो रहा है, वह समझ सके हो। प्राण कहने से अब फिर कुछ सङ्कीर्ण अव्यक्त चैतन्य का आभास मात्र बोध नहीं होता। सर्व्व व्यापी मा के प्राण—गुरु के प्राण ही तुम्हारे प्राण रूप से प्रकाशित हैं, इस बार यह अनुभव कर सके हो। तुम्हारा विष्णु ग्रन्थि वा प्राणमय ग्रन्थि भेद होगया। विषय मात्र ही प्राण की मूर्ति हैं, यह देख लिया। अब प्राण कहने से ही विश्वमय चित् सत्ता अनुभव कर सके हो। अतएव नाम रूप के प्रति-विषय के प्रति जो कुछ विशेष ममत्व बोध ... हुआ, वह भी दूर

होगया है अतएव सञ्चित कर्म्म संस्कार अब भुने बीजवत् होने से फिर अङ्कुर उत्पादन वा फल पैदा करने में असमर्थ हुए हैं ! साधक ! तुम इतने दिन में प्राण वा चैतन्य पर प्रतिष्ठित हुए ।

अब हम ज्ञान मय ग्रन्थि के समीपस्थ होंगे। यही जीव महीरुह (वृक्ष) का शेष बन्धन है। मा की कृपा से यह कटे जाने पर ही अज्ञान अन्धकार बिलकुल दूर हो जायगा, जीव का जो यथार्थ स्वरूप है वह प्रकाशित होने लगेगा। सुरथ ! तुम मा कह कर, आत्म समर्पण योग की सहायता से मुक्ति सागर में कूद पड़े हो। दो लहरें तुम्हारे ऊपर होकर चली गई। स्थूल और सूक्ष्म शरीर पर जो तुम्हारा अभिमान था वह दूर होगया। अब सिर्फ एक ही अवशिष्ट रही है। मा की कृपा से वह भी अनायास ही अतिक्रम कर सकोगे और तुम आनन्द पर प्रतिष्ठित होगे। [पुरी में समुद्र की तीन लहरें ऊपर से निकालते हैं]।

आओ साधक ! आओ जीव सब जन मिले हुए कण्ठ से मा का नाम लेकर आगे बढ़ें। जो हमें इस दुर्जेय असुर की पीड़ा से बचा कर, अपने स्नेहमय वक्ष पर धारण कर आनन्द मन्दिर में ले जा रही हैं, उनके चरणों में प्रणत हो, प्रणाम के सिवाय और हमारे पास है ही क्या ! आओ अभिमान का ऊँचा शिर बिलकुल झुका कर बोलें—

"नमो नमस्तेऽस्तु सहस्र कृत्वः पुनश्चभूयोऽपि नमो नमस्ते" ॥

इति साधन-समर वा देवी माहात्म्य व्याख्या के सेंगई डाकघर जलालपुर, ज़िला आगरा निवासी 'श्री शिवनारायण शर्मा' द्वारा हिन्दी अनुवाद का द्वितीय खण्ड विष्णु ग्रन्थि भेद समाप्त ॥

(भक्त की प्रार्थना)

करुणामयी मेरी मा, पागल मुझे बनादे,
मा, मा की रट से हरदम, आँखों से जल बहादे ॥
निर्जन में हो निरत्र में, रोता रहूँ या हँसता,
बातें करूं तुझी से, ऐसा मुझे बनादे ॥
तीनों भुवन से न्यारा, चौथे भुवन में जाकर,
केवल तुझी को देखूं, ऐसा मुझे बनादे ॥
भूखा रहूं या प्यासा, सोता रहूँ या जागा।
मन हो तेरे चरण में, तृष्णा को तू मिटादे ॥
जग की मरीचिका में, घूमे शरीर मेरा।
पर मन रहे चरण में, ऐसा मुझे बनादे ॥
अजपा का जाप मेरा, होने को पूरा जब हो।
"पागल ऐ बच्चे मेरे", कह गोद में उठाले ॥
"आनन्द श्याम" की यह, विनती सुनो ऐ जननी,
रो रो के कह रहा हूँ, करुणामयी हे वरदे ॥

अनुवादक की प्रार्थना !!

हे करुणामयि जगज्जननि मा!

तुम्हारे अपार स्नेह और करुणा के बल से, तुम्हारे मध्यम चरित्र की आध्यात्मिक व्याख्या का हिन्दी भाषानुवाद तुम्हारी ही इच्छा से जीव जगत् के कल्याणार्थ पूर्ण हुआ है। मा! तुम्हारी ही महिमा और मधुरिमा आस्वादन पूर्वक, साधक विश्व-हित में अपने को लगा कर धन्य और कृतार्थ हों। जय आनन्दमयी मा !!

मङ्गलां शोभनां शुद्धां निष्कलां परमां कलाम्।
विश्वेश्वरीं विश्वमातां चण्डिकां प्रणमाम्यहम्॥

प्रथमखण्ड में गीता को मातृ मन्दिर की नींव और चण्डी को महल कहा है। अट्टालिका हमारा स्थूल सूक्ष्म शरीर है। अहङ्कार, माया, मोह, ममता, घृणा, लज्जा, भय क्रोध निन्द्रा इसके चारों ओर की दुर्गन्ध है। साधन क्रम इसका सोपान है महल के शिखर पर स्थित खुले हुए किवाड़ तत्वज्ञान है। सिद्धि वा विभूति उसके भीतर स्थित रत्न राजि है। वाम दक्षिण मार्ग तन्त्र और वेद है। चावी गुरु के दिये हुए बीज मन्त्र हैं, भित्ति की कारीगरी मनुष्य शरीर का निर्माण कौशल है, सदर द्वार मूलाधार है, सर्प रेखा कुल कुण्डलिनी है इसके आगे जो समझना है वह अनुभव सिद्ध होगा।

वैदिक साधक घर के भीतर प्रवेश पटचक्र संस्पर्श किये विना दुर्गन्ध के डर से क्षण भर भी नीचे के तल में खड़े न रहकर घोर विरक्ति की सहायता से-बड़े उद्यम से ऊपर चढ़ते हैं, "तत्त्वमसि" आदि महावाक्य का लक्ष्य जीव ब्रह्म के अभेद ज्ञान तक पहुंचता है, सारा ब्रह्माण्ड ब्रह्म विभूति रूप देखने लगता है। "सर्वं ब्रह्ममयं जगत।"

बुद्धिर्विकुण्ठिता मातः समाप्ता मम युक्तयः।
अन्यत् किञ्चित जानामि त्वमेव शरणं मम ॥



श्री श्री ब्रह्मर्षि सत्यदेव जी महाराज प्रणीत
साधन-समर आश्रम से प्रकाशित अन्यान्य पुस्तकों का
* संक्षिप्त–विवरण *

(१) साधन-समर—प्रथम खण्ड–मधुकैटभ वध ब्रह्मग्रन्थि भेद।
,, —द्वितीय खण्ड–महिषासुर वध वा विष्णु ग्रन्थि भेद।
,, —तृतीय खण्ड–शम्भ निशुम्भ वध वा रुद्र ग्रन्थि भेद।

मूल्य क्रम से ४॥), ४॥), ६) रुपया।

(२) सत्यप्रतिष्ठा—तृतीय संस्करण, मूल्य ॥) आठ आना मात्र। यह पुस्तक साधन मन्दिर की भित्ति (नीम) है। सर्वप्रथम कौन केन्द्र से साधना का सूत्रपात्र करने से सभी सम्प्रदाय की साधनायें अचिरकाल में सफलता मण्डित होती हैं, सो इसमें अति सरल भाषा में वर्णित हुआ है। इसका मूल बंगला और अति उत्कृष्ट इङ्गलिश; हिन्दी और उर्दू भाषा में भी अनुवाद हुआ है।

(३) सत्यालोकम्—श्री श्री शङ्कराचार्य कृत मोह मुद्गर की भांति मधुर छन्दोवद्ध और उनकी सरल सविस्तृत व्याख्या जो समझते हैं—संसार (गृहस्थी) में रह कर काम काञ्चन में विजड़ित होने से परमार्थ लाभ नहीं होता; सो इस छोटी सी पुस्तक को पढ़ें। साधना की सभी बातें प्रायः संक्षेप में इसमें आलोचित हुई हैं। यह भी मूल बंगला तथा हिन्दी अनुवाद में प्राप्त होती है।

मूल्य ।) चार आना

(४) शोकशान्ति—ऐसे लोग संसार में खूब ही कम होंगे, जिन्होंने कोई न कोई शोक का आघात न पाया हो। ऐसे घर खूब ही कम हैं, जो शोकार्तों के करुण क्रन्दन से मुख-रित न हुए हों। जो प्रियजनों के विरह से शोक सन्तप्त हो रहे हैं, इसके पाठ करने से शोक की शान्ति तो होगी ही, यथार्थ शान्ति पाने का असली उपाय क्या है सो भी जान सकेंगे (श्री श्री ब्रह्मर्षि की अज्ञेय शक्ति इसमें से सञ्चरित होती है यह-परीक्षित है)—हृदय तम दूर होगा, सुतरां प्रति घर में इसका रहना उपादेय है। मूल्य हिन्दी, बंगला ॥)

(५) पूजातत्त्व—इस पुस्तक में पूजा का स्वरूप, मूर्त्ति रहस्य, पूजा का रहस्य, घट स्थापन रहस्य, आचमन, आसनशुद्धि, प्राणप्रतिष्ठा प्रभृति विशेप प्रयोजनीय विपयों का सविस्तार वर्णन है। जिन आचमन-आसनादि को साधारण नियम मात्र समझते हैं उन छोटे छोटे कार्यों में भी किस प्रकार साधना के प्राण निहित हैं जिन्हें पाकर साधक धन्य होते हैं। मूल बंगला—हिन्दी अनुवाद हो गया है (प्रकाशित नहीं हो सका है) मूल्य इसका १॥) होगा।

(६) उपासना—इसमें वेद पुराण और तन्त्रादि के कतिपय हृदयग्राही स्तोत्र मन्त्र एवं उनकी सललित यथार्थ रहस्यगर्भित व्याख्या है। यह पुस्तक भी पिपासू साधकों की साधन-सारथी स्वरूप है। सुतरां यह उनकी आदर की वस्तु होगई है। बंगला, हिन्दी—मूल्य ॥) मात्र।

(७) सत्यकथा—इसमें देश की वर्त्तमान शोचनीय अवस्था का प्रतीकार स्वरूप एक अव्यर्थ और सहज उपाय निर्देश किया गया है। प्रत्येक व्यक्ति और मानव जाति

समुदाय जिससे यथार्थ कल्याण प्राप्त करे यही इसका प्रतिपाद्य विषय है।

(८) जीवन लक्ष्य। श्रीमद् विश्वरञ्जन जी ब्रह्मचारी देव द्वारा लिखित। मनुष्य मात्र ही के जीवन का क्या लक्ष्य है, लक्ष्य भ्रष्ट होने में क्या अपकारिता है, एवं किस उपाय से जीवन के यथार्थ लक्ष्य में पहुँचा जाता है, यह इस पुस्तक में वर्णित हुआ है, साधकों के एक साथी स्वरूप है।

मूल्य २) होगा।

(९) देशात्मबोध और श्री श्री देशमातृका पूजा—किस प्रकार मनुष्य देशात्मबोध लाभ कर सकता है, किस उपाय से जन साधारणों में स्वदेश प्रीति अकृत्तिम भाव से प्रस्फुटित हो सकती है, उसका सुनिर्दिष्ट अव्यर्थ उपाय इसमें प्रदर्शित हुआ है।

मूल्य ॥)

(१०) राजगुह्ययोग—यह गीता का नवम अध्याय है, इसमें प्रायः पूरी ही गीता का सार रहस्य आगया है: इसे पढ़ कर अधिकारी साधक कृतकृत्य हो जाता है। कौन से केन्द्र वा स्तर पर की हुई प्रार्थना निष्फल नहीं होती। किस प्रकार भगवान योगक्षेम वहन करते हैं। एक एक श्लोक सारगर्भित व्याख्या से पूर्ण है। पढ़ने मात्र से साधक साधनाऽनुभूति में डूबने लगता है। एक तो गीता सर्वोपरि ग्रन्थ है ही किन्तु यथार्थ तत्त्व प्रकाशित होने से वह किस प्रकार साधकों की प्राणनिधि होगी वाक्य द्वारा कहा नहीं जाता अनुभव गम्य है।

मूल्य २)।

(११) वैदिक युग में ईश्वरोपासना—यह उसी सर्व विख्यात ईशोपनिषद की सरल और सारगर्भित व्याख्या है,

जिसे सब जानते हैं। साधकों की कितनी उपादेय है कहना नहीं होगा, विशेषतः जिनने 'साधन-समर' प्रणेता श्री श्री ब्रह्मर्षि लिखित अन्यान्य पुस्तकें पढ़ी हैं, वह स्वाभाविक ही लालायित होंगे। हिन्दी प्रकाशित होने वाली है।

(१२) योग रहस्य वा पातञ्जल योग दर्शन—भारत में ऐसी हिन्दू सन्तान कोई नहीं होगी जिसने महर्षि पातञ्जल प्रणीत योग दर्शन का नाम न सुना हो। जिस प्रकार हज़ारों वर्ष बीत जाने पर 'साधन-समर' जैसा चण्डीतत्व अब तक किसी साधक वरेण्य ने उद्घाटित नहीं किया। उसी प्रकार पातञ्जल योग दर्शन का भी "योग रहस्य" नामक जैसा भाष्य भी आजतक नहीं हुआ। जिन्होंने ब्रह्मर्षि प्रणीत 'साधन-समर' पढ़ा है वे तो इसका नाम सुनते ही पढ़ने को कौतूहलाक्रान्त होंगे ही, उनको इसका परिचय ही विशेष क्या दें इतना ही यथेष्ट होगा कि उन्हीं परामराध्य ब्रह्मर्षि की लेखनी से अमृत इसमें प्रवाहित हुआ है। सौभाग्य से हिन्दी अनुवाद तो हो गया है किन्तु अभी हम हिन्दी भाषी पिपासुओं की पिपासा शान्त करने में असमर्थ हैं। प्रकाशित करने की प्रबल इच्छा है यदि मङ्गलमयी मा की अनुकूल इच्छा हुई तो यथा सम्भव शीघ्र प्रकाशित होगा। मूल्य ६) होगा।

श्री श्री ब्रह्मर्षि प्रणीत अन्यान्य पुस्तकें भी अभी अप्रकाशित अवस्था में पड़ी हैं। मा ब्रह्ममयी जब सुविधा सुयोग देंगीं आपके सामने आ सकेंगीं।

श्री श्री ब्रह्मर्षि सत्यदेवजी महाराज का प्रतिचित्र बड़ा। मूल्य १) एक रुपया।

श्री श्री ब्रह्मचारी विश्वरञ्जनदेव जी का प्रति चित्र। मूल्य १) एक रुपया।

प्राप्ति स्थान — साधन-समर आश्रम, पोस्ट० लिलुआ,
जिला हवड़ा।

आत्मानुरागी पिपासुओं को एक बात और जता देना उचित होगा कि, सर्व विख्यात दर्शन शास्त्र छः हैं। किन्तु श्री श्री— ब्रह्मर्षिजी ने संस्कृत सूत्राकार में सप्तम "सत्यदर्शन" नामक दर्शन शास्त्र की रचना की है, उनका कहना था कि, "जैसे ज्ञान की सप्त भूमिकायें हैं, दर्शन भी सात ही हैं।" किन्तु हम लोगों के अभाग्यवश न तो वह अब तक प्रकाशित ही हो सका और न श्री श्री ब्रह्मर्षिजी के रहते रहते उसका भाष्य ही हो सका। न मालूम अब मा ब्रह्ममयी इस मानव जगत को कब उस अमूल्य निधि के रहस्योद्घाटनार्थ योग्य अधिकारी देंगीं।

आश्रम की पुस्तकें निम्न स्थानों से प्राप्त हो सकती हैं—

(१) साधन-समर आश्रम लिलुआ, जिला हवड़ा।
(२) साधन-समर कार्य्यालय २०१ मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट, कलकत्ता।
(३) "केशवाश्रम" बेवर जिला मैनपुरी।
(४) शिवनारायण शर्म्मा सेंगई, डाक घर फ़ीरोज़ाबाद, जिला आगरा। ‡

शर्मा बुक डिपो,
पोस्ट—शिकोहाबाद, ज़िला मैंनपुरी।

‡ नोटः—हमारे यहां बंगला भाषा के धार्म्मिक गद्य ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद किया जाता है दक्षिणा जवाबी पत्र द्वारा निश्चय करलें वह ग्रन्थ देख कर बताई जा सकेगी।
(गुरु पूर्णिमा २००२)

मुद्रक—
साहित्यालङ्कार पं० नागेन्द्रनाथ शर्मा, अध्यक्ष,
दी कौरोनेशन प्रेस, ३३६२ शीतलागली, आगरा।

